अनुक्रमणिका

पंडित मदनमोहन मालवीय
विक्रम संवत १९१८–२००३

भूमिका

"पृथ्वीमण्डल पर जो वस्तु मुझको सबसे अधिक प्यारी है, वह धर्म है और वह धर्म सनातनधर्म है"। (श्री मालवीय जी)

श्री पं० मदनमोहन जी मालवीय सनातनधर्म के मूर्तरूप थे। वेदों से, धर्म-शास्त्रों से और परम्पराप्राप्त शिष्टाचार से अनुमोदित जो धर्म है, उसे ही सनातनधर्म कहते हैं। सनातनधर्म के दो अंग हैं—एक दर्शन या अध्यात्म-विचार और दूसरा सदाचार या लोकाचार। संसार के धर्मों में सनातनधर्म एक विलक्षण प्रयोग और उपलब्धि है। संसार का जो उन्नतम तत्त्वज्ञान है और जो महती अध्यात्म-विद्या है और मनुष्य के मन की ध्यान-शक्ति से ब्रह्मतत्त्व और सृष्टि के विषय में जो तत्त्व परिज्ञात हुए उनकी समष्टि सनातनधर्म है। किन्तु मानवीय बुद्धि का प्रकर्ष सनातनधर्म का केवल एक अंग है। उसका दूसरा अंग वह आचार है जो श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम, संहिता, तंत्र आदि संस्कृत ग्रन्थों में तथा उन पर आश्रित देशभाषा के अनेक ग्रन्थों में कहा गया है; अथवा इन ग्रन्थों में अनुक्त होते हुए भी जो सज्जनों से सेवित जाति-धर्म और कुल-धर्मों के रूप में लोकाचार की तरह परम्परा से चला आता है, वह भी सनातनधर्म को मान्य है। इस प्रकार श्रुतियों में प्रदर्शित और युग-युग के सदाचार से सम्मत जो महान् धर्म है, उसे ही सनातनधर्म कहते हैं। सनातनधर्म ऐसा शरीर है जिसके अभ्यन्तर में एक चेतना या प्राण की सत्ता विद्यमान है। उसमें जहां एक और बाह्य शरीर का सत्कार पाया जाता है, वहीं दूसरी ओर धर्म की आन्तरिक भावना उससे भी अधिक मूल्यवान है। सनातनधर्म की यथार्थ परिभाषा और लक्षण बताने में कठिनाई का अनुभव होता है। सनातनधर्म एक प्रकार की मान्यता या आचार तक सीमित नहीं; यह तो अनेक वर्ण, अवान्तर वर्ण, जाति और अन्तर्जातियों में स्वेच्छा से परिपालित आचार और विचार की समष्टि है। यह धर्म सबको स्वीकार करते चलता है। सबके साथ सम्प्रीति और समन्वय सनातनधर्म की विशेषता है। यहां जैसे किसी मत या आचार का निराकरण है ही नहीं। वृक्ष-पूजा, नाग-पूजा, नदी-पूजा, भूमि-पूजा आदि भौमिक मान्यताओं से लेकर वेदान्त प्रतिपादित औपनिषद् पुरुष या श्रुति प्रतिपादित ब्रह्मतत्त्व तक विचारों और आचारों के अनेक स्तर सनातनधर्म के अंग हैं। इस प्रकार के कोट्यनुकोटि मानवों का जो एक शक्तिशाली राष्ट्र है, उसका धर्म—सनातनधर्म है। महामना मालवीय जी भी सनातनधर्म के इसी विराट् समूह का अभिन्न अंग अपने को मानते थे।

यह स्मरणीय है कि लोक में सहस्रों वर्षों से मान्य जीवनक्रम के अनुसार सच्चा सनातनधर्मी वही हो पाता है जो भारतवर्ष को अपनी मातृभूमि स्वीकार करता है एवं जीवन और मरण के लिए जो इसी देश के भवचक्र को

स्वीकार करता है। यह बात चाहे बड़े अक्षरों में कहीं लिखी न मिले तो भी इसके पीछे जो मौन समर्थन है, वह सर्वमान्य है। किसी भी धार्मिक कर्म के समय जो संकल्प पढ़ा जाता है, उसमें इस तथ्य का संकेत मिलता है। वैसे तो जब कभी राष्ट्र या भूमि के सम्बन्ध में कुछ कहने का अवसर आया तो सनातनधर्म के आचार्यों ने उभरे हुए शब्दों में कहा भी है—"माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः" अथर्ववेद, पृथिवी-सूक्त।

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपिगरीयसी।

रामायण।

न भारतसमं वर्षं पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः। पुराण।

इस प्रकार की भावना में एक ऐसा सूक्ष्म रस है जो ऊपर से न दिखाई पड़ने पर भी सनातनधर्म की समस्त ज्ञान और कर्ममयी पद्धति को सींचता रहता है। जीवन के लिए वह अमृत-भूमि है। हम नाम तो धर्म का लेते हैं, पर श्रद्धा का पूरा सम्पुट देश की संस्कृति के लिए अर्पित करते हैं। फलतः सनातनधर्म में धर्म, संस्कृति और मातृभूमि के प्रति श्रद्धा—ये तीनों तत्त्व परस्पर ओतप्रोत हो गये हैं।

महामना मालवीय जी के विचार और कर्मों पर हम ध्यान दें तो उनके पूरे स्वरूप की कुञ्जी ऊपर के सूत्र में मिल जाती है। जो इस देश का विराट् चिंतन है, जो यहां का शिष्टाचार प्रधान महान् कर्म है, जो इस देश की उत्कृष्ट संस्कृति है और नाना भाषाओं, धर्मों और जनों से भरी हुई जनपद और काननों वाली भूमि है, उन सबका प्रतीक, एकान्त निष्ठा, भक्ति और सेवा का मूर्त रूप ही मालवीय जी का व्यक्तित्व था। सनातनधर्म की परिभाषा के अनुसार जड़-चेतन, गुण-दोष इन दोनों के मिलने से विश्व की रचना हुई है। सनातन-धर्म, जिसके प्रतिनिधि व्याख्याता मालवीय जी थे, जहां एक ओर गुणों का स्वागत करता है; वहीं दूसरी ओर जहां जीवन में त्रुटियां हैं, वहां उनके लिए भी अपने को ही उत्तरदायी मानता है। ज्योति और तम जैसे विश्व में हैं, वैसे ही मानव और समाज में भी हैं। 'अंधकार को हटाकर प्रकाश की स्थापना' यही सनातनधर्म का संघर्ष पक्ष है। इसी सूत्र में उसके विकास की कथा है।

सनातनधर्म में पूर्व या पुरातन के साथ प्रीति का भाव है, पर वह नूतन या अर्वाचीन युग का निराकरण नहीं करता। सनातनधर्म के इतिहास की यह अमिट विशेषता है कि उसने अपनी उदय के उषःकाल से आजतक चारों ओर विकास किया है। धर्म, दर्शन, संस्कृति, कला, साहित्य प्रत्येक की कहानी काल-चक्र के परिवर्तन को प्रकट करती है। सनातनधर्म की स्थिति उस हंस के समान है जो सरोवर के मध्य में दूसरा पैर उठाने के लिये पहले पैर को स्थिर रखता है। महामना मालवीय जी के जीवन में यह सत्य अत्यन्त भास्वर रूप में

दिखाई पड़ता है। यदि 'अन्त्यजोद्धार विधिः' सम्बन्धी उनके बड़े लेख को हम देखें तो मालवीय जी के हृदय की अपार करुणा और उदारता प्राचीन उद्धरणों के रूप में गूंजती हुई सुनाई पड़ती है।

मालवीय जी युगपुरुष थे। ज्ञात होता है सहस्रों वर्षों के अनन्तर इस प्रकार का प्रज्ञाशील नेता सनातनधर्म के क्षेत्र में उत्पन्न हुआ। मालवीय जी के रूप में जैसे स्वयं सनातनधर्म ने ही जन्म लिया हो। उनके नेत्रों में एक ओर वेद के ज्ञान की रश्मियां थीं दूसरी ओर रामायण, महाभारत और पुराणों के आचारप्रधान और समन्वयप्रधान आदर्शों का उमंगता हुआ प्रवाह था और इसके साथ सार्वभौम न्याय एवं हितबुद्धि का भी आलोक था—ऐसे थे मालवीय जी—भीतर और बाहर एक समान शुद्ध-मानव मात्र की सेवा में अहर्निश तन, मन, धन से अपने आपको लीन कर देने वाले महामानव।

इस संकलन में जो लेख या भाषण आये हैं, वे तो मालवीय जी रूपी समुद्र की केवल एक बूंद के समान हैं। मालवीय जी ने कितना सोचा, कितना कहा और कितना किया—इसका लेखा-जोखा असम्भव सा है। उन्हीं की प्रेरणा से प्रकाशित 'सनातनधर्म' नामक साप्ताहिक के लिए उन्हें यदा कदा जो लिखना पड़ा, वे लेख मालवीय जी की साहित्य-रचना का स्वल्पांश ही हैं। वे जो कुछ कहते, वह साहित्य ही होता था। प्राचीन ऋषियों के समान अर्थ उनकी वाणी का अनुगामी था। अपने युग के वे अद्वितीय वक्ता थे। यदि आज अध्यात्म और धर्म सम्बन्धी अधिक लेख उपलब्ध नहीं है तो भी विषाद की बात नहीं, क्योंकि इन परिमित लेखों को भी पढ़ने से एक बात स्पष्ट हो जाती है और वह है प्राचीन साहित्य और धर्म में मालवीय जी की अनुपम आस्था। जितनी भागवत है वह पूरी मानो मालवीय जी के ही विचारों को प्रकट करती है। मालवीय जी भागवतमय हो गये थे। भागवत और महाभारत इन दो ग्रन्थों का जन्म भर वे पारायण करते रहे। इनमें सनातनधर्म के जो सशक्त परमाणु हैं उनके स्फुलिंगीय तत्त्वों से मालवीय जी के हृदय का निर्माण हुआ था। गीता, उपनिषद् और वेद इनमें से क्या मालवीय जी को प्रिय नहीं था? वे यह मानते थे कि सनातनधर्म की महती परम्परा में एक ही अध्यात्मतत्त्व की ही अनेक प्रकार से व्याख्या हुई है और काल के सन्ततवाही प्रवाह में ये विभिन्न ग्रन्थ उन्हीं व्याख्याओं को लिए हुए हैं। गोस्वामी जी का रामचरितमानस उसी की एक कड़ी है। भारतीय धर्म और दर्शन का प्राचीन प्रवाह बहता हुआ मानों गोसाईं जी की कृपा से हिन्दी रामायण रूपी मानसरोवर में सबके लिये सुलभ हो गया है। "सबहि सुलभ सब दिन सब देसा" यह पंक्ति जैसे इस ग्रन्थ पर ही घटित हो रही है।

मालवीय जी के जो कुछ भाषण या लेख यहां संगृहीत हो सके हैं, वे उनके भीतर तपते हुए सूर्य की कुछ ज्योति प्रकाशित करने के लिये पर्याप्त है। उनके

दीर्घप्रज्ञ व्यक्तित्व की भणिति ही यह श्लोक है जो उन्हें अतिप्रिय था और जिसे कहते हुए वे नहीं अघाते थे—

न त्वहं कामये राज्यं
न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां
प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

'मुझे पृथ्वी का समृद्ध राज्य नहीं चाहिए और मुझे मोक्ष भी नहीं चाहिए। मेरी तो यही उत्कट कामना है कि दुखों से तपाये हुए प्राणियों का कष्ट दूर करूँ।' अपनी महायात्रा से लगभग एक सप्ताह पूर्व ही उन्होंने अपने अन्तरंग साथियों से कहा था, "मुझे मृत्यु के समय काशी में मत ले जाना, मैं अभी मुक्ति नहीं चाहता। मेरी इच्छा है कि एक और जन्म में मानवों की सेवा अभी करूँ"। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि हिन्दू विश्वविद्यालय मालवीय जी की सबसे बड़ी कृति है। किन्तु स्वयं मालवीय जी ऐसा नहीं मानते थे। उन्हें भारतीय संस्कृति और भारतीय महाप्रजा सबसे अधिक प्रिय थीं जिनके लिये वे सौ हिन्दू विश्वविद्यालयों को भी त्याग सकते थे। ऐसा उन्होंने एक बार स्पष्ट कहा भी था। हिन्दू विश्वविद्यालय मालवीय जी की उत्कृष्ट रचना है। मालवीय जी के महान् सङ्कल्पों का मूर्त रूप है, किन्तु इसकी स्थापना इसलिए हुई कि यह देश, संस्कृति और प्रजाओं की सेवा का एक साधन बने। कोई भी व्यक्ति जो इस विश्वविद्यालय से सम्बन्धित है, वह उस आदर्श पर चल कर ही मालवीय जी के ब्राह्म मन के समीप पहुँच सकता है, अन्यथा ज्ञान का व्यापार करने वाले तो बहुत हैं।

मालवीय जी ने जिन उच्च श्लोकों की रचना की थी या सकलन किया था, वे 'धर्मसंस्थापना' शीर्षक के अन्तर्गत एकत्र किए गए हैं। उनमें उनकी उदार दृष्टि प्रकट है। "यह भारतवर्ष जो हिन्दुस्तान के नाम से प्रसिद्ध है, बड़ा पवित्र देश है। धन, धर्म और ज्ञान का देने वाला यह देश सब देशों से उत्तम है। देश की उन्नति के कामों मे जो पारसी, मुसलमान, यहूदी देशभक्त हों उनके साथ भी मिलकर काम करना चाहिए।" मालवीय जी ऐसे काल में हुए (१८६१–१९४६) जब देश, जाति और धर्म पर बहुत बड़ा सङ्कट था। उन्होंने उसके निवारण के लिए अपने कर्म की पूरी शक्ति लगा दी। इसके लिये उन्होंने प्राचीन ऋषियों का तपोमय जीवन और व्रत ग्रहण किया। उन्होंने ब्राह्मणों के उच्च विचारों के साथ-साथ अपने लिए आकिंचन्य का व्रत भी स्वीकार कर लिया था। उनका व्यक्तिगत जीवन सब तरह से बारहवानी कंचन बन गया। जिन्हें उन्हें देखने का सौभाग्य मिला हो, वे उनकी अपूर्व कान्ति और शान्ति का स्मरण करेंगे। उनमें सेवा की अटूट इच्छा थी और

अपना पूरा समय और शक्ति को उन्होंने सेवा कार्य में अर्पित कर रक्खा था। सनातनधर्म की जो लोक प्रसिद्ध परिभाषा है, उसके अनुसार हिन्दू वह है जो गंगा, गऊ, गायत्री का भक्त हो। मालवीय जी ने इन तीनों की सेवा का व्रत निभाया। निगमागम सम्मत धर्म का प्रतीक गायत्री है। गंगा कोट्यनुकोटि लोगों की धर्मनिष्ठा का मूर्त रूप है, मानों सनातनधर्म की धारा ही गंगा के रूप में भूतल पर बह रही है। गावों में और नगरों में रहने वाली जो साधारण जनता है, उसके लिए गंगा ही धर्म है। इस सूत्र का तीसरा अंग गऊ की भक्ति है। तर्क से सोचा जाय तो कह सकते हैं कि गऊ की रक्षा का प्रश्न आर्थिक है, उसका धर्म से क्या सम्बन्ध ? पर हिन्दू धर्म में गऊ का जो स्थान है, उसे समझने के लिये हिन्दू-धर्म की ही आँख से देखना होगा। जैसे गांधी जी कहा करते थे "गाय को देखना चाहते हो तो मेरी आँख से देखो।" यही मालवीय जी की स्थिति थी और यही प्रत्येक हिन्दू की स्थिति है। यहाँ गाय केवल पशु नहीं, वह तो माता है। उसके शरीर में सब देवों का वासा है। उसके दूध में अमृत है। वह घास खाकर दूध जैसा रसायन देती है। उसके बछड़े हलधर किसानों के साथी हैं जो भूमि को अन्न के मोतियों से भर देते हैं। ऐसी जिसकी महिमा हो उस गऊ के लिये जो कुछ किया जाय कम है और उसकी प्रशंसा में जितना कहा जाय अपर्याप्त है। हिन्दू-धर्म की दृष्टि से देश का हित, जनता का हित—इन दोनों का पर्याय गऊ है। गऊ और उसका दूध साक्षात् ईश्वर हैं। वेदों के अनुसार हर एक वस्तु के उपकार की मात्रा है, पर गऊ से जितना हित होता है उसकी माप नहीं है—

गोस्तु मात्रा न विद्यते [यजुर्वेद]

मालवीय जी के गोरक्षा संबंधी विचार इसी मान्यता से उत्पन्न हुए थे। उनकी निजी दृष्टि मे और उनके सब कार्यों में उनके गो-रक्षा संबंधी प्रयत्न उनके हृदय के निकटतम थे। जब विश्वविद्यालय अपने पैरों पर खड़ा होकर चलने लगा था तब भी गऊ की चिन्ता उनके मन में बनी थी। यदि भारतभूमि पर गऊ का वंश न बढ़ा तो महाशोक होगा। गऊ के बिना भारतीय प्रजाओं के वंश की क्या गति होगी, कोई नहीं कह सकता। प्राचीन निष्ठा को लेकर अर्वाचीन विज्ञान की पूरी सहायता से गोवंश और दुग्ध के उत्पादन की उन्नति, यह मालवीय जी के हाथ की लिखी हुई हुण्डी है जिसे हम सबको सकारना है।

संस्कृत भाषा का 'धर्म' शब्द अत्यन्त उदात्त अर्थ रखता है। संस्कृत भाषा में अर्थ ग्रथित शब्द बनाने की अद्भुत क्षमता रही है; किन्तु उसका भी जैसा उत्कृष्ट उदाहरण धर्म शब्द में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं। भारतवर्ष में जो कुछ सशक्त निर्माण कार्य युग-युग के भीतर से उत्पन्न हुआ है, उस सबका मथा हुआ नवनीत 'धर्म' इस एक शब्द में समा गया है। हिन्दू मात्र के हृदय में यह शब्द अंकित है। आज जिसे हम संस्कृति कहते हैं, वही तो

धर्म है। अपने 'सनातनधर्म' शीर्षक लेख में मालवीय जी ने पहले ही श्लोक में 'धर्म' शब्द की यह व्यापक परिभाषा दी है जो इस देश में सदा से मान्य रही है। इस परिभाषा के दो सूत्र हैं—एक यह कि धर्म पूरे जगत् की टेक है (धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा) और दूसरी यह कि धर्म ही प्रजाओं के जीवन में सर्वोपरि तत्त्व है (तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति)। इसे ही दूसरे प्रकार से यों भी कहा है कि जो तत्त्व मनुष्य के, समाज के, राष्ट्र के और विश्व के जीवन को धारण करता है, वही धर्म है (धारणाद् धर्ममित्याहु धर्मो धारयति प्रजाः)। धारणात्मक नियमों का समादर ही धर्म है। व्यास की यही परिभाषा मालवीय जी को मान्य थी और वस्तुतः 'सनातनधर्म' इस नाम के पीछे भी यही अर्थ अभिप्रेत है। हिन्दू-धर्म के अनुसार पन्थ, मत या सम्प्रदाय पृथक् हैं। क्योंकि धर्म शब्द का वह भी एक सीमित अर्थ है, इसलिए तत्त्वज्ञान की आधार भित्ति और संस्कृति परक जो धर्म का स्वरूप है, उसके प्रति मन में उद्वेग लाना उचित नहीं। भागवत में जो तीस लक्षणों वाला धर्म बताया गया है और मनु ने जिसे दस लक्षणों वाला धर्म कहा है, वही तो मनुष्य मात्र के लिए सर्व-सामान्य सनातनधर्म है—

सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम् ।

मालवीय जी जिस धर्म के मानने वाले थे, उसका मूल ईश्वर है। हिन्दू-धर्म के सब शास्त्र इसी मूल भित्ति पर खड़े हैं। ईश्वर आनन्दमय है। उसका दर्शन विलक्षण रसानुभूति है। ईश्वर की सिद्धि के लिये तर्क का आश्रय वृथा प्रयास है।

व्यापक एक ब्रह्म अविनासी । सत चेतन घन आनँदरासी ॥

इस प्रकार की जो सत्ता है, वह स्वयं सिद्ध है; उसके लिये तर्क आवश्यक नहीं। सनातनधर्म की दृष्टि से ईश्वर के लिये श्रुति-स्मृतियों का प्रमाण और आप्तों के वाक्य ही पर्याप्त हैं। तरंगित मन से श्रद्धापूर्वक ईश्वर के गुणों का वर्णन ही किया जा सकता है। यही शैली मालवीय जी के 'ईश्वर' लेख में पायी जाती है। जैसे उपनिषत् प्रमाण में उन्होंने लिखा है—"ईश्वर को कोई आँखों से नहीं देख सकता, किन्तु तप से व्यापक मन को पवित्र कर विमल बुद्धि से ईश्वर को देख सकता है।" इस विश्व में और मनुष्य के जीवन में ऐसा कुछ भी नहीं जो ईश्वर की सत्ता, ईश्वर की विभूति और उसके आनन्द से व्याप्त न हो। ईश्वर की अद्वितीय सत्ता को, जिसे ब्रह्म भी कहा गया है, स्वीकार करते हुए सनातनधर्म की दूसरी विशेषता त्रिदेवों की कल्पना है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ये तीनों सृष्टि, पालन और संहार की शक्तियाँ हैं, जो एक ही मूल शक्ति के त्रेधा विभाग हैं। परमात्मा में जो एक अद्वैत तत्त्व है, वही विश्वगत व्यवहार के लिये तीन रूपों में प्रकट हो रहा है। इनके एकत्व की आस्था परमार्थ है, भेद की कल्पना व्यव-

द्वार है। इन तीनों मे कोई छोटा-बड़ा नहीं है। जिन्हें पुराणों में उपासना के लिये तीन देव कहते हैं, वे ही दर्शन की परिभाषा में विश्व के तारतम्य की व्याख्या करने के लिये सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण कहलाते हैं। वेदों ने उन्हें ही अव्यक्त, अक्षर और क्षर पुरुष कहा गया है। इस प्रकार त्रिकवाद सनातनधर्म और भारतीय तत्त्वज्ञान की दृढ़ नींव है। इसी मान्यता से सब देवों और देवियों का विकास हुआ है। यदि एक बार त्रिक के इस मूलरूप का अर्थ जान लिया जाय तो सनातनधर्म को समझने मे कठिनाई नहीं होगी। मालवीय जी ने अपने 'ईश्वर' शीर्षक लेख में अनेक प्रमाणों से एक ब्रह्म और उसके तीन रूपों का बहुत ही रसपूर्ण विवेचन किया है।

उनकी दृष्टि मे ईश्वर-दर्शन के दो रूप हैं। एक अपने अंतःकरण मे जिसे गीता मे 'हृद्देश' कहा है। यह 'हृद्देश' प्रत्येक मनुष्य के निजी व्यक्तित्व का मूलभूत केन्द्र है जो किसी स्थान विशेष या अवयव विशेष मे नहीं है; किन्तु जो अव्यक्त होते हुए भी हमारे भीतर ही है। यही समस्त प्रेरणाओं का स्रोत है। ईश्वर का दूसरा रूप बाह्य विश्व मे और मनुष्यों मे व्याप्त है। यह अपने-अपने दृष्टिकोण पर निर्भर है। कोई उसे भीतर ढूँढ़ते हैं, कोई बाहर। किन्तु सनातनधर्म की दृष्टि से सत्य यह है कि वही एक ज्योतिर्मय तत्त्व भीतर भी है और बाहर भी। जब इस प्रकार की प्रतीति जीवन का अंग बन जाती है, तब मनुष्य आत्मसेवा और परसेवा मे भेद नहीं देखता और करुणात्मक कर्म की भावना से सबके सुख और सबके कल्याण की कामना करने लगता है। यही तो मालवीय जी के जीवन मे धर्म और ईश्वर की प्रत्यक्ष सिद्ध अनुभूति थी।

'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्,' 'भगवान् कृष्ण की महिमा', 'कृष्णः शरणः सताम्' तथा 'भगवान् श्री कृष्ण के जीवन के कुछ उपदेश'—इन लेखों मे मालवीय जी ने कृष्ण के सम्बन्ध में अपनी भक्ति को उँड़ेल दिया है। सनातनधर्म की दृष्टि से भगवान्, परमात्मा, अव्यय, अद्वैततत्त्व और कृष्ण—ये पर्यायवाची शब्द हैं। शब्दों मे भेद हैं, अर्थों मे गूढ़ एकता है। और इतने ही नाम क्यों, यह सूची सहस्रों अन्य नामों तक पहुँचती है। और एक ही भाषा क्यों, जितनी भाषायें हैं उनमे जितने ईश्वर के नाम हैं, सनातनधर्म सबको स्वीकार करता है। यही इस धर्म की महती विजय है और इससे मतभेद सम्भव नहीं। राम और कृष्ण एक ओर परब्रह्म के वाचक हैं और दूसरी ओर नर रूप मे नारायण के अवतार हैं जो अपने चरित्रों से मानव के लिए आदर्श स्थापित करते हैं। कृष्ण के विषय में तो भागवतों का दृष्टिकोण और भी विलक्षण है। विश्व मे जो सनातन बालभाव है, उसके प्रतीक कृष्ण हैं। वस्तुतः सृष्टि रचना की दृष्टि से इस प्रकार के बालभाव की लीलाओं की उपासना मानव के लिए आवश्यक है। वेद की दृष्टि से यह विश्व अग्नि-सोमात्मक है। अग्नि और सोम—ये ही प्रत्येक रचना के दो मूल तत्त्व हैं। इन्हीं दोनों की संयुक्त सत्ता अर्धनारीश्वर शिव है।

यही कारण है कि भागवत का सबसे रसमय अंश कृष्ण की बाललीला का गान है और उसके प्रवक्ता भी बालभाव से युक्त महाभागवत शुकदेव हैं। कृष्ण की बाललीलाओं में भी, जिनका गान करते हुए मालवीय जी कभी नहीं अघाते थे, लीलातत्त्व का ही दर्शन करना चाहिये। लीला और मानवीय इतिहास की घटना में अन्तर है। घटना देशकाल से विजडित होती है, लीला नित्य है। घटना मर्त्य और लीला अमृत है। इस प्रकार कई युगों के भागवत आन्दोलन ने भगवान् कृष्ण के बालभाव की जिन लीलाओं का प्रतिपादन किया है, उस लीलातत्त्व को मालवीय जी के समान समस्त हिन्दू नर-नारी हृदय से मानते हैं। पूतना वध, यमलार्जुन, तृणावर्त, धेनुकासुर, केशी, कालियमर्दन, दावानल-आचमन, गोवर्धन-धारण आदि लीलाओं में इतिहास की घटनाओं का अन्वेषण बालिश बुद्धि ही कर सकती है। भागवतीय दृष्टि से इनमें सृष्टि के तत्त्वों की ही व्याख्या है। उनके प्रतीकों को ठीक-ठीक समझ लेना, यही सनातनधर्म का ऊँचा धरातल है। और न केवल कृष्ण-चरित्र बल्कि समस्त पुराण साहित्य और वैदिक साहित्य इसी प्रकार के गूढ़ साँचे मे ढाला गया है। वहाँ शब्दों की बाह्यराशि के पीछे अर्थों की जो छिपी हुई सरस्वती है, वही धर्मतत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। देव और असुरों का संघर्ष—यही सृष्टि का मूल तारतम्य है। राम और कृष्ण देव तत्त्व के प्रतीक हैं। असुरों का पराभव उनका शाश्वत ईश्वरतत्त्व है। मालवीय जी के लिये राम-कृष्ण दोनों एक ही ईश्वर के दो रूप थे। यह सयोग ही है कि राम के सम्बन्ध मे उनका कोई अलग लेख उपलब्ध नहीं है किन्तु वे जिस सनातनधर्म के भक्त थे, उसमें जो कृष्ण हैं, वही राम हैं।

जिस अद्वैत सनातन तत्त्व को राम और कृष्ण कहते हैं, वही महादेव है। भगवान् शिव के विषय मे सनातनधर्म की जो आस्था और दृष्टिकोण है, वह 'महादेव माहात्म्य' लेख में प्रकट है। भागवत धर्म की समन्वयात्मक दृष्टि मे शिव और विष्णु एक ही देवतत्त्व की दो सञ्ज्ञायें हैं। उस युग मे माहेश्वर और पचरात्र वैष्णव—दो सम्प्रदाय मुख्य थे। माहेश्वर या पाशुपत शिव के उपासक और पचरात्र वैष्णव विष्णु के उपासक थे, किन्तु दोनों नीर-क्षीर की भाति एक दूसरे से मिले हुए थे। इस समन्वय और सम्प्रीति का सबसे सुन्दर उदाहरण विक्रम की पहली सहस्राब्दी में कालिदास और दूसरी सहस्राब्दी मे तुलसीदास हैं। समन्वय की भागवतीय दृष्टि ही हमारी सम्पूर्ण राष्ट्र की दृष्टि बन गई है। न केवल धर्म के क्षेत्र में बल्कि राष्ट्रों के विरोधी विचारों के बीच में भी भारतवर्ष के लिए समन्वय का दृष्टिकोण अपनाना सरल है, क्योंकि समवाय, समन्वय और सम्प्रीति—यही भारत के सांस्कृतिक मथन की सबसे ऊँची उपलब्धि है। मालवीय जी ने इस लेख की सामग्री महाभारत के अनुशासनपर्व से ली है। लेख की भूमिका विचित्र है। उसमें कहा गया है कि भगवान् कृष्ण ने एक सहस्रवर्ष तक हिमालय में तप किया और उससे चराचर के देव शिव को प्रसन्न किया तथा भगवान् शिव के भक्त उपमन्यु से शिव की महिमा का श्रवण किया।

इसी प्रकरण का एक अंश वह है जिसमें तण्डी मुनि द्वारा शिव के सहस्रनामों का परिगणन है। यहाँ सनातनधर्म की दृष्टि से दो तत्त्व ध्यान देने योग्य हैं—एक महादेव के रुद्र तत्त्व की व्याख्या और दूसरा सहस्र नामों की साहित्यिक शैली की कल्पना। महाकवि कालिदास ने लिखा है—'न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः'—अर्थात् भगवान् शंकर के रूप की यथार्थ व्याख्या दुष्कर है एवं 'न विश्वमूर्तेरवधार्यतेवपुः', अर्थात् विश्व ही जिनका रूप है, ऐसे भगवान् महादेव के विषय मे इदमित्थं कहना अशक्य है। वेद वार-वार उपदेश देते हैं कि जो सृष्टि का मूल कारण अग्नि है, वही रुद्र या शिव है। जो देवादिदेव इन्द्र है, वही महान् देव शिव है। 'अग्निर्वैरुद्रः' इस प्रकार की घोषणा ब्राह्मण ग्रन्थों मे वार-वार पाई जाती है।

यह जो आकाश में नित्य उदित होने वाला भास्वर सूर्य है, वही अग्नि, इन्द्र और महान् देव रुद्र है। उसी की किरणें भगवान् शंकर की जटायें हैं जिनके कारण सूर्य केशी और शिव कपर्दी कहे जाते हैं। शिव के मस्तक पर जो चन्द्रमा है, वह सोमात्मक मन है, जो अमृत का रूप है। मन की ज्योतिष्मती समाधि ही अमृत की प्राप्ति है। योग द्वारा शिव का मन समाधिवश्य हो गया है। उन्होंने इन्द्रियों के नव द्वारों की विषय वृत्तियों को जीत लिया है। यही उनका विषपान कर लेने पर अमृत स्वरूप है। मृत्यु की विजय—यह शिव का सबसे महान् पराक्रम है। भूत, तम, असुर, मृत्यु, विष, सर्प—ये पर्यायवाची हैं। भगवान् शिव ने इन सब को अपने वश मे किया है। प्राण तत्त्व की संज्ञा अमृत और भूत की संज्ञा मृत्यु है। शिव भूतों के अधिपति हैं। जितने प्रमथ या विकार हैं, वे उनके वश मे हैं। प्रमथ या गण चंचल होते हैं, किन्तु उनके अधिष्ठाता शिव स्थाणु या स्थिर हैं। उपनिषदों में प्राण को रुद्र या शिव ही कहा है। एकादश प्राण ही एकादश रुद्र हैं। रुद्र के शरीर पर जो विभूति है वह यही पंचतत्त्वात्मक देह है। यह पंचभूतों से बनी है। प्राण के बिना यह चिताभस्म है, किन्तु शिव के सान्निध्य से यह भस्म अत्यन्त पावन समझी जाती है। शिव के मस्तक पर उनकी जटाओं मे जो गंगा की धारा है, वही तो विश्वात्मक प्राण की महती धारा है जो स्वर्ग से पृथ्वी पर आ रही है। इसके जल का प्रोक्षण पाकर मानव-शरीर की मुट्ठी भर भस्म पुनः स्वर्गीय बन जाती है। जिसमें गम्-गम्-गम् या गति है, वही प्राण है, वही अमृत है। वही अमृत शिव के पास है अथवा अमृत ही शिव है। शिव महाकाल हैं।

प्राचीन वैदिक दर्शन में कालतत्त्व को सृष्टि का मूल माना है। काल के दो रूप हैं—एक निरपेक्ष और दूसरा सापेक्ष। निरपेक्ष काल को महाकाल कहते हैं और सापेक्ष काल को कुटिल काल कहते हैं। महाकाल अमृत और सापेक्ष काल मृत्यु है। अमृत-मृत, सत्-असत्—दोनों शिव के स्वरूप मे एक साथ विद्यमान हैं। आग्नेय शिव या रुद्र के पुत्र स्कन्द हैं और उनके सोमात्मक

वपु के प्रतिनिधि गणपति हैं। भागवत धर्म मे अग्निरूपी सूर्य के प्रतिनिधि राम हैं और सोम के कृष्ण। वेदों मे सृष्टि के मूल कारण सोम के समुद्र को गो स्थान या गोष्ठ भी कहा है। जो गोष्ठ है, वही व्रज है। सब प्रकार की गतियाँ वहीं से जन्म लेती हैं और गति की संज्ञा ही गऊ है। अतएव सोम के प्रतिनिधि कृष्ण का जीवन गऊ और गोपमय है। समस्त गौवों के गोप स्वयं कृष्ण हैं। वैदिक मान्यता के आधार पर अग्नि पिता और सोम माता हैं। इसी कारण सोमात्मा कृष्ण के जीवन के साथ गोपियों का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है। इन तथ्यों को लेकर भागवतों ने सोम प्रधान धर्म के प्रतीक रूप में गऊ, गोपी और गोपाल इनकी लीलाओं का रसमय वर्णन किया है। यहाँ लीला तत्त्व पर भी विचार करना आवश्यक है।

ईश्वर या किसी आद्यशक्ति के मन मे सृष्टि की प्रेरणा क्यों हुई ? यह प्रश्न धर्म और विज्ञान दोनों मे उत्पन्न होता है। इसके अनेक उत्तर दिये जा सक्ते हैं। किन्तु इसका जो सबसे सहज उत्तर है वह यही कि विश्व भगवान् की वैसी ही लीला है जैसी बालक की क्रीड़ा होती है। क्रीड़ा के लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—एक हार्दिकता दूसरा निःसंगता या वैराग्य। एक ही साथ इन दोनों की विद्यमानता आवश्यक है। जो व्यक्ति क्रीड़ा करता है वह अपने हृदय की पूरी शक्ति लगाता है और साथ ही उसमे लिप्त नहीं होता, नहीं तो वह प्रवृत्ति क्रीड़ा नहीं रहेगी। क्रीड़ा का ही दूसरा नाम लीला है। हार्दिकता और वैराग्य या निःसंग भाव—इन दोनों की सत्ता यदि कहीं सम्भव है तो ईश्वर मे या ईश्वर के प्रतिरूप बालक में—शुकदेव सदृश उन वीतराग पुरुषों में जो वयस्क होने पर भी बाल भाव से ओतप्रोत रहते हैं।

शिव के मस्तक मे चन्द्रमा और कण्ठ मे विष है। 'चन्द्रमा मनसो जातः', इस सूत्र के अनुसार चन्द्रमा मन, चैतन्य या अमृत का प्रतीक है और कण्ठ आकाशादि पंचभूतों का। पंचभूतों में विष और मनस् तत्त्व में अमृत का निवास माना जाता है। प्राण इन दोनों के बीच मे हैं। जब वह मन के साथ जुड़ता है तो अमृतात्मा बन जाता है और जब भूतों के साथ मिलता है तब मृत्यु का अनुगामी बन जाता है। भगवान् शिव नटराज कहे गये हैं। वैदिक मान्यता के अनुसार यह सारा विश्व ही देवों के नर्तन से उत्पन्न होता होता है और स्थिति एवं संहार को प्राप्त होता है। ऋग्वेद में कहा है कि विश्व की शक्तियों के अभिमानी देव पहले समुद्र में छिपे हुए थे। वहाँ उनमे हलचल हुई और उन्होंने नृत्य किया। उस नृत्य से जो तीव्र धूलि उठ खड़ी हुई, वही तो यह पार्थिव विश्व है —

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्ररेणुरजायत॥

ऋग्वेद, १०।७२।६।

ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में इन्द्र को 'नृतु' अर्थात् नटराज कहा गया है—नह्यंग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे, अर्थात् हे इन्द्र ! हे नटेश्वर ! तुम्हारे अतिरिक्त और किसी को मैं कल्याणकारी नहीं देखता। वस्तुतः जो नृत्य है, वही विश्व के विकास का छन्द है। वही स्पन्दन, जागरण या क्षोभण है। उसे ही विश्वकर्मा का संधमन कहते हैं। वही प्राणन और अपानन है। उसी से समंचन और प्रसारण, संकोच और विकास की क्रियायें होती हैं। इस समस्त विश्व के प्रत्येक परमाणु में और दूसरे नक्षत्रों में प्रजापति ने इसी विराट् स्पन्दन या नृत्य के द्वारा सृष्टि की है। यही भगवान् शंकर का ताण्डव है। ताण्डव विद्या के रहस्य को जानने वाले तण्डी मुनि ने शिव के सहस्रनामों का उपदेश किया था जिसे मालवीय जी ने अनुशासनपर्व से यहाँ अनुवाद सहित दिया है।

सहस्रनामों की साहित्यक शैली संस्कृत की अपनी विशेषता है। यहाँ कोई प्रमुख देव ऐसा नहीं जिसके लिए सहस्रनामों की कल्पना न की गई हो। वस्तुतः वैदिक परिभाषा के अनुसार देव के अपरिमित भाव को सहस्र और मनुष्य के परिमित भाव को शत कहते हैं। मनुष्य शतायु और देव सहस्रायु होते हैं। प्रजापति स्वयं सहस्रायु थे और उनका यह विश्व यज्ञ सहस्र संवत्सरात्मक है। इसी आधार पर देवों के लिए सहस्रनामों की कल्पना हुई। दिव्यभाव को ही सहस्रभाव कहते हैं। बुद्ध ने कश्यप के आश्रम में जो सहस्ररूप धारण किये, उसका भी यही संकेत है। इसका एक दूसरा दृष्टिकोण यह भी है—जो वस्तु भौतिक है उसके वर्णन की इयत्ता या मर्यादा है, किन्तु जो अभौतिक या दिव्य है उसके लिए वाणी की सीमा नहीं। वह शब्द से अतीत है। अतएव सहस्रनामों द्वारा ही उसकी प्रतीति कराई जा सकती है। इसी लिए दैवी वाक् को सहस्र वाक् कहते हैं जबकि मानुषी वाक् का छन्द अष्टाक्षर, नवाक्षर या दशाक्षर होता है। सहस्रनामों की सूची को देखा जाय तो इनमें अनेक नाम समान मिलते हैं। इसका कारण स्पष्ट है, क्योंकि देवतत्त्व एक है और उसी को ज्ञानी अनेक नामों से कहते हैं। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (१।१६४।४६) यही ऋग्वेद का सिद्धान्त है और यही विश्वकर्मा प्रजापति के लिए सत्य है। वही सब देवों में व्याप्त है और जितने नाम हैं सब उसमें घटित होते हैं—

यो देवानां नामधा एक एव,
तं संप्रश्नं भुवना यन्त्या ॥

ऋग्वेद, १०।८२।३।

भारतीय दर्शन, तत्त्वचिंतन, धर्म, नीति और आचार की जितनी उत्तम-उत्तम उपलब्धियाँ हैं, उनके संकेत इन नामों में हैं। वस्तुतः इन सहस्रनामों को हम संस्कृत वाङ्मय की विषय-सूची के रूप में देख सकते हैं। भगवान् शंकर का यह सहस्रनाम रूपी स्तवराज वेद और वेदाङ्गों में कहे हुए नामों की एक

विलक्षण माला है जिसमें हिरण्यगर्भ ब्रह्मा और ऋषियों ने जिन शब्दात्मक प्रतीकों का निर्माण किया था, उन्हें हम बारम्बार पाते हैं। यदि एक सहस्रनाम की भी पूरी व्याख्या की जाय तो मानों हम अपने पूरे धर्म और दर्शन की व्याख्या ही करने लगेंगे।

शिव के ज्योतिर्लिंग का क्या तत्त्व है? उनका नन्दी वृष कौन है? उन्हें त्र्यम्बक क्यों कहा गया है? स्वामी कार्तिकेय या स्कन्द का स्वरूप क्या है? तारकासुर कौन है? शिव की त्रिपुरारि संज्ञा का क्या अर्थ है? इनके ऊपर जल की बूंदों के अभिषेक का क्या अर्थ है? पंचमुख क्या है? उन्हें अष्टमूर्ति क्यों कहा जाता है? सनातनधर्म अपनी महती परम्परा में वेदों और पुराणों के द्वारा इन प्रश्नों का उचित समाधान करता है। यह जो आकाश मे महान् भास्वरज्योति सूर्य हम देखते हैं यही तो भगवान् का ज्योतिर्लिंग रूप है। यह एक सूर्य क्या है? कोटि सूर्यों की परम्परा मे यही एक कड़ी है। इनके आदि और अन्त की शृङ्खला का कोई परिचय न दर्शन को प्राप्त हुआ न विज्ञान को। एक ब्रह्मा का युक्ति है, दूसरी विष्णु की। वैज्ञानिक ब्रह्मा की तरह अपने दूरवीक्षण यन्त्रों से ज्योति के इस महान् स्तम्भ का आरम्भ जानना चाहते हैं। पर उसका ज्ञान अशक्य है। अतएव असत्य का आश्रय लेकर कुछ ऐसा ब्योंत रचना पड़ता है, मानों हमने प्रकाश वर्षों की बड़ी-बड़ी सख्याओं का आश्रय लेकर ज्योति स्तम्भ का स्वरूप या इयत्ता जान ली हो। दूसरी ओर विष्णु का मार्ग है। उसमे यह पूर्व से ही विदित है कि इस ब्रह्म रूपी महाज्योति का कोई अन्त नहीं है। अनन्त को ही पूर्ण कहते हैं। जो पूर्ण है उसमें एक-दो-तीन सख्या वाले गणित की दाल नहीं गलती। प्राचीन ऋषियों ने इस एक सूर्य को देखकर सहस्र सूर्य और कोटि सूर्यों की ओर अनन्त के एक-एक रोम मे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की कल्पना की, और प्रश्न किया कि यह सूर्य किसकी ज्योति है (किं स्वित् सूर्य सम ज्योतिः)? इसके उत्तर मे यही कहा—'ब्रह्म सूर्य सम ज्योतिः'। यह जो महान् देव के अव्यक्त स्वरूप का एक ज्योतिर्बिन्दु है, यह ब्रह्म ही तो है। पर इसे कौन जानता है? और कौन कह पाया है? (को अद्ध वेद क इह प्रवोचत्)।

जिसे हम नन्दी वृष कहते हैं वही तो आनन्द का प्रतीक है। नन्दी और आनन्द पर्याय हैं। आनन्द ब्रह्म का ही रूप है। उसीसे सब प्राणी जीवित रहते हैं और उसी की अभिलाषा करते हैं। आनन्द का ही एक प्रभावशाली रूप काम है। काम की सज्ञा वृष है। रेत वर्षण द्वारा प्रजा का उत्पादन और आनन्द की अनुभूति होती है। उसी वृष धर्म से सृष्टि की सत्ता है। वेदों मे सूर्य को ही वृष कहा गया है क्योंकि वह द्युलोक से अपनी रश्मियों का विकिरण करके प्रतिक्षण पृथ्वी को गर्भित करता रहता है। भगवान् शिव त्र्यम्बक भी कहे गये हैं। ऋग्वेद मे ही यह सज्ञा आती है। तीन जिसकी माताये हैं, या

तीन जिसके उद्बोधन के लिये नेत्र हैं, वह त्र्यम्बक है। सूर्य चन्द्र और अग्नि इन्हें तीन नेत्र कहा गया है। पृथ्वी-अंतरिक्ष-द्यौः; मनः-प्राण-वाक्, यही तो तीन मातायें हैं, जिनसे प्राणरूपी अग्नि का जन्म होता है। यह जो द्यावापृथ्वी रूप विश्व है, इसमें द्युलोक पिता और पृथ्वी माता है। इसे ही रोदसी ब्रह्माण्ड कहते हैं। यह रोदसी बाहर भी है और प्रत्येक प्राणि केन्द्र में भी है। यही रुद्र की सृष्टि है। इसकी दो विशेषतायें हैं—एक तो इसके अन्तराल में जितने प्राणियों का जन्म होता है वे सब माता-पिता रूप द्वन्द्व से ही उत्पन्न होते हैं। पशु पक्षी वृक्ष-वनस्पति मनुष्य सब में इसी नियम का राज्य है। शिव स्वयं अर्द्धनारीश्वर हैं, अतएव अग्नि-सोमात्मक मैथुनी सृष्टि ही उनके रोदसी लोक की विशेषता है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार रुद्र का दूसरा अर्थ 'यदरोदीत् तस्मात् रुद्रः', बालक बनकर जो रोया वही रुद्र कहा गया। रुदन का तात्पर्य बुभुक्षा से ही है, उसे वैदिक भाषा में अशनाया कहते हैं। जब भूख लगती है तब अन्न के लिए बालक रोता है। वस्तुतः बालक के भीतर जो वैश्वानर अग्नि रुद्र का रूप है, वह अन्न या सोम के लिए व्याकुल हो जाती है, यही रुद्र का रुदन है। प्रत्येक व्यक्ति इस दृष्टि से बालक का ही प्रतिरूप है उसके भीतर रहने वाला प्राण ही बालक या कुमार है। जब उस रुद्र को सोम या अन्न नहीं मिलता तो वह घोर हो जाता है और धू-धू करके इस शरीर को ही जलाने लगता है। वह रुद्र या भैरव रूप है। भैरव के हाथ में भिक्षा-कपाल रहता है, वह अन्न चाहता है। रुद्र की भिक्षाटन मूर्ति भैरव है किन्तु जब हम उस बुभुक्षित अग्नि को अन्न या सोम देते हैं तो वह तृप्त हो जाता है, उसके उस शान्त रूप को शिव कहते है। यह जो प्रत्येक के भीतर रुद्र या अग्नि का बाल-भाव है यही तो स्कन्द या कुमार है। षट्चक्रों में प्राणाग्नि का तेज सम्भृत होने से कुमार का जन्म होता है। इसीलिए इसे छः माताओं का पुत्र कहते हैं। जो तारकासुर है, वह मन है। तारक तारा या चन्द्रमा है, जैसा ऋग्वेद में कहा है 'चन्द्रमा मनसो जातः' अर्थात् प्रजापति के मन से ही चन्द्रमा का जन्म हुआ है। यही तारक जब शरीर की शक्ति से विद्रोह करता है तब यह असुर है। इसे वश में करना प्रत्येक कुमार के लिए आवश्यक है। स्कन्द को अग्नि का पुत्र कहा गया है। रुद्र रूप अग्नि और अग्नि का पुत्र, प्रतीक भाषा के अर्थ में इन दोनों के मूल में एक ही भाव है। तारक की भाँति त्रिपुर भी एक असुर है। पुराणों के अनुसार सत्-रज-तम—यही तीन पुर हैं। सत् को सुवर्ण, रज को चाँदी और तम को लोहा कहा जाता है। इन तीनों धातुओं से तीन पुर प्रत्येक प्राणी के भीतर बने हुए हैं। इन्हीं को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति कहा गया है। इन तीन अवस्थाओं के द्वारा ही चेतना अभिव्यक्त होती है। कथा के अनुसार शिव ने अपने एक बाण से इन तीन पुरों को वेध दिया तभी त्रिपुरासुर वश में आया।

इसी प्रकार मानवीय चेतना तभी सयत होती है जब जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—शान्ति और शक्ति के लिए आपस में विद्रोह न करके परस्पर अनुस्यूत हो जाते हैं। शिव के मस्तक पर जो घटाभिषेक किया जाता है, वह अग्नि द्वारा सोमपान का ही रूपक है। प्रत्येक शरीर के भीतर प्रकृति की ओर से यह घटाभिषेक हो रहा है। हमारे भीतर प्राणाग्नि है और वहीं शुक्र रूपी सोम या मधु है। सोम को अग्नि प्रतिक्षण खा रही है। जब तक अग्नि को सोम मिलता है, अग्नि शिव या सकुशल रहता है। वही अग्नि का अघोर रूप है। जब अग्नि घोर हो जाता है तब उसे ही यम कहते हैं। तभी अमृत रूप शिव मृत्यु रूप यम हो जाते हैं।

इस प्रकार जिस सनातनधर्म को मालवीय जी मानते थे और एकाधिक स्तोत्र या वर्णनों के द्वारा उन्होंने जिसका स्वरूप इन लेखों में सामने रक्खा है, वह सृष्टि विद्या की ही परिभाषाओं पर आश्रित है। उसे पहचानने के लिए प्रज्ञा का नेत्र चाहिए। जिसके पास वह आँख है वह उसे देखता है, दूसरा नहीं (परयद् अक्षण्वान् नो विचेतदन्धः—ऋग्वेद, १।१६४।१६)। एक-एक देवता का स्वरूप सृष्टिविद्या और आत्मविद्या का पूरा ग्रन्थ ही है। इन्हीं महाग्रन्थों की समष्टि सनातनधर्म है। यहाँ तो अव्यक्त या परोक्षभाव का ही महत्त्व है। प्रत्येक स्थूल भूत के पीछे जो उसका प्राण तत्त्व है, वही देवता है। ऋषि लोग स्थूलभूत मे प्राण का दर्शन करते थे और उसी को देव की महिमा जानकर प्रणाम करते थे। अग्नि, इन्द्र, रुद्र, शिव, मित्र, वरुण, अदिति, अश्विनी, विष्णु, गणपति—इन अनेक देवों के रूप में सनातनधर्म की बारहखड़ी कही गई है। देव तत्त्व एक है पर वह अनेक रूपों में कहा, सुना और देखा जाता है। देवों का न कभी अन्त हुआ, न हो सकता है। उनके रूपों का उद्भव, विकास और परिवर्तन इतिहास के अधीन होता रहता है पर जो 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः,' 'एक एव अग्निर्बहुधा समिद्धः,' 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति,' 'यो देवानां नामधा एक एव' इत्यादि वचनों के अनुसार मूलभूत एक देव है, वही सत् तत्त्व है। वही नारायण है, वही विष्णु है। हिरण्यगर्भ, परमेष्ठी, महादेव, ब्रह्मा उसी की संज्ञायें हैं। सनातनधर्म का यह गूढ रहस्य है, उसके समस्त इतिहास और विस्तार में यह तथ्य ओतप्रोत है। प्रत्येक सनातनधर्मी के हृदय पर इसकी छाप लगी हुई है। मालवीय जी जिस उदात्त सनातनधर्म के व्याख्याता और अनुयायी थे, वह ऋषियों की प्रज्ञा का फल है। मालवीय जी प्राचीन ऋषियों के सच्चे प्रतिनिधि थे। डा० कुमारस्वामी कहा करते थे कि यह जो सनातनधर्म है यह विश्व का नित्य तत्त्वज्ञान है (Philosophia Perennis)। यह शब्द यथार्थ है। यहाँ तो धर्म, दर्शन और आचार—इन सबका विचित्र संगम है। ब्रह्म विचार, आचारात्मक कर्म और ईश्वर में भक्तिमयी आस्था—इन तीनों की समष्टि ही सनातनधर्म रूपी तीर्थराज है।

इस संग्रह में 'अन्त्यजोद्धार विधिः' लेख भी मालवीय जी के विशेष दृष्टिकोण का परिचायक है। उन्हें कुछ लोग प्राचीनतावादी समझते थे और वस्तुतः वे थे भी। किन्तु धर्म की जो प्राचीन पद्धति है उसकी रक्षा करते हुए वे नूतन युग की आवश्यकताओं से पराङ्मुख नहीं थे। इसके अतिरिक्त मानव-मात्र के प्रति जो करुणा और न्याय की भावना उनके हृदय में सागर की लहरों की भांति तरंगित थी उस करुणा को उन्होंने अपने इस लेख में उँड़ेल दिया है।

सामाजिक वर्णधर्म और आश्रमधर्म के समुदाचारों का प्रतिपालन करते हुए भी वे समाज को ब्रह्मा जी के अंग की भांति अविभाज्य मानते थे। 'पूरे शरीर का स्वास्थ्य तभी सम्भव है जब प्रत्येक अंग स्वस्थ हो'—यह मालवीय जी के विचार और प्रचार का ध्रुव दृष्टिकोण था। जब वे स्वयं गंगा के तट पर चतुर्थ वर्ण को दीक्षा देने लगे तो लोगों ने समझा कि मालवीय जी क्रान्ति कर रहे हैं। किन्तु स्वयं मालवीय जी ने यही माना कि वे नया कुछ भी नहीं कर रहे थे। वे तो श्रुति, स्मृति, महाभारत और मनु एवं राम और कृष्ण ने जो कुछ कहा और किया है, उसी का पालन कर रहे थे। यदि सनातनधर्म का यह दृष्टिकोण न होता तो अनेक सन्त, महात्माओं के द्वारा इसे जो तेज प्रदान किया गया, वह नहीं टिक सकता था। मालवीय जी का व्यक्तित्व जिन परमाणुओं से बना था, उनके अनुसार वे ऐसे नेता थे जो जन समुदाय को अपने साथ लेकर ही आगे बढ़ते थे। जनता को पीछे छोड़कर स्वयं अग्रगामी बन जाना उन्हें इष्ट न था। वे तो उस धरातल पर कार्य करते थे जहाँ शास्त्र का भी पालन हो और आचार की भी रक्षा हो; आत्महित और परहित दोनों का समन्वय हो। सनातनधर्म या हिन्दू जाति एक बड़े भवन के समान है; उसके कुछ कोठों में प्रकाश है, कुछ में अन्धकार है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति उसे उत्तराधिकार में प्राप्त करता है। देखना होगा कि गोस्वामी तुलसीदास की तरह मालवीय जी भी कितने नये कोठों को प्रकाश से भर गये। ऐसा करने में राम की भक्ति, कृष्ण की भक्ति, भगवान् शिव की भक्ति ही उनका एकमात्र सम्बल थी।

भाद्रपद, कृष्ण अष्टमी,
२४-८-६२
काशी विश्वविद्यालय।

वासुदेवशरण

मालवीय जी का व्यास रूप

न त्वहं कामये राज्यं
न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां
प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

धर्मसंस्थापना[1]

हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ॥१॥

ग्रामे ग्रामे सभा कार्या ग्रामे ग्रामे कथा शुभा ।
पाठशाला मल्लशाला प्रतिपर्व महोत्सवः ॥२॥

अनाथाः विधवाः रक्ष्याः मन्दिराणि तथा च गौः ।
धर्म्यं सङ्घटनं कृत्वा देयं दानं च तद्धितम् ॥३॥

स्त्रीणां समादरः कार्यो दुःखितेषु दया तथा ।
अहिंसका न हन्तव्या आततायी वधार्हणः ॥४॥

अभयं सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं धृतिः क्षमा ।
सेव्यं सदाऽमृतमिव स्त्रीभिश्च पुरुषैस्तथा ॥५॥

कर्मणां फलमस्तीति विस्मर्तव्यं न जातुचित् ।
भवेत्पुनः पुनर्जन्म मोक्षस्तदनुसारतः ॥६॥

स्मर्तव्यः सततं विष्णुः सर्वभूतेष्ववस्थितः ।
एक एवाऽद्वितीयो यः शोकपापहरः शिवः ॥७॥

पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च लोकानां योऽव्ययः पिता ॥८॥

सनातनीयाः सामाजाः सिक्खाः जैनाश्च सौगताः ।
स्वे स्वे कर्मण्यभिरताः भावयेयुः परस्परम् ॥९॥

विश्वासे दृढता स्वीये परनिन्दाविवर्जनम् ।
तितिक्षा मतभेदेषु प्राणिमात्रेषु मित्रता ॥१०॥

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥११॥

---

[1] पूज्य मालवीय जी विरचित एवं सङ्कलित ।

हिन्दी अनुवाद

परमेश्वर को प्रणाम कर, सब प्राणियों के उपकार के लिये, बुराई करने वालों को दबाने और दण्ड देने के लिये, धर्म संस्थापना के लिये, धर्म के अनुसार सङ्गठन-मिलाप कर गाँव-गाँव में सभा करनी चाहिए। गाँव-गाँव में कथा बिठानी चाहिए। गाँव-गाँव में पाठशाला और अखाड़ा खोलना चाहिये। पर्व-पर्व पर मिल कर महोत्सव मनाना चाहिए।

सब भाइयों को मिल कर, अनाथों की, विधवाओं की, मन्दिरों की और गौ माता की रक्षा करनी चाहिये और इन सब कामों के लिये दान देना चाहिये।

स्त्रियों का सन्मान करना चाहिये। दुखियों पर दया करनी चाहिये। उन जीवों को नहीं मारना चाहिये जो किसी पर चोट नहीं करते। मारना उनको चाहिये जो आततायी हों; अर्थात् जो स्त्रियों पर या किसी दूसरे के धन, धर्म या प्राण पर वार करते हों, या जो किसी के घर में आग लगाते हों। यदि ऐसे लोगों को मारे बिना, अपना या दूसरों का धर्म, प्राण या धन न बच सके तो उनको मारना धर्म है।

स्त्रियों को भी तथा पुरुषों को भी निडरपन, सचाई, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, धीरज और क्षमा का अमृत के समान सदा सेवन करना चाहिये।

इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि भले कर्मों का फल भला और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है; और कर्मों के अनुसार ही प्राणी को बार बार जन्म लेना पड़ता है, या मोक्ष मिलता है।

घट घट में बसने वाले भगवान् विष्णु का, सर्वव्यापी ईश्वर का, जिनके समान दूसरा कोई नहीं, जो कि एक ही अद्वितीय हैं; अर्थात् जिनके कारण कोई दूसरा नहीं और जो दुःख और पाप के हरनेवाले शिव स्वरूप हैं, जो सब पवित्र वस्तुओं से अधिक पवित्र, जो सब मङ्गल कर्मों के मंगल स्वरूप हैं, जो सब देवताओं के देवता हैं और जो समस्त संसार के आदि, सनातन, अजन्मा, अविनाशी पिता हैं, सदा सुमिरन करना चाहिए।

सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध आदि, सब हिन्दुओं को चाहिये कि अपने-अपने विशेष धर्म का पालन करते हुए एक दूसरे के साथ प्रेम और आदर से बर्तें।

अपने विश्वास में दृढता, दूसरे की निन्दा का त्याग, मतभेद में (चाहे वह धर्म सम्बन्धी हो या लोक सम्बन्धी) सहनशीलता, और प्राणिमात्र से मित्रता रखनी चाहिये।

सुनो ! धर्म के सर्वस्व को और सुनकर इनके अनुसार आचरण करो ! जो काम अपने को बुरा या दुखदायी जान पड़े उसको दूसरे के साथ नहीं करना।

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत्परस्य कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥१२॥

जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥१३॥

न कदाचिद्बिभेत्वन्यान्न कंचन विभीषयेत् ।
आर्यवृत्तिं समालम्ब्य जीवेत्सज्जनजीवनम् ॥१४॥

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत् ॥१५॥

इत्युक्तलक्षणा प्राणिदुःखध्वंसनतत्परा ।
दया बलवतां शोभा न त्याज्या धर्मचारिभिः ॥१६॥

पारसीयैर्मुसल्मानैरीसाईयैर्यहूदिभिः ।
देशभक्तैर्मिलित्वा च कार्या देशसमुन्नतिः ॥१७॥

पुण्योऽयं भारतोवर्षो हिन्दुस्थानः प्रकीर्तितः ।
वरिष्ठः सर्वदेशानां धनधर्मसुखप्रदः ॥१८॥

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥१९॥

मातृभूमिः पितृभूमिः कर्मभूमिः सुजन्मनाम् ।
भक्तिमर्हति देशोऽयं सेव्यः प्राणर्धनैरपि ॥२०॥

चातुर्वर्ण्यं यत्र सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
चत्वार आश्रमाः पुण्याश्चतुर्वर्गस्य साधकाः ॥२१॥

उत्तमः सर्वधर्माणां हिन्दूधर्मोऽयमुच्यते ।
रक्ष्यः प्रचारणीयश्च सर्वलोकहितैषिभिः ॥२२॥

मनुष्य को चाहिए कि जिस काम को वह नहीं चाहता है कि कोई दूसरा उसके साथ करे, उस काम को वह भी किसी दूसरे के प्रति न करे, क्योंकि वह जानता है कि यदि उसके साथ कोई ऐसी बात करता है, जो उसको प्रिय नहीं है, तो उसको कैसी पीड़ा पहुंचती है।

जो चाहता है कि मैं जीऊँ, वह कैसे दूसरे का प्राण हरने का मन करे? जो-जो बात मनुष्य अपने लिये चाहता है, वही-वही औरों के लिये भी सोचनी है।

मनुष्य को चाहिये कि न कोई किसी से डरे, न किसी को डर पहुंचाए। श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेश के अनुसार आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों की वृत्ति में दृढ़ रहते हुए ऐसा जीवन जीवे जैसा सज्जन को जीना चाहिए।

हर एक को उचित है कि वह चाहे कि सब लोग सुखी रहें, सब नीरोग रहें, सब का भला हो। कोई दुःख न पावे। प्राणियों के दुःख को दूर करने में तत्पर यह दया बलवानों की शोभा है। धर्म के अनुसार चलने वालों को कभी इसका त्याग नहीं करना चाहिये।

देश की उन्नति के कामों में जो पारसी, मुसलमान, ईसाई, यहूदी देशभक्त हों उनके साथ मिलकर भी काम करना चाहिये।

यह भारतवर्ष जो हिन्दुस्तान के नाम से प्रसिद्ध है, बड़ा पवित्र देश है। धन, धर्म और सुख का देने वाला यह देश सब देशों से उत्तम है।

कहते हैं कि देवता लोग यह गीत गाते हैं कि वे लोग धन्य हैं, जिनका जन्म इस भारत-भूमि में होता है जिसमें जन्म लेकर मनुष्य स्वर्ग का सुख और मोक्ष दोनों को पा सकता है।

यह हमारी मातृ-भूमि है, यह हमारी पितृ-भूमि है। जो लोग सुजन्मा है, जिनके जीवन बहुत अच्छे हुए हैं : राम, कृष्ण, बुद्ध आदि; महापुरुषों के, आचार्यों के, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के, गुरुओं के, धर्मवीरों के, शूरवीरों के, दानवीरों के, स्वतन्त्रता के प्रेमी देशभक्तों के उज्ज्वल कामों की यह कर्म-भूमि है। इस देश में हमको परम भक्ति करना चाहिये और प्राणों से और धन से भी इसकी सेवा करनी चाहिये।

जिस धर्म में परमात्मा ने गुण और कर्म के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चार वर्ण उपजाये और जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों के साधन में सहायक मनुष्य का जीवन पवित्र बनाने वाले ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम स्थापित हैं, सब धर्मों से उत्तम, इसी धर्म को हिन्दू धर्म कहते हैं। जो लोग सारे संसार का उपकार चाहते हैं उनको उचित है कि इस धर्म की रक्षा और इसका प्रचार करें।

सब देवन के देव[1]

सब देवन के देव प्रभु सब जग के आधार।
दृढ़ राखौ मोंहि धर्म में विनवौं बारम्बार॥
चन्दा सूरज तुम रचे रचे सकल संसार।
दृढ़ राखौ मोंहि सत्य में विनवौं बारम्बार॥
घट घट तुम प्रभु एक अज अविनाशी अविकार।
अभय-दान मोंहि दीजिये विनवौं बारम्बार॥
मेरे मन मन्दिर बसौ करौ ताहि उँजियार।
ज्ञान भक्ति प्रभु दीजिये विनवौं बारम्बार॥
सत चित आनन्द घन प्रभू सर्व शक्ति आधार।
धनबल जनबल धर्मबल दीजे सुख संसार॥
पतित उधारन दुःख हरन दीन बन्धु करतार।
हरहु अशुभ शुभ दृढ़ करहु विनवौं बारम्बार॥
जिमि राखे प्रहलाद को लै नृसिंह अवतार।
तिमि राखो अशरण शरण विनवौं बारम्बार॥
पाप दीनता दरिद्रता और दासता पाप।
प्रभु दीजे स्वाधीनता मिटै सकल संताप॥
नहिं लालच बस लोभ बस नाहीं डर बस नाथ।
तजौं धरम, वर दीजिये रहिय सदा मम साथ॥
जाके मन प्रभु तुम बसौ सो डर कासौं खाय।
सिर जावै तो जाय प्रभु मेरो धरम न जाय॥
उठौं धर्म के काम में उठौं देश के काज।
दीन बन्धु तब नाम लै नाथ राखियो लाज॥

घट घट व्यापक राम जप रे!
मतकर बैर, झूठ मत भाखै। मत पर धन हर, मत मद चाखै॥
जीव मत मार, जुवा मत खेलै। मत पर तिय लख, यहि तेरो तप रे!!
घट घट व्यापक राम जप रे!

---

[1] पूज्य मालवीयजी विरचित।

सनातनधर्म[1]

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति ।
धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ॥

धर्म ही सारे जगत् की प्रतिष्ठा (मूलाधार) है। संसार में प्रजा लोग धर्मशील पुरुष के पास पहुँचते हैं। धर्म से पाप को दूर करते हैं। धर्म में सब प्रतिष्ठित है; अर्थात् धर्म के मूलाधार पर सब स्थित है, इसलिये धर्म को सबसे बड़ा कहते हैं।

विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगिता ।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते ॥

विद्या, रूप, धन, शौर्य, वीरता, कुलीनता, आरोग्य, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष— ये सब धर्म से प्राप्त होते हैं। सबसे बड़ा उपकार जो किसी प्राणी का कोई कर सकता है, वह यह है कि उसको धर्म का ज्ञान करा दे, धर्म में उसकी श्रद्धा उत्पन्न कर दे अथवा दृढ़ कर दे। संसार में धर्म के ज्ञान के समान कोई दूसरा दान नहीं है। सनातनधर्म सब मतों के अनुयायियों के उपकार के लिए है। इस सनातनधर्म का उत्तम वर्णन श्रीमद्भागवत के ७ वें स्कन्ध के ११ वें अध्याय से लेकर १५ वें अध्याय तक पाया जाता है। उसमें लिखा है कि—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
संतोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवता बुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

---

[1] सनातनधर्म सा... वर्ष २ अंक १ ता० १७ जुलाई १९३४ ई०।

हे राजन्! यह तीस लक्षणवाला धर्म, समस्त मनुष्यमात्र का परम धर्म है, जिसके पालन से घट-घट में व्याप्त परमात्मा प्रसन्न होते हैं।

महाभारत में इस धर्म के मूलतत्व का वर्णन है—

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम्।

महाभारत, अश्वमेध पर्व, अ० ९१, श्लोक ३२।

यह धर्म बड़े बड़े गुणों का समूह है। दान, प्राणिमात्र पर दया, ब्रह्मचर्य और इन्द्रियों को वश में रखना तथा सत्य का पालन, प्राणियों के दुःख में सहानुभूति, धीरज और क्षमा, ये सनातन धर्म के मूल हैं। यह धर्म ऐसे हैं कि संसार के सब धर्मों और सब सम्प्रदायों के अनुयायी इनका पालन कर इस लोक में सुख, शान्ति और सुयश तथा परलोक में उत्तम गति पा सकते हैं।

भगवान् मनु कहते हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।

वेद सब धर्म के मूल हैं। याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं—

पुराणन्याय मीमांसा धर्मशास्त्रांग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

वेदांग, स्मृति, पुराण सहित चारों वेद सब विद्याओं और सब धर्म के स्थान हैं। इस बात को पश्चिम के विद्वान् भी मानते हैं कि संसार में सबसे पुराना ग्रन्थ ऋग्वेद है।

आज सनातनधर्म के मानने वालों को धर्म का मार्ग-दर्शन कराने के लिये श्रुति (वेद), स्मृति और पुराणों के साथ आगम भी सम्मिलित हैं; किन्तु इन सब शास्त्र समूह में, जो धर्म के मूल सिद्धान्त हैं, वे सनातन हैं; अर्थात् सबसे पुराने हैं, उनसे पहले का कोई सिद्धान्त संसार मे विदित नहीं है। इन सिद्धान्तों मे कुछ मूल सिद्धान्त हैं। सनातनधर्म का शुद्ध स्वरूप और इसकी महिमा जानने के लिये इन सिद्धान्तों का जानना आवश्यक है। वे ये हैं—

प्रथम यह है कि इस ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और संहार करने वाला, त्रिकाल में सत्य (अर्थात् जो सदा रहा भी, अब भी है और सदा रहेगा भी), चैतन्य अर्थात् ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप पुरुष है जिसको परमात्मा कहते हैं। वह आदि (जो सब सृष्टि से पहले), अज (जिसका कभी जन्म नहीं हुआ

और जिसका न कोई पिता है, न माता है) और अविनाशी (जिसका कभी नाश नहीं होता) है।

वेद स्पष्टतः कहते हैं कि सृष्टि के पहले यह जगत् अंधकारमय था। उस अंधकार के बीच में और उससे परे, केवल एक ज्ञानस्वरूप स्वयंभू (अपने आप हुए) भगवान् विराजमान थे। उन्होंने उस अंधकार में अपने आप को प्रकट किया और अपने तप से अर्थात् अपनी ज्ञानमयी शक्ति के संचालन से सारी सृष्टिको रचा।

सनातनधर्म के सब धर्मग्रंथ दुंदुभीनाद करते हैं कि वह परमात्मा एक ही है। वेद कहते हैं "एकमेवाद्वितीयम्" अर्थात् एक अकेला है, उसके समान कोई दूसरा नहीं।

स्मृति कहती है (मनु, याज्ञवल्क्य आदि)—सब जगत् का शासन करने वाला, छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा, जिसको आंखों से देख नहीं सकते, केवल बुद्धि से ही पहचान सकते हैं, एक परमात्मा है। महाभारत आदि से अंत तक बार-बार घोषणा करता है—

तस्यैकत्वं महत्त्वञ्च स चैकः पुरुषः स्मृतः।
महापुरुषशब्दं स बिभर्त्येकः सनातनः॥

भागवत कहता है—

एकः स आत्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्तमाद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयोऽमुक्त उपाधितोऽमृतः॥

शिवपुराण कहता है—

एक एव तदारुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन॥

वेद, स्मृति, पुराणों के इसी सिद्धान्त को आगम गाते हैं और इसी को आधुनिक संत महात्माओं ने अपने-अपने शब्दों में गाया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने थोड़े अक्षरों में इस तत्त्व का पूर्णरीति से वर्णन किया है—

व्यापक एकब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम असगावा॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि नाना॥
आननरहित सकल रसभोगी। बिनु बाणी बक्ता बड़ जोगी॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्राण बिनु बास असेखा॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा तासु जाइ किमि बरनी॥

हे राजन्! यह तीस लक्षणवाला धर्म, समस्त मनुष्यमात्र का परम धर्म है, जिसके पालन से घट-घट में व्याप्त परमात्मा प्रसन्न होते हैं।

महाभारत में इस धर्म के मूलतत्व का वर्णन है—

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम्।

महाभारत, अश्वमेध पर्व, अ० ९१, श्लोक ३२।

यह धर्म बड़े बड़े गुणों का समूह है। दान, प्राणिमात्र पर दया, ब्रह्मचर्य और इन्द्रियों को वश में रखना तथा सत्य का पालन, प्राणियों के दुःख में सहानुभूति, धीरज और क्षमा, ये सनातन धर्म के मूल हैं। यह धर्म ऐसे हैं कि संसार के सब धर्मों और सब सम्प्रदायों के अनुयायी इनका पालन कर इस लोक में सुख, शान्ति और सुयश तथा परलोक में उत्तम गति पा सकते हैं।

भगवान् मनु कहते हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।

वेद सब धर्म के मूल हैं। याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं—

पुराणन्याय मीमांसा धर्मशास्त्रांग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

वेदांग, स्मृति, पुराण सहित चारों वेद सब विद्याओं और सब धर्म के स्थान हैं। इस बात को पश्चिम के विद्वान् भी मानते हैं कि संसार में सबसे पुराना ग्रन्थ ऋग्वेद है।

आज सनातनधर्म के मानने वालों को धर्म का मार्ग-दर्शन कराने के लिये श्रुति (वेद), स्मृति और पुराणों के साथ आगम भी सम्मिलित हैं; किन्तु इन सब शास्त्र समूह में, जो धर्म के मूल सिद्धान्त हैं, वे सनातन हैं; अर्थात् सबसे पुराने हैं, उनसे पहले का कोई सिद्धान्त संसार में विदित नहीं है। इन सिद्धान्तों में कुछ मूल सिद्धान्त हैं। सनातनधर्म का शुद्ध स्वरूप और इसकी महिमा जानने के लिये इन सिद्धान्तों का जानना आवश्यक है। वे ये हैं—

प्रथम यह है कि इस ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और संहार करने वाला, त्रिकाल में सत्य (अर्थात् जो सदा रहा भी, अब भी है और सदा रहेगा भी), चैतन्य अर्थात् ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप पुरुष है जिसको परमात्मा कहते हैं। वह आदि (जो सब सृष्टि से पहले), अज (जिसका कभी जन्म नहीं हुआ

और जिसका न कोई पिता है, न माता है) और अविनाशी (जिसका कभी नाश नहीं होता) है।

वेद स्पष्टतः कहते हैं कि सृष्टि के पहले यह जगत् अंधकारमय था। उस अंधकार के बीच में और उससे परे, केवल एक ज्ञानस्वरूप स्वयंभू (अपने आप हुए) भगवान् विराजमान थे। उन्होंने उस अंधकार में अपने आप को प्रकट किया और अपने तप से अर्थात् अपनी ज्ञानमयी शक्ति के संचालन से सारी सृष्टिको रचा।

सनातनधर्म के सब धर्मग्रंथ दुंदुभीनाद करते हैं कि वह परमात्मा एक ही है। वेद कहते हैं "एकमेवाद्वितीयम्" अर्थात् एक अकेला है, उसके समान कोई दूसरा नहीं।

स्मृति कहती है (मनु, याज्ञवल्क्य आदि)—सब जगत् का शासन करने वाला, छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा, जिसको आँखों से देख नहीं सकते, केवल बुद्धि से ही पहचान सकते हैं, एक परमात्मा है। महाभारत आदि से अंत तक बार-बार घोषणा करता है—

तस्यैकत्वं महत्त्वञ्च स चैकः पुरुषः स्मृतः।
महापुरुषशब्दं स बिभर्त्येकः सनातनः॥

भागवत कहता है—

एकः स आत्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्तमाद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयोऽमुक्त उपाधितोऽमृतः॥

शिवपुराण कहता है—

एक एव तदारुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन॥

वेद, स्मृति, पुराणों के इसी सिद्धान्त को आगम गाते हैं और इसी को आधुनिक संत महात्माओं ने अपने-अपने शब्दों में गाया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने थोड़े अक्षरों में इस तत्त्व का पूर्णरीति से वर्णन किया है—

व्यापक एकब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम असगावा॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि नाना॥
आननरहित सकल रसभोगी। बिनु बाणी वक्ता बड़ जोगी॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्राण बिनु बास असेखा॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा तासु जाइ किमि बरनी॥

वर्णाश्रम[1]

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति ।
धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ॥

उपनिषद् कहते हैं—सारा जगत् धर्म के मूल पर स्थित है, इसीलिये लोक में लोग उसी के पास जाते हैं, जो धर्मिष्ठ है। धर्म से पाप को दूर करते हैं। धर्म में सब प्रतिष्ठित है, इसलिये धर्म को सबसे बड़ा कहते हैं।

दूसरे स्थान में भी लिखा है—

विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगता ।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते ॥

विद्या, रूप, धन, वीरता, कुलीनता, आरोग्य, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष—ये सब धर्म से प्राप्त होते हैं।

सनातनधर्म पृथ्वी पर सबसे पुराना और पुनीत धर्म है। यह वेद, स्मृति और पुराण से प्रतिपादित है। संसार के सब धर्मों से यह इस बात में विशिष्ट है कि यह सिखाता है कि इस जगत् का सृजन, पालन और संहार करनेवाला आदि, सनातन, अज, अविनाशी, सत्‌चित्त, आनन्दस्वरूप, पूर्ण प्रकाशमय, परब्रह्म परमात्मा है। यह परमात्मा सदा, निरन्तर घट-घट वासी रहा है, और रहेगा; अर्थात् यह कि यह परमात्मा मनुष्य से लेकर सिंह, हाथी, घोड़े, गौ, हिरन आदि सब थैली से उत्पन्न होनेवाले जीवों में, अण्डों से उत्पन्न सब पखेरुओं में, पृथ्वी फोड़कर उगने वाले सब वृक्षों में, और पसीने मैल से उत्पन्न होनेवाले सब कीट पतंगों में समान रूप से बस रहा है। इसी तत्वज्ञान के कारण—

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा ॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम् ॥

यह धर्म बड़े बड़े गुणों का समूह है। दान, जीवमात्र पर दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, दयालुता, धीरज और क्षमा इन गुणों का योग सनातनधर्म का सनातन मूल है। इन गुणों के कारण ही सनातन धर्म अन्य धर्मों से विशिष्ट है।

सनातन धर्म की दूसरी विशेषता वर्ण और आश्रम का विभाग है। जैसा भगवान् कृष्ण ने अपने श्रीमुख से कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

---

[1] सनातन धर्म वर्ष १, अङ्क ९।

'मैंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों को गुण और कर्म के विभाग से रचा है'। गुण में जन्म भी अन्तर्गत है, इसलिये गुण कर्म के विचार में—जन्म, गुण और कर्म—तीनों का समावेश हो जाता है। जैसे विद्या और तप ब्राह्मण की ब्राह्मणता के आवश्यक अंग हैं, तथापि पूर्ण ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिये—

विद्या तपश्च योनिश्च त्रयं ब्राह्मणकारणम्।

विद्या, तप और ब्राह्मण माता-पिता से जन्म, ये तीनों आवश्यक हैं। ब्राह्मणों के ६ धर्म हैं: अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह। इनमें से तीन—अध्ययन, यजन, और दान तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के लिए समान हैं। वेद का पढ़ना, यज्ञ कराना और दान लेना—ये तीन विशेषकर ब्राह्मणों ही के कर्म हैं। यद्यपि अवस्था विशेष में क्षत्रिय और वैश्य भी वेद पढा सकते हैं। सामान्यतया इन तीनों विशेष कर्मों के करने का अधिकार उन्हीं ब्राह्मणों को होता है जो न केवल विद्या और तप से युक्त हैं किन्तु जो जन्म से भी ब्राह्मण हैं।

सामान्य रीति से, धर्म में चारो वर्णों के गुण अलग-अलग वर्णित हैं। महाभारत में शान्ति पर्व में वर्णों के लक्षण अलग-अलग इस प्रकार लिखे हैं।

जातिकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।
वेदाध्ययनसंपन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः॥
शौचाचारस्थितः सम्यक् विघसाशी गुरुप्रियः।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते॥
क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते॥
वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः।
वेदाध्ययनसंपन्नः स वैश्य इति संज्ञितः॥
सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्म करोऽशुचिः।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः॥

और इसके अंत में लिखा है—

शौचेन सततं युक्तः सदाचारसमन्वितः।
सानुक्रोशश्च भूतेषु तद्द्विजातिषु लक्षणम्॥

सदा शौच से युक्त रहना (काया और मन को शुद्ध रखना और शुद्ध भोजन करना), सदाचार का पालन करना, सब प्राणियों पर दया रखना, ये द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लक्षण हैं।

इसी के साथ महाभारत में वनपर्व में लिखा है—

वर्णोत्कर्षमवाप्नोति नरः पुण्येन कर्मणा ।
तथापकर्षं पापेन इति शास्त्रनिदर्शनम् ॥

मनुष्य पुण्य कर्मों के करने से वर्ण में ऊपर उठ जाता है और नीच कर्म करने से नीचे गिर जाता है। यह शास्त्र कहता है।

यह भी वहीं लिखा है—

शूद्रोपि शीलसंपन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत् ॥

शूद्र भी सुशील अर्थात् पवित्र चरित्रयुक्त और गुणवान हो, तो वह ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण भी अपना धर्म कर्म छोड़ दे या उससे रहित हो, तो वह शूद्र से भी नीचे गिर जाता है।

शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥

शूद्र में यदि ब्राह्मण के गुण हों और ब्राह्मण में वे गुण न हों, तो न वह शूद्र, शूद्र है और न वह ब्राह्मण, ब्राह्मण है।

युधिष्ठिर जी का वचन है—

सत्यं दानं क्षमाशीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्नभवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥

हे नागेन्द्र ! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, शील, अहिंसा, तप, दया दिखाई दें, उसको ब्राह्मण कहते हैं।

जहाँ अच्छा शील स्वभाव दिखाई दे, उसको ब्राह्मण कहना; जहाँ ये न दिखाई दें, उसको शूद्र कहना चाहिए॥

श्रीमद्भागवत में भी सातवें स्कंध में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के अलग-अलग गुणों का वर्णनकर नारद जी ने कहा—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यंजकम् ।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥

अर्थात् जिस पुरुष का जो वर्ण को प्रकट करने वाला लक्षण कहा गया है, जहाँ दूसरे में भी वह लक्षण दिखाई दे, तो उसको उसी गुण वाले वर्ण के नाम से बताना चाहिए।

इन वचनों से स्पष्ट है कि यदि, जो पुरुष जन्म से ब्राह्मण हो, वह भी अपने धर्म-कर्म से रहित हो जाय या कुकर्म करने लगे तो वह शूद्र से भी नीचे गिरजाता है; और नीच से नीच शूद्र भी, यदि अच्छे आचारों को ग्रहण करे और ऊँचा पवित्र जीवन जीने लगे, तो वह भी ब्राह्मण के समान मान पाने के योग्य हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यह प्रसिद्ध है कि भक्ति नीच से नीच प्राणी को भी ऊपर उठा देती है और भगवान् का प्रीतिपात्र बना देती है। उस भक्ति की यह महिमा है कि चाण्डाल भी भगवान् का नाम जपने से ब्राह्मण के समान आदर के योग्य हो जाता है। उसी भक्ति का साधन मंत्र-दीक्षा की विधि है। जैसा वैष्णव तंत्र में लिखा है—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः।
तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम्॥

जैसे काँसे पर रस का प्रयोग करने से वह सोने के समान चमकने लगता है, वैसे ही मंत्र-दीक्षा के लेने से मनुष्य द्विजत्व को प्राप्त करता है; अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के समान आदर के योग्य हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह शूद्र इस योग्य हो जाता है कि उससे द्विजाति के लोग रोटी-बेटी का सम्बंध करें, उसको वेद पढ़ाने या यज्ञ कराने के लिये निमंत्रित करें। इसका यह अर्थ है कि सामान्य शूद्र या चाण्डाल में भी यदि विद्या, ज्ञान, शौच, आचार आदि द्विजों के गुण पाये जावें तो ज्ञान के क्षेत्र में और सामान्य सामाजिक व्यवहार में द्विज लोग उसका, उसकी विद्या, ज्ञान, सदाचार के अनुरूप आदर करें।

मेरा विश्वास है कि सनातनधर्म के तत्त्व को जानने वाले सब विद्वान् ऊपर लिखी व्याख्या को धर्मानुकूल मानेंगे। यदि यह धर्मानुकूल नहीं है तो मैं प्रार्थना करता हूँ कि निष्कलमष, धर्मज्ञ, धर्मशील विद्वान् हिन्दूजाति पर और विशेषकर सनातनधर्म के अनुयायियों पर अनुग्रह करके यह बतावें, कि इसमें क्या दोष है? मेरा अभिप्राय यह है कि जो सत्य और धर्म का मार्ग है, वही संसार को बताया जाय; और यदि ऊपर लिखे विचार शास्त्र के अनुकूल हैं, तो इन्हीं के अनुसार अछूतों की आर्थिकदशा सुधारकर, सदाचार सिखाकर और उनको मंत्र-दीक्षा देकर उनका उद्धार करना हमारा धर्म है। ईसाई, मुसलमान जिन अछूतों को अपने धर्म में मिलाते हैं, उनको अपने समाज में बराबर का स्थान देते हैं। अछूत सनातनधर्म समाज के अंग हैं; इनकी

उनका कल्याण होगा। वे इस 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र को पवित्र होकर जपेंगे। वे श्रद्धाभक्ति से भगवान् के दर्शन करेंगे। उनके दर्शन करने से प्राणप्रतिष्ठा की हुई मूर्ति अपवित्र नहीं होती। इससे सनातनधर्म की महिमा फैलेगी।

रामानुजाचार्य, रामानन्द आदि आचार्यों ने शूद्रों को दीक्षा दी, उन्हें अपनाया। उनके साथ अच्छा बर्ताव किया। इनके द्वारा सनातनधर्म प्रेमी जनता का हित हुआ। उन्होंने हमारा गौरव, हमारी उदारता फैलाई। १२५ विद्वान् भारत के भिन्न-भिन्न नगरों और रियासतों से आए हैं। उन्होंने एक राय से अछूतों की उन्नति और पवित्रता का विचार किया है, उन सबकी राय से जो प्रस्ताव पास हुआ है, उसे कार्यरूप में परिणत करें। महाशिवरात्रि को यह दीक्षा-संस्कार देश के प्रत्येक कोने में कराया जावे, उन्हें व्रत रखाकर दीक्षा दी जावे। प्रिंसपल प्रमथनाथ जी, गोस्वामी गणेशदत्त जी, पण्डित हरिदत्त शास्त्री, पंडित बलदेव मिश्रजी, श्रीपाद शास्त्री आदि अनेकों विद्वानों ने दीक्षा द्वारा अछूतों को मंत्रोपदेश देने का समर्थन किया है। इन विद्वानों ने अपने-अपने स्थानों पर दीक्षा देने का कार्य करवाने में और खुद करने में अपनी-अपनी राय दी है। यह आन्दोलन देश भर में होना जरूरी है। विश्वनाथ जी हमारे इस पवित्र कार्य में सहायता देंगे। धर्म की लालटेन अछूतों को दें।

(२) ब्रह्मचर्य व्रत[1]

एक दिन पूज्य मालवीयजी ने ब्रह्मचर्य की महिमा कही। ब्रह्मचर्य व्रत शरीर-रक्षा के लिये परमावश्यक है। शरीर की पुष्टि शुद्ध पवित्र भोजन और दूध से होती है किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत रखने से शरीर निरोग रहता है। ब्रह्मचर्य व्रत ही दीर्घायु देता है। भीष्म और हनुमानजी ब्रह्मचारी हो गए हैं। इनकी शक्ति, इनका बल, पुरुषार्थ सब जानते हैं। भीष्म ने ब्रह्मचर्य के बल से मृत्यु तक को जीत लिया था। उन्होंने श्रीकृष्ण भगवान् तक को शस्त्र गहा दिया था। हनुमानजी ने सुग्रीव, सीता, भरत, राम आदि की कैसी सेवा की थी। अपने शारीरिक और बुद्धिबल से आश्चर्य कर दिया था। इनको ब्रह्मचर्य से कैसी शक्ति मिली थी जिससे आज भी हम दर्शन कर, उपासना कर उच्च होते हैं, पवित्र होते हैं और अपना जीवन उज्ज्वल करते हैं।

(३) गायत्री मंत्र[2]

पूज्य मालवीय जी ने गायत्री मंत्र की महिमा और भावार्थ बतलाया कि इस मंत्र के अंदर अपूर्व चमत्कार भरा है। यह उस प्रभु की आराधना है जो

---

[1] सनातनधर्म, अंक ३, वर्ष ३, पृ० १४ से उद्धृत (पूज्य मालवीयजी का दूसरा भाषण)।

[2] 'सनातनधर्म' साप्ताहिक मुखपत्र, वर्ष ३, अंक ३१, पृ० १६, २३ फरवरी १९३६ ई०, दशाश्वमेधघाट पर धर्मोपदेश।

तीनों लोकों का स्वामी है। भूलोक, भुवः लोक और स्वर्ग की सृष्टि जिस परमात्मा से हुई है, उसी की स्तुति इस मंत्र में कही गई है। वही प्रभु बुद्धि को सत्मार्ग में लगाता है। इस मंत्र को ऋषि महर्षियों ने जपा। भगवान् रामचन्द्र और कृष्ण प्रभु ने संध्या की। महापुरुषों ने इस मन्त्र द्वारा परमानंद लिया। जो इस मंत्र के अधिकारी नहीं थे, उन्होंने 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र से परमात्मा की आराधना की, किसी ने 'ॐ नमो नारायणाय' तथा 'ॐ नमः शिवाय' से जीवन उज्ज्वल किया। उसी परमात्मा का विकास है जिसके तेज से हम जीवित हैं। शरीर में जब तक उसका तेज है, तभी तक संसार है और सब संबंधी हैं। विना आत्मा के शरीर मुर्दा है। अतः उसीका ध्यान, उसी का चिंतन और उसी परमात्मा की आराधना प्रातःकाल और संध्या समय अवश्य करें। पूज्य मालवीय जी ने आगे कहा कि "मैं सवेरे संध्याकर 'ॐ नमो नारायणाय' का जप करता हूँ और शाम को संध्या के बाद 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र का जप नित्य करता हूँ, तब मेरी पूर्ण संध्या होती है और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र तो दिन में जब शुभ अवसर पाता हूँ, तभी जपता रहता हूँ। इन्हीं मंत्रों के द्वारा परमानंद लेता रहता हूँ।"

पूज्य मालवीय जी ने कहा अब क्या कहोगे 'अबलौं नसानी अब न नसे हौं।' मनुष्य का चोला दुर्लभ है, ८४ लाख योनियाँ घूमकर प्रभु के अनुग्रह से मनुष्य शरीर मिलता है। 'प्रभु तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों, साधन धाम सुलभ तनु मोहि कृपा कर दीन्हों'। रास्ता अंधकारमय है। आपने धर्म की लालटेन दे दी है, हम क्या-क्या नहीं पाए। सब जीवों की तरह भोग किया तो भी मन उसी में लगा रहा। मनुष्य में धर्म की विशेषता है। यही देश है जिसमें धर्म की प्रधानता है। हमारे देश में स्त्रियाँ धर्म का पालन करती हैं, यहाँ की स्त्रियाँ धर्मी हैं। भारत की धार्मिक जनता का कवच 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र है। इस मंत्र को जिसने नहीं जपा, जिसने इस मंत्र को नहीं समझा, उसने व्यर्थ जन्म लिया। जो इस मंत्र को जान गया है, वह कल्याण पा गया है। उसे कुछ भी पाने योग्य नहीं, उसे कुछ पाने को नहीं रह जाता।

बता दो राम कहाँ हैं? पेड़ पत्तों मे कौन बैठा है, कौन इन जीवों को चला रहा है, किससे ये सब शोभा दे रहे हैं? एक शक्ति है, एक ज्योति है जिससे दुनिया का संबंध है। प्राण पखेरू उड़ जाने से शरीर का देखना कठिन हो जाता है। वही शक्ति, वही प्रकाश राम है। उसी परमात्मा के दो स्वरूप राधा और कृष्ण हैं। पुरुष और स्त्री का साँचा एक है। वही कुम्हार इनकी रचना करता है, परन्तु समझ मे नहीं आता, कैसे बनाता है, "केशव कहि न जाय का कहिए।"

गर्भ मे बैठा-बैठा कौन देह बनाता रहता है? एक बाल के १० हजारवें टुकड़े के बराबर जीवात्मा होता है, वही बढते-बढ़ते बालक हो जाता है। कौन

उन्नति करना, इनके दुःख दारिद्रय को दूर करने का यत्न करना, इनको सामान्य और धार्मिक शिक्षा देना, और समाज के दूसरे अंगों के समान इनकी रक्षा करना और इनको आगे बढाना, हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है। इससे हमारे धर्म की रक्षा और वृद्धि होगी और धर्म को किसी प्रकार की हानि नही पहुँचेगी। हिन्दूजाति का इसी में भला होगा, ऐसे ही मार्ग के अवलम्बन करने से सनातन-धर्म की महिमा पूर्णरीति से स्थापित होगी। इसी प्रकार धर्मबुद्धि से धर्म के प्रश्नों का निर्णय करने से और उनके अनुसार चलने से समाज में धार्मिक एकता और शक्ति स्थापित होगी।

उपदेश

(१) समानता[1]

हम सब भाई एक महापिता के पुत्र थे, जैसे पेड़ की चार शाखाएँ हों। अपना-अपना कर्तव्य पालन करते थे। ब्राह्मण धर्मकर्म, वैश्य वैभव-वृद्धि, क्षत्रिय देश-रक्षा और शूद्र कलाकौशल तथा तीन वर्णों की सहायता करते थे। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की तरह चार भाई एक दूसरे से प्रेमभाव रखते, एक दूसरे के सुख दुःख मे सम्मिलित होते हैं। ये भी हमारे सार्वजनिक कामों मे साथ देते हैं। तीर्थों मे साथ-साथ स्नान करते, त्रिवेणी पर जाते, उत्सवों में भाग लेते, गौरक्षा करते, भगवान् का नाम लेते, चोटी रखते, अपने घर उत्सव मनाते हैं।

हम लोगों की तरह ये भी सब काम करते हैं। भगवान् ने जैसे हमें सुख पाने का इच्छुक बनाया है, वैसे ही शूद्रों को। वे भी कपड़ों का, सवारी का सुख चाहते हैं। यदि वे सवारी पर बैठते हैं तो हमें बुरा क्यों लगता है? यदि गरीब की बेटी पालकी मे बैठती है, जैसे अमीर की, तो हमे खुशी होनी चाहिए। एक हाथ मे जैसे उंगलियाँ होती हैं वैसे जातियाँ हैं; पर वे सब एक दूसरे की सहायता के लिये हैं। वे अपनी-अपनी बिरादरी में शादी करती हैं। अछूत हमारे भाई हैं, हम उन्हें कष्ट क्यों होने दें? उन्हें कडुआ शब्द क्यों कहते हैं? अछूत घर की सफाई करता है, ऐसे भाई को प्यासा रखें, भोजन न दें, तो हमे दुःख होना चाहिए। उन्हें कुएँ का पानी उतना ही मधुर है, जितना हमें। यदि कोई अपने निज के कुएँ से पानी नहीं लेने देता है तो भूल करता है। भगवान् के दर्शन नहीं करने देता तो उसे दूसरा मन्दिर बनवा दो और उसे भी अधिकार दो! वह क्यों वंचित रहे? उसे श्रद्धाभक्ति है तो उसे अपना लो! यदि हमारे रास्ते मे कुछ अपवित्रता है, मरा कुत्ता पड़ा है, उसे वह दूर कर देता है तो हमारे लिये प्रसन्नता होनी चाहिए।

हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें पढावें, उन्हें स्वच्छ रखें, उनकी गन्दगी दूर करावें, इस तरह शारीरिक सफाई करके मानसिक स्वच्छता करावें। मानसिक स्वच्छता भगवान् के नाम स्मरण से होती है, भगवान् का जप करने से होती है। 'ॐ नमः शिवाय' बैंक मे कितने भाई लिखते हैं और भजन करते हैं, इससे उनका हृदय पवित्र होता है। किन्तु यही मन्त्र-दीक्षा देकर किया जावे तो

---

[1] 'सनातनधर्म' वर्ष ३, अंक ३०, पृ० १३, १६ फरवरी सन् १९३६ ई० (अखिल भारतवर्षीय सनातनधर्म महासभा, प्रयाग में पूज्य मालवीयजी का भाषण)।

भोजन देता है ? कैसा कारखाना है कि सब अंग बनकर कैसा सुन्दर रूप बन जाता है, क्या विचित्र रचना होती है कि समझना कठिन हो जाता है ? उत्तर दो, बोलो, यह कौन रचना करता है ? वह एक ब्रह्म अविचल, चेतन, अमल, सदा सुखरासी है। वही रोशनी घोड़े में, कुत्ते में दीख रही है। जैसी पीड़ा हमें होती है, उसी तरह कुत्ते और दूसरे प्राणी को होती है। परमात्मा घट-घट में व्यापक है।

पूज्य मालवीयजी ने आगे कहा कि ६ वर्ष पहले यहाँ उत्सव हुआ था उस समय से खजाना बढ़ा या घटा। यदि हमने कुछ लाभ उठाया तो अच्छा, नहीं तो ६ वर्ष व्यर्थ गए। जैसा उत्सव त्रिवेणी पर मनाते हैं, ऐसे हर पर्व में मनावें। एकादशी कथा, गणेश चतुर्थी की कथा और प्रत्येक उत्सव को धूम-धाम से मनावें। रात को रामायण पाठ करें, कीर्तन और भजन करें। जिनका संस्कार न हुआ हो, उनका संस्कार करावें। दीक्षा दें। सामाजिक बन्धन और अड़चने जो धर्म-कर्म में बाधा देती हों, दूर करें। दहेज की प्रथा खराब है, इससे हमारी संतान कष्ट पाती है, उसे रोकें। दीन दुखी अनाथों की सहायता करें। भंगिन भी स्वच्छ होकर भगवान् का नाम ले तो उसे आनन्द होगा। देखो ! हजारों पादरी धर्म प्रचार कर रहे हैं। हम भी अपने धर्म का पालन करें, गाँव-गाँव मल्लशाला, गोशाला खोल दें, देशभर में धर्म की धूम मचा दें। जो अधिकारी हों, वे संध्या करें, दूसरे भगवद्नाम का जप और भजन करें।

(४) धर्मवृक्ष[1]

भक्त-मंडली ने पूज्य मालवीय जी से प्रार्थना की, तब आप व्यासासन पर सुशोभित हुए। आपने भगवान् की स्तुति करते हुए व्यास कार्य की विशेषता बताई। हमारे देश में प्राचीन काल से विद्वानों ने धर्म, राष्ट्र, समाजका उपकार धार्मिक कथा सुनाकर किया है। यह ढंग अभी तक जारी है। आपने राम नाम के दो अक्षरों की महिमा बताते हुए कहा कि यह शब्द भक्तों, ज्ञानियों, दुखियों का सहारा है। बच्चे से लेकर वृद्ध तक इसका भजन करते हैं। अंत समय यही नाम कहा जाता है। राम धर्मवृक्ष का बीज है। जैसे वट वृक्ष फैल जाता है, वैसे राम सबको ढक लेता है।

कवियों ने रामकथा का गान किया है। भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी ने रामचरितमानस द्वारा अनेक नरनारियों का उपकार किया है। आपने व्यासों को सचेत किया कि वे सदाचारी होकर धर्म, देश और समाज का कार्य करें तो कितना उपकार हो। आपने कहा कि अभी एक लाख व्यासों की

[1] 'सनातनधर्म' साप्ताहिक मुखपत्र, वर्ष ३, अंक ३८, पृ० १५, १९३८ ई० (संकटमोचन में पूज्य मालवीय जी का प्रवचन)।

जरूरत है जो भारत के कोने-कोने में सनातनधर्म की जागृति कर दें। आपने अपने पिता का आदर्श चरित्र सुनाया जो परमभागवत थे। पूज्य मालवीय जी के पिता छः-छः माह घर नहीं आते थे और माता घर का प्रबंध करती थीं। पिता कथा कहते थे तो आप ध्यानपूर्वक सुनते रहते थे। आपने अंग्रेजी पढ़ी। बी० ए० परीक्षा पास की और अध्यापक हुए, परन्तु इच्छा एम्० ए० पास करने की बनी रही। आपको हमेशा ध्यान रहता था कि पिता जी की तरह व्यास बनूँ और धार्मिक जीवन व्यतीत करूँ। आप पिता का गुणगान करते हुए जनता से कहने लगे कि पहले भक्ति में स्नान करलें तब दूसरों को करावें। आप भगवान् का चरित्र वर्णन करते हुए आनंद में डूब गए थे। आप साक्षात् दर्शन करने लगे। जनता भक्ति-धारा में बह रही थी। आपने उस स्तुति का भाव प्रकट किया जो अदिति ने भगवान् की की थी। आपके भाषण से आबालवृद्ध नरनारी आनंद में मग्न हो गए। करीब साढ़े दस बजे आपने भाषण समाप्त किया। आपने अंत में व्यास मंडली को धर्म-प्रचार और देश-सेवा के कार्य को लेने का उपदेश दिया।

ईश्वर

पं० मदन मोहन मालवीय

इस संसार में सबसे पुराने ग्रन्थ वेद हैं। योरप के विद्वान भी इस बात को मानते हैं कि ऋग्वेद कम-से-कम चार सहस्र वर्ष पुराना है और उससे पुराना कोई ग्रन्थ नहीं। ऋग्वेद स्पष्ट रूप से कहता है कि सृष्टि के पहले जगत् अन्धकारमय था। उस तम के बीच में और उससे परे केवल एक ज्ञानस्वरूप स्वयम्भु भगवान् विराजमान थे और उन्होंने उस अन्धकार में अपने को आप प्रकट किया और अपने तप से अर्थात् अपनी ज्ञानमयी शक्ति के संचालन से सृष्टि को रचा। ऋग्वेद में लिखा है—

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्[1]।
तुच्छेनाम्यपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥

इसी वेद के अर्थ को मनु भगवान् ने लिखा है कि सृष्टि के पहले यह जगत् अन्धकारमय था। सब प्रकार से सोता हुआ सा दिखायी पड़ता था। उस समय जिनका किसी दूसरी शक्ति के द्वारा जन्म नहीं हुआ, जो आप अपनी शक्ति से अपनी महिमा में सदा से वर्तमान हैं और रहेंगे, उन ज्ञानमय, प्रकाशमय स्वयम्भू ने अपने को आप प्रकट किया और उनके प्रकट होते ही अन्धकार मिट गया। मनुस्मृति में लिखा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्[2]।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥

ऋग्वेद कहता है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्[3]।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

---

[1] ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त १२९, मन्त्र ३।

[2] मनुस्मृति, १।५–७।

[3] ऋग्वेद, १०।१२१।१, १०।८१।१, १०।८१।२-३।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः ।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥
यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

और भी श्रुति कहती है—

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"[1]
एकमेवाद्वितीयम्[2]

भागवत में भगवान् का वचन है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यत्सदसतः परम्[3] ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

'सृष्टि के आदि में कार्य (स्थूल) और कारण (सूक्ष्म) से अतीत एकमात्र मैं ही था, मेरे सिवा और कुछ भी न था। सृष्टि के पश्चात् भी मैं ही रहता हूँ और यह जो जगत्प्रपञ्च दीख पड़ता है, वह भी मैं ही हूँ तथा सृष्टि का संहार हो जाने पर जो कुछ बच रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

शिवपुराण में भी लिखा है—

एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन[4] ।
संसृज्य विश्वं भुवनं गोप्तान्ते संचुकोच सः ॥
विश्वतश्चक्षुरेवायमुतायं विश्वतोमुखः ।
तथैव विश्वतोबाहुर्विश्वतः पादसंयतः ॥
द्यावाभूमी च जनयन् देव एको महेश्वरः ।
स एव सर्वदेवानां प्रभवश्चोद्भवस्तथा ॥
अचक्षुरपि यः पश्यत्यकर्णोऽपि शृणोति यः ।
सर्वं वेत्ति न वेत्तास्य तमाहुः पुरुषं परम् ॥

---

[1] ऐतरेय० १।१।१ ।
[2] छान्दोग्य० ६।२।१ ।
[3] भागवत० २।९।३३ ।
[4] शिवपुराण ७।१।६।१४–१६, २३ ।

उस समय एक रुद्र ही थे, दूसरा कोई न था। उन जगत्-रक्षक ने ही संसार की रचना करके अन्त में उसका संहार कर दिया। उनके चारों ओर नेत्र हैं, चारों ओर मुख हैं, चारों ओर भुजाएँ हैं, तथा चारों ओर चरण हैं। पृथ्वी और आकाश को उत्पन्न करने वाले एक महेश्वर देव ही है, वे ही सब देवताओं के कारण और उत्पत्ति के स्थान हैं। जो बिना आंख-कान के ही देखते और सुनते हैं, जो सबको जानते हैं तथा उन्हें कोई नहीं जानता, वे परम पुरुष कहे जाते हे।

भागवत में लिखा है—

एकः स आत्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः[१]।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरंजनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥

वह एक ही आत्मा, पुराणपुरुष, सत्य, स्वयंप्रकाशस्वरूप, अनन्त, सबका आदिकारण, नित्य, अविनाशी, निरन्तर सुखी, माया से निर्लिप्त, अखण्ड, अद्वितीय, उपाधि से रहित तथा अमर है।

सब वेद, स्मृति, पुराण के इसी तत्त्व को गोस्वामी तुलसीदास जी ने थोड़े अक्षरों में यों कह दिया हैं—

व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनंदरासी[२] ॥
आदि-अन्त कोउ जासु न पावा। मति-अनुमान निगम यश गावा॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि नाना॥
आननरहित सकल रस-भोगी। बिनु वाणी वक्ता बड़ योगी॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्राण बिनु वास असेखा॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा तासु जाइ किमि बरनी॥

किन्तु यह विश्वास कैसे हो कि ऐसा कोई परमात्मा है?

जो वेद कहते हैं कि यह परमात्मा है, वही यह भी कहते हैं कि उसको हम आँखों से नहीं देख सकते।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

"ईश्वर को कोई आँखों से नहीं देख सकता, किन्तु हममें से हर एक मन को पवित्रकर विमल बुद्धि से ईश्वर को देख सकता है।" इसलिये जो लोग ईश्वर

---

[१] भागवत० १०।१४।२३।

[२] रामचरितमानस।

को मन की आँखों (बुद्धि) से देखना चाहते हैं, उनको उचित है कि वे अपने शरीर और मन को पवित्रकर और बुद्धि को विमल कर ईश्वर की खोज करें।

हम देखते क्या हैं?

हमारे सामने जन्म से लेकर शरीर छूटने के समय तक बड़े-बड़े चित्र-विचित्र दृश्य दिखायी देते हैं जो हमारे मन में इस बात के जानने की बड़ी उत्कण्ठा उत्पन्न करते हैं कि वे कैसे उपजते हैं और विलीन होते हैं? हम प्रतिदिन देखते हैं कि प्रातःकाल पौफट होते ही सहस्र किरणों से विभूषित सूर्य-मण्डल पूर्व-दिशा में प्रकट होता है और आकाशमार्ग से विचरता सारे जगत् को प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुचाता सायंकाल पश्चिम दिशा में पहुचकर नेत्र-पथ से परे हो जाता है। गणितशास्त्र के जानने वालों ने गणनाकर यह निश्चय किया है कि यह सूर्य पृथ्वी से नौ करोड़ अट्ठाईस लाख तीस सहस्र मील की दूरी पर है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि यह इतनी दूरी से इस पृथ्वी के सब प्राणियों को प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता है? ऋतु-ऋतु में अपनी सहस्र किरणों से पृथ्वी से जल को खींचकर सूर्य आकाश में ले जाता है और वहाँ से मेघ का रूप बनाकर फिर जल को पृथ्वी पर बरसा देता है और उसके द्वारा सब घास, पत्ती, वृक्ष, अनेक प्रकार के अन्न और धान और समस्त जीवधारियों को प्राण और जीवन देता है। गणित-शास्त्र बतलाता है कि जैसा यह एक सूर्य है ऐसे असंख्य और इससे बहुत बड़े-बड़े भी हैं जो सूर्य से भी अधिक दूर होने के कारण हमको छोटे-छोटे तारों के समान दिखाई देते हैं। सूर्य के अस्त होने पर प्रतिदिन हमको आकाश में अनगिनत तारे-नक्षत्र-ग्रह चमकते दिखाई देते हैं। सारे जगत् को अपनी किरणों से सुख देने वाला चन्द्रमा अपनी शीतल चाँदनी से रात्रि को ज्योतिष्मती करता हुआ आकाश में सूर्य के समान पूर्व-दिशा से पश्चिम-दिशा को जाता है। प्रतिदिन रात्रि के आते ही दशों दिशाओं को प्रकाश करती हुई नक्षत्र-तारा ग्रहों की ज्योति ऐसी शोभा धारण करती है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ये सब तारा-ग्रह सूत में बँधे हुए गोलकों के समान अलंघनीय नियमों के अनुसार दिन-से-दिन, महीने-से-महीने, वर्ष-से-वर्ष, बँधे हुए मार्गों में चलते हुए आकाश में घूमते दिखाई देते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि गर्मी की ऋतु में यदि सूर्य तीव्र-रूप से नहीं तपता तो वर्षाकाल में वर्षा अच्छी नहीं होती, यह भी प्रत्यक्ष है कि यदि वर्षा न हो तो जगत् में प्राणिमात्र के भोजन के लिये अन्न और फल न हों। इससे हमको स्पष्ट दिखायी देता है कि अनेक प्रकार के अन्न और फल द्वारा सारे जगत् के प्राणियों के भोजन का प्रबन्ध मरीचिमाली सूर्य के द्वारा हो रहा है। क्या यह प्रबन्ध किसी विवेकवती शक्ति का रचा हुआ है जिसको स्थावर-जंगम सब प्राणियों को जन्म देना और पालन अभीष्ट है, अथवा यह केवल जड़-पदार्थों के अचानक संयोगमात्र का परिणाम है? क्या यह परम आश्चर्यमय गोलोक-

मण्डल अपने आप जड़-पदार्थों के एक दूसरे के खींचने के नियममात्र से उत्पन्न हुआ है और अपने आप आकाश में वर्ष-से-वर्ष, सदी-से-सदी, युग-से-युग घूम रहा है, अथवा इसके रचने और नियम से चलाने में किसी चैतन्य शक्ति का हाथ है ? बुद्धि कहती है कि "है", वेद भी कहते हैं कि "है"। वे कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा को, आकाश और पृथ्वी को परमात्मा ने रचा।

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्,
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।

प्राणियों की रचना

इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्राणात्मक जगत् की रचना इस बात की घोषणा करती है कि इस जगत् का रचनेवाला एक ईश्वर है। यह चैतन्य जगत् अत्यन्त आश्चर्य से भरा हुआ है। जरायु से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, सिंह, हाथी, घोड़े, गौ आदि; अण्डों से उत्पन्न होनेवाले पक्षी; पसीने और मैल से पैदा होने वाले कीड़े; पृथ्वी को फोड़कर उगनेवाले वृक्ष; इन सबकी उत्पत्ति, रचना और इनका जीवन परम आश्चर्यमय है। नर और नारी का समागम होता है। उस समागम में नर का एक अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु चैतन्य अंश गर्भ में प्रवेशकर नारी के एक अत्यन्त सूक्ष्म सचेत अंश से मिल जाता है। इसको हम जीव कहते हैं।

वेद कहते हैं कि—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

एक बाल के आगे के भाग के खड़े-खड़े सौ भाग कीजिये और उन सौ में से एक के फिर सौ खड़े-खड़े टुकड़े कीजिये और इसमें से एक टुकड़ा लीजिये, तो आपको ध्यान में आवेगा कि उतना सूक्ष्म जीव है। यह जीव गर्भ में प्रवेश करने के समय से शरीर रूप से बढ़ता है। विज्ञान के जानने वाले विद्वानों ने अणुवीक्षण यन्त्र से देखकर यह बताया है कि मनुष्य के वीर्य के एक बिन्दु में लाखों जीवाणु होते हैं और उनमें से एक ही गर्भ में प्रवेश पाकर टिकता और वृद्धि पाता है। नारी के शरीर में ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि यह जीव गर्भ में प्रवेश पाने के समय से एक नली के द्वारा आहार पावे, इसकी वृद्धि के साथ-साथ नारी के गर्भ में एक जल से भरा थैला बनता जाता है जो गर्भ को चोट से बचाता है। इन सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, अणु-से-अणु, बाल के आगे के भाग को दस हजारवें भाग के समान सूक्ष्म वस्तु में यह शक्ति कहाँ से आती है कि

जिससे यह धीरे-धीरे अपने माता और पिता के समान रूप, रंग और सब अवयवों को धारण कर लेता है? कौन-सी शक्ति है जो गर्भ में इसका पालन करती और इसको बढ़ाती है? वह क्या अद्भुत रचना है जिससे बच्चे के उत्पन्न होने के थोड़े समय पूर्व ही माता के स्तनों में दूध आ जाता है? कौन-सी शक्ति है जो सब असंख्य प्राणवन्तों को, सब मनुष्यों को, सब पशु-पक्षियों को, सब कीट-पतंगों को, सब पेड़-पल्लवों को पालती है और उनको समय से चारा और पानी पहुंचाती है? कौन-सी शक्ति है जिससे चींटियाँ दिन में भी और रात में भी सीधी भीत पर चढ़ती चली जाती हैं? कौन-सी शक्ति है जिससे छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े पक्षी अनन्त आकाश में दूर-से-दूर तक बिना किसी आधार के उड़ा करते हैं।

नरों और नारियों की, गौवों की, सिंहों की, हाथियों की, पक्षियों की, कीड़ों की सृष्टि कैसे होती है? मनुष्यों से मनुष्य, सिंहों से सिंह, घोड़ों से घोड़े, गौवों से गौ, मयूरों से मयूर, हंसों से हंस, तोतों से तोते, कबूतरों से कबूतर, अपने-अपने माता-पिता के रंग-रूप अवयव लिये हुए कैसे उत्पन्न होते हैं? छोटे-से-छोटे बीजों से किसी अचिन्त्य शक्ति से बढ़ाये हुए बड़े और छोटे असंख्य वृक्ष उगते हैं तथा प्रतिवर्ष और बहुत वर्षों तक पत्ती, फल, फूल, रस, तैल, छाल और लकड़ी से जीवधारियों को सुख पहुँचाते, सैकड़ों, सहस्रों स्वादु, रसीले फलों से उनको तृप्त और पुष्ट करते, बहुत वर्षों तक श्वास लेते, पानी पीते, पृथिवी से और आकाश से आहार खींचते आकाश के नीचे झूमते-लहराते रहते हैं?

इस आश्चर्यमयी शक्ति की खोज में हमारा ध्यान मनुष्य के रचे हुए घर की ओर जाता है। हम देखते हैं कि हमारे सामने यह एक घर बना हुआ है। इसमें भीतर जाने के लिये एक बड़ा द्वार है। इसमें अनेक स्थानों में पवन और प्रकाश के लिये खिड़कियां तथा झरोखे हैं। भीतर बड़े-बड़े खम्भे और दालान हैं। धूप और पानी रोकने के लिये छतें और छज्जे बने हुए हैं। दालान-दालान में, कोठरी-कोठरी में, भिन्न-भिन्न प्रकार से मनुष्य को सुख पहुँचाने का प्रबन्ध किया गया है। घर के भीतर से पानी बाहर निकालने के लिये नालियां बनी हुई हैं। ऐसे विचार से घर बनाया गया है कि रहने वालों को सब ऋतु में सुख देवे। इस घर को हम देखकर कह सकते हैं कि इस घर में रहने वाला कोई चतुर पुरुष था जिसने रहनेवालों के सुख के लिये जो-जो प्रबन्ध आवश्यक था उसको विचारकर घर रचा। हमने रचनेवाले को देखा भी नहीं, तो भी हमको निश्चय होता है कि घर का रचनेवाला कोई था, या है; और वह ज्ञानवान्, विचारवान् पुरुष है।

अब हम अपने शरीर की ओर देखते हैं। हमारे शरीर में भोजन करने के लिए मुंह बना है। भोजन चबाने के लिये दांत हैं। भोजन को पेट में पहुंचाने के लिये गले में नली बनी है। उसी के पास पवन के मार्ग के लिये

एक दूसरी नली बनी हुई है। भोजन को रखने के लिए उदर में स्थान बना है। भोजन पचकर रुधिर का रूप धारण करता है, वह हृदय में जाकर इकट्ठा होता है और वहां से सिर से पैर तक सब नसों में पहुंचकर मनुष्य के सम्पूर्ण अंग को शक्ति, सुख और शोभा पहुँचाता है। भोजन का जो अंश शरीर के लिये आवश्यक नहीं है उसको मल होकर बाहर जाने के लिये मार्ग बना है। दूध, पानी या अन्य रस का जो अंश शरीर को पोसने के लिए आवश्यक नहीं है, उसके निकलने के लिये दूसरी नली बनी हुई है। देखने के लिये हमारी दो आंखें, सुनने के लिये दो कान, सूंघने को नासिका के दो रन्ध्र और चलने-फिरने के लिये हाथ-पैर बने हैं। सन्तान की उत्पत्ति के लिये जनन-इन्द्रियां हैं। हम पूछते हैं—क्या यह परम आश्चर्यमय रचना केवल जड़-पदार्थों के संयोग से हुई है; या इसके जन्म देने और वृद्धि में, हमारे घर के रचयिता के समान किन्तु उससे अनन्तगुण अधिक किसी ज्ञानवान्, विवेकवान, शक्तिमान् आत्मा का प्रभाव है ?

मन और वाणी की शक्ति

इसी विचार में डूबते और उतराते हुए हम अपने मन की ओर ध्यान देते हैं तो हम देखते हैं कि हमारा मन भी एक आश्चर्यमय वस्तु है। इसकी—हमारे मन की विचारशक्ति, कल्पनाशक्ति, गणनाशक्ति, रचनाशक्ति, स्मृति, धी, मेधा सब हमको चकित करती हैं। इन शक्तियों से मनुष्य ने क्या-क्या ग्रन्थ लिखे हैं, कैसे-कैसे काव्य रचे हैं, क्या-क्या विज्ञान निकाले हैं, क्या-क्या आविष्कार किये हैं और कर रहे हैं; यह थोड़ा आश्चर्य नहीं उत्पन्न करता। हमारी बोलने और गाने की शक्ति भी हमको आश्चर्य में डुबा देती है। हम देखते हैं कि यह प्रयोजनवती रचना सृष्टि में सर्वत्र दिखायी पड़ती है और यह रचना ऐसी है कि जिसके अन्त तथा आदि का पता नहीं चलता। इस रचना में एक-एक जाति के शरीरियों के अवयव ऐसे नियम से बैठाये गये हैं कि सारी सृष्टि शोभा से पूर्ण है। हम देखते हैं कि सृष्टि के आदि से सारे जगत् में एक कोई अद्भुत शक्ति काम कर रही है जो सदा से चली आयी है, सर्वत्र व्याप्त है और अविनाशी है।

हमारी बुद्धि विवश होकर इस बात को स्वीकार करती है कि ऐसी ज्ञानात्मिका रचना का कोई आदि, सनातन, अज, अविनाशी सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप, जगत्-व्यापक, अनन्त शक्तिसम्पन्न रचयिता है। उसी एक अनिर्वचनीय शक्ति को हम ईश्वर, परमेश्वर, परब्रह्म, नारायण, भगवान्, वासुदेव, शिव, राम, कृष्ण, विष्णु, जिहोवा, गाड, खुदा, अल्लाह आदि सहस्रों नामों से पुकारते हैं।

परमात्मा एक ही है

वेद कहते हैं—

"एकमेवाद्वितीयम्,[1] एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति,[2] एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।"

एक ही परमात्मा है, कोई उसका दूसरा नहीं। एक ही को विप्र लोग बहुत-से नामों से वर्णन करते हैं। है एक ही, किन्तु उसकी बहुत प्रकार से कल्पना करते हैं।

विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम इस बात के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। युधिष्ठिर ने पितामह भीष्म से पूछा कि "बताइये, लोक में वह कौन एक देवता है? कौन सब प्राणियों का सबसे बड़ा एक शरण है? कौन वह है जिसकी स्तुति करते, जिसको पूजते मनुष्य का कल्याण होता है?"

इसके उत्तर में पितामह ने कहा—

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम्[3]।
स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम्॥
पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम्।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता॥

अर्थात्, "मनुष्य प्रतिदिन उठकर सारे जगत् के स्वामी, देवताओं के देवता, अनन्त पुरुषोत्तम की सहस्र नामों से स्तुति करे। सारे लोक के महेश्वर, लोक के अध्यक्ष (अर्थात् शासन करने वाले), सर्व लोक में व्यापक विष्णु की जो न कभी जन्मे हैं, न जिनका कभी मरण होगा, नित्य स्तुति करता हुआ मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाता है। जो सबसे बड़ा तेज है, जो सबसे बड़ा तप है, सबसे बड़े ब्रह्म हैं और जो सब प्राणियों के सबसे बड़े शरण हैं, जो पवित्रों में सबसे पवित्र, सब मंगल बातों के मंगल, देवताओं के देवता और सब प्राणिमात्र के अविनाशी पिता हैं।"

---

[1] छान्दोग्य० ६।२।१।

[2] ऋग्वेद १।१६४।४६।

[3] महाभारत, अनु० १४९।४७।

इससे स्पष्ट है कि विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम तथा और ऐसे स्तोत्र सब एक ही परमात्मा की स्तुति करते हैं। मनुष्यमात्र को उचित है कि नित्य सायं-प्रातः उस परमात्मा का ध्यान करे और उसकी स्तुति करे।

त्रिदेव

ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ये उसी एक परमात्मा की तीन संज्ञा अर्थात् नाम हैं। विष्णुपुराण में लिखा है—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम्[1]।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः॥

वे एक ही जनार्दन भगवान् सृष्टि, पालन और संहार करने वाली ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव नाम की तीन संज्ञा प्राप्त करते हैं।

यही बात बृहन्नारदीयपुराण में भी लिखी है—

नारायणोऽक्षरोऽनन्तः सर्वव्यापी निरंजनः[2]।
तेनेदमखिलं व्याप्तं जगत्स्थावरजंगमम्॥
तमादिदेवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधम्।
केचिद्विष्णुं सदा सत्यं ब्रह्माणं केचिदुच्यते॥

भगवान् नारायण अविनाशी, अनन्त, सर्वत्र व्यापक तथा माया से अलिप्त हैं, यह स्थावर-जंगमरूप सारा संसार उनसे व्याप्त है; उन जरारहित आदिदेवता को कोई शिव, कोई सदा सत्यस्वरूप विष्णु और कोई ब्रह्मा कहते हैं।

इसी प्रकार शिवपुराण में स्वयं महेश्वर का वचन है—

त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्मविष्णुहराख्यया[3]।
सर्गरक्षालयगुणैः निष्कलोऽयं सदा हरे॥
अहं भवानयं चैव रुद्रोऽयं यो भविष्यति।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवेत्॥

हे विष्णु! सृष्टि, पालन तथा संहार—इन तीन गुणों के कारण मैं ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामक तीन भेद से युक्त हूँ। हे हरि! वास्तव में, मेरा स्वरूप सदा भेद-हीन है। मैं, आप, यह (ब्रह्मा) तथा रुद्र और आगे जो कोई भी

---

[1] विष्णुपुराण १।२।६६।

[2] बृहन्नारदीय० १।२।२, ५।

[3] शिवपुराण–२।१।९।२८, ३८।

होंगे, इन सबका एक ही रूप है, उनमें कोई भेद नहीं है, भेद मानने से बन्धन होता है।

भागवत में भी स्वयं भगवान् का वचन है—

> अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्[1]।
> आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥
> आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
> सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥

हम, ब्रह्मा और शिव संसार के परम कारण हैं; हम सबके आत्मा, ईश्वर, साक्षी, स्वयं प्रकाश और निर्विशेष हैं। हे ब्राह्मण! वह मैं (विष्णु) अपनी त्रिगुणमयी माया में प्रवेश करके संसार की सृष्टि, रक्षा तथा प्रलय करता हुआ भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार नाम धारण करता हूँ।

इसलिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश इनको भिन्न-भिन्न मानना भूल है। ये एक ही परमात्मा की तीन संज्ञा है।

इसलिये शिवपुराण में भी लिखा है—

> शिवो महेश्वरश्चैव रुद्रो विष्णुः पितामहः[2]।
> संसारवैद्यः सर्वज्ञः परमात्मेति मुख्यतः।
> नामाष्टकमिदं नित्यं शिवस्य प्रतिपादकम् ॥

शिव, महेश्वर, रुद्र, विष्णु, पितामह, संसार-वैद्य, सर्वज्ञ और परमात्मा—ये आठ नाम मुख्यरूप से शिव के बोधक हैं।

इसलिये यह स्पष्ट है, "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" "ॐ नमो नारायणाय" "ॐ नमः शिवाय" "श्री रामाय नमः" "श्री कृष्णाय नमः"—ये सब मन्त्र एक ही परमात्मा की वन्दना हैं।

परमात्मा का स्वरूप

वेद कहते हैं—

> "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।"

वह ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप एवम् अनन्त है।

---

[1] भागवत० ४।७।५०–५१।

[2] शिवपुराण ६।९।१–२।

भागवत में भी लिखा है—

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक्सम्यगवस्थितम्।[1]
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥
ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः।
ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।[2]
दृश्यादिभिः पृथग्भावैः भगवानेक ईयते॥

ब्रह्म सत्य है, सदा रहा है, है भी, सदा रहेगा भी। वह ज्ञानमय, चैतन्य और आनन्दरूप है। उसका स्वयं शरीर नहीं है, किन्तु विनाशमान शरीर में पैठकर वह संसार की लीला कर रहा है। वह केवल निर्मल ज्ञानस्वरूप है, पूर्ण है। उसका आदि नहीं, अन्त नहीं। वह नित्य और अद्वितीय है। एक होने पर भी अनेक रूपों में दिखायी देता है।

दूसरे स्थान में कहा है—

शरीरों के भीतर बैठा हुआ आत्मा पुराणपुरुष साक्षात् स्वयं प्रकाश, अज, परमेश्वर, नारायण, भगवान् वासुदेव अपनी माया से अपने-रचित शरीरों में रम रहा है।

ब्रह्म का पूर्ण और अत्यन्त हृदयग्राही निरूपण—वेद, उपनिषद् और पुराणों का सारांश-भागवत के एकादश स्कन्ध के तीसरे अध्याय में दिया हुआ है।

राजा जनक ने ऋषियों से कहा—"हे ऋषिगण! आप लोग ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं, अतएव आप मुझे अब यह बताइये कि जिनको नारायण कहते हैं उन परब्रह्म परमात्मा का ठीक स्वरूप क्या है?"

पिप्पलायन ऋषि ने कहा—"हे नृप! जो इस विश्व के सृजन, पालन और संहार का कारण है परन्तु स्वयं जिसका कोई कारण नहीं है; जो स्वप्न, जागरण और गहरी नींद की दशाओं में भीतर और बाहर भी वर्तमान रहता है; देह, इन्द्रिय, प्राण और हृदय आदि जिससे संजीवित होकर अर्थात् प्राण पाकर अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं, उसी परमतत्त्व को नारायण जानो। जैसे चिनगारियाँ अग्नि में प्रवेश नहीं पा सकतीं, वैसे ही मन, वाणी, आँखें, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियाँ उस परमतत्त्व का ज्ञान ग्रहण करने में असमर्थ हैं और वहाँ तक पहुँच न सकने के कारण उसका निरूपण नहीं कर सकतीं।"

वह परमात्मा कभी जन्मा नहीं, न वह कभी मरेगा, न वह कभी बढ़ता है और न घटता है, जन्म-मरण आदि से रहित वह सब बदलती हुई अवस्थाओं का साक्षी है, एवं सर्वत्र व्याप्त है, सब काल में रहा है, और रहेगा, अविनाशी

[1] भागवत० २।६।३९–४०।
[2] वही, ३।३२।२६१।

है और ज्ञानमात्र है। जैसे प्राण एक है तो भी इन्द्रियों के भिन्न होने से आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, नाक सूँघती है इत्यादि भावों के कारण एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं, ऐसे ही आत्मा एक होने पर भी भिन्न-भिन्न देहों में अवस्थित होने के कारण भिन्न प्रतीत होता है।

जितने जीव जरायु से उत्पन्न होते हैं—मनुष्य, गौ, घोड़े, हाथी, सिंह, कुत्ते, भेड़, बकरी आदि; जो पक्षीवर्ग अण्डों से उत्पन्न होते हैं; जो कीटवर्ग पसीने, मैल आदि से उत्पन्न होते हैं और जो वृक्षवर्ग (पेड़, विटप) पृथिवी को फोड़कर उगते हैं; इन सबों में, सम्पूर्ण सृष्टि में, जहाँ-जहाँ जीव के साथ प्राण दौड़ता हुआ दिखायी देता है, वहाँ-वहाँ ब्रह्म है। जब सब इन्द्रियाँ सो जाती हैं, जब "मैं हूं" यह अहंभाव भी लीन हो जाता है, उस समय जो निर्विकार साक्षीरूप हमारे भीतर बैठा हुआ ध्यान में आता है और जिसका हमारे जागने की अवस्था में "हम अच्छे सोये" "यह सपना देखा" इस प्रकार की स्मृति होती है, वही ब्रह्म है, इत्यादि।

ब्रह्म कहां है ?

वेद कहते हैं—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।[1]
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च॥

एक ही परमात्मा सब प्राणियों के भीतर छिपा हुआ है, सब में व्याप रहा है, सब जीवों के भीतर का अन्तरात्मा है, जो कुछ कार्य सृष्टि में हो रहा है उसका नियन्ता है। सब प्राणियों के भीतर बस रहा है, सब संसार के कार्यों का साक्षीरूप में देखने वाला, चैतन्य, केवल एक, जिसका कोई जोड़ नहीं और जो गुणों के दोष से रहित है।

वेद, स्मृति, पुराण कहते हैं कि यह देवों का देव अग्नि में, जल में, वायु में, सारे भुवन में, सब औषधियों में, सब वनस्पतियों में, सब जीवधारियों में व्याप रहा है।

कहते हैं—

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा[2]
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एव-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

---

[1] श्वेता० ६।११
[2] वही ४।१७

वह परमदेव विश्व का रचने वाला सदा प्राणियों के हृदय में स्थित है। अपने-अपने हृदय में स्थित इस महात्मा को जो शुद्ध हृदय से, विमल मन से अपने में विराजमान देखते हैं, वे अमर होते हैं।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके[1]
न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥

लोक में उसका न कोई स्वामी है, न उसके ऊपर आज्ञा चलाने वाला है, न उसका कोई चिह्न है। वही सबका कारण है, उसका कोई कारण नहीं, उसका कोई उत्पन्न करने वाला नहीं, न उसका कोई रक्षक है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं[2]
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥

उस सब सामर्थ्य और अधिकार रखने वालों के सबसे बड़े परम ईश्वर, देवताओं के सबसे बड़े देवता, स्वामियों के सबसे बड़े स्वामी, सारे त्रिभुवन के स्वामी, पर पूजनीय देव को हम लोगों ने जाना है।

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज विज्ञानरूप बलधामा॥
व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता। अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता॥
अगुण अदभ्र गिरा गोतीता। समदर्शी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुखसन्दोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी। ब्रह्म निरीह विरज अविनासी॥
इहाँ मोह कर कारण नाहीं। रवि-सम्मुख तम कबहुं कि जाहीं॥

सूरदास जी ने कहा है—

जगत्पिता जग के आधार।
तुम सब के गुरु सब के स्वामी,
तुम सबहिन के अन्तर्यामी॥

---

[1] वही ६।९।

[2] वही ६।७।

हम सेवक तुम जगत अधार,
नमो नमो तुम्हें बारम्बार।
सर्व शक्ति तुम सर्व अधार,
तुम्हें भजै सो उतरै पार॥
घट-घट मांहि तुम्हारो वास,
सर्व ठौर जिमि दीप-प्रकास।
एहि विधि तुमको जानै जोई,
भक्तरु ज्ञानी कहिये सोई॥
जगत-पिता तुम ही हौ ईश,
याते हम विनवत जगदीश।
तुम सम द्वितीय और नहिं आहि,
पटतर देहि नाथ हम काहि॥
नाथ कृपा अब हमपर कीजै,
भक्ति आपनी हमको दीजै।
प्रेम भक्ति बिन कृपा न होइ,
सर्व शास्त्र में देखै जोइ॥
तपसी तुमको तप करि पावैं,
सुनि भागवत गृही गुण गावैं।
कर्मयोग करि सेवत कोई,
ज्यों सेवै त्यों ही गति होई॥
तीन लोक हरि करि विस्तार,
ज्योति आपनी करि उंजियार।
जैसा कोऊ गेह संवार,
दीपक बारि करै उंजियार॥
त्यों हरि-ज्योति आप प्रकटाई,
घट-घट में सोई दरसाई।
नाथ तुम्हारी ज्योति-अभास,
करत सकल जग को परकास॥

थावर-जंगम जहलौं भये,
ज्योति तुम्हारी चेतन किये।
तुम सब ठौर सबन तें न्यारे,
को लखि सकै चरित्र तुम्हारे ॥
सो प्रकाश तुम साजे सदा,
जीव कर्म करि बन्धन बंधा।
सर्वव्यापी तुम सब ठाहर,
तुमहिं दूर जानत नर नाहर ॥
तुम सबके प्रभु अन्तर्यामी,
जीव बिसर रह्यो तुमको स्वामी ॥

यह परमात्मा जीवरूप में प्रत्येक जीवधारी के हृदय के बीच में विराजमान है।

ईश्वर-अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी ॥

स्वयं भगवान् ने गीता में कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति[1]।

हे अर्जुन! ईश्वर सब जीवों के हृदय में रहते हैं।

इस विषय में याज्ञवल्क्य मुनि ने सब वेदों का तत्त्व यों वर्णन किया है—

एक सौ चवालिस सहस्र हित और अहित नाम की नाड़ियां प्रत्येक मनुष्य के हृदय से शरीर में दौड़ी हुई हैं। उसके बीच में चन्द्रमा के समान प्रकाश वाला एक मण्डल है उसके बीच में अचल दीप के समान आत्मा विराजमान है, उसी को जानना चाहिये। उसी का ज्ञान होने से मनुष्य आवागमन से मुक्त होता है।

यह आत्मा मनुष्य से लेकर पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-विटप समस्त छोटे-बड़े जीवधारियों में समानरूप से विराजमान है।

वेदव्यास जी कहते हैं—

ज्योतिरात्मनि नान्यत्र समं तत्सर्वजन्तुषु।
स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा ॥

ब्रह्म की ज्योति अपने भीतर ही है, वह सब जीवधारियों में एकसम है, मनुष्य मन को अच्छी तरह शान्त और स्थिर कर उसी से उसको देख सकता है।

[1] गीता०—१८।६१

गीता में स्वयं भगवान् का वचन है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।[1]
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।[2]
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

वही पंडित है जो विनाश होते हुए मनुष्यों के बीच में, विनाश न होते हुए सब जीवधारियों में बैठे हुए परमेश्वर को देखता है।

सब ज्योतियों की वह ज्योति, समस्त अन्धकार के परे चमकता हुआ, ज्ञानस्वरूप, जानने के योग्य, जो ज्ञान से पहचाना जाता है, ऐसा वह परमात्मा सबका सुहृद्, सब प्राणियों के हृदय में बैठा है।

ऐसे घट-घट व्यापक उस एक परमात्मा की मनुष्य मात्र को विमल भक्ति के साथ उपासना करनी चाहिये; और यह ध्यानकर कि वह प्राणिमात्र में व्याप्त है, प्राणिमात्र से प्रीति करनी चाहिये। सब जीवधारियों को प्रेम की दृष्टि से देखना चाहिये। जैसा कि भक्त शिरोमणि प्रह्लादजी ने कहा है—

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः ।[3]
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे ॥
दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः ।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः ॥
एतानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ॥

अतएव, हे दानवों! सबको अपने ही समान सुख-दुःख होता है, ऐसी बुद्धि धारण कर सब प्राणियों के आत्मा और ईश्वर भगवान् श्री हरि की भक्ति करो! दैत्य, राक्षस, यक्ष, स्त्रियाँ, शूद्र, व्रजवासी गोपाल, पशु, पक्षी और अन्य पातकी जीव भी भगवान् अच्युत की भक्ति से निस्सन्देह मोक्ष को प्राप्त हो गये हैं। गोविन्द भगवान् के प्रति एकान्त भक्ति करना और चराचर समस्त प्राणियों में भगवान् है, ऐसी भावना करना ही इस लोक में सबसे उत्तम स्वार्थ है।

सनातनधर्म का मूल

भगवान्वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः ।
एतज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम् ॥

---

[1] गीता, १३-२७।
[2] गीता, १३-१७।
[3] श्रीमद्भागवत, ७।७।५३-५५।

यह ज्ञान कि भगवान् वासुदेव सब प्राणियों के हृदय में स्थित हैं, सम्पूर्ण सनातनधर्म का सदा से चला आता हुआ और सदा रहनेवाला मूल है। इसी ज्ञान को भगवान् ने अपने श्रीमुख से गीता में कहा है—

"समोऽहं सर्वभूतेषु" (९।२९)

'मैं सब प्राणिमात्र में एक समान हूं।' तथा यह कि—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।[1]
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, गौ-बैल में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में पण्डित लोग समदर्शी होते हैं; अर्थात् सुख-दुःख के विषय में उनको समानभाव से देखते हैं। तथा यह भी कि—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।[2]
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

जो पुरुष सबके सुख-दुःख के विषय में अपनी उपमा से समान दृष्टि से देखता है, उसी को सबसे बड़ा योगी समझना चाहिये।

इसीलिये महर्षि वेदव्यासजी ने कहा है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।[3]
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।[4]
एष सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते॥

सुनो! धर्म का सर्वस्व और सुनकर इसके अनुसार आचरण करो! जो अपने को प्रतिकूल जान पड़े, जिस बात से अपने को पीड़ा पहुँचे, उसको दूसरों के प्रति न करो!

दूसरे के प्रति हमको वह काम नहीं करना चाहिये जिसको यदि दूसरा हमारे प्रति करे तो हमको बुरा मालूम हो या दुःख हो। संक्षेप में यही धर्म है, इसके अतिरिक्त दूसरे सब धर्म किसी बात की कामना से किये जाते हैं।

---

[1] गीता० ५।१८।
[2] वही, ६।३२।
[3] विष्णुधर्मोत्तर० ३।२५५।४४।
[4] महाभारत, अनु० ११३।८।

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।[1]
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥

जो चाहता है कि मैं जीऊँ, वह कैसे दूसरे का प्राण हरने का मन करे? जो-जो बात मनुष्य अपने लिये चाहता है, उसको चाहिये कि वही-वही बात औरों के लिये भी सोचे।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, धर्म, जिनका सब समय में पालन करना सब प्राणियों के लिये विहित है और जिनके उल्लंघन करने से आदमी नीचे गिरता है, इन्हीं सिद्धान्तों पर स्थित हैं। इन्हीं सिद्धान्तों पर वेदों में गृहस्थों के लिये पञ्चमहायज्ञ का विधान किया गया है कि यदि भूल से भी किसी निर्दोष जीव की हिंसा हो जाय तो हम उसका प्रायश्चित करें। जो हिंसक जीव हैं, जो हमारा या किसी दूसरे निर्दोष प्राणी का प्राणघात करना चाहते हैं, या उनका धन हरना या धर्म बिगाड़ना चाहते हैं, जो हम पर या हमारे देश पर, हमारे गाँव पर आक्रमण करते हैं, या जो आग लगाते हैं, या किसी को विष देते हैं— ऐसे लोग आततायी कहे जाते हैं। अपने या अपने किसी भाई या बहिन के प्राण, धन, धर्म, मान की रक्षा के लिये ऐसे आततायी पुरुषों या जीवों का, आवश्यकता के अनुसार आत्मरक्षा के सिद्धान्त पर वध करना, धर्म है। निरपराधी अहिंसक जीवों की हिंसा करना अधर्म है।

इसी सिद्धान्त पर वेद के समय से हिन्दू लोग सारी सृष्टि के निर्दोष जीवों के साथ सहानुभूति करते आये हैं। गौ को हिन्दू लोग माता कहते हैं क्योंकि वह मनुष्य-जाति को दूध पिलाती हैं और सब प्रकार उसे उनका उपकार करती है। इसलिये उनकी रक्षा करना तो मनुष्यमात्र का विशेष कर्तव्य है। किन्तु किसी भी निर्दोष या निरपराध प्राणी को मारना, किसी का धन या प्राण हरना, किसी के साथ अत्याचार करना, किसी को झूठ से ठगना, ऊपर लिखे धर्म के परम सिद्धान्त के अनुसार अकार्य अर्थात् न करने की बातें हैं; और अपने समान सुख-दुःख का अनुभव करनेवाले जीवधारियों की सेवा करना, उनका उपकार करना, यह त्रिकाल में सार्वलौकिक सत्य धर्म है।

इसी मूल-सिद्धान्त के अनुसार वेद-धर्म के माननेवालों को उपदेश दिया गया है कि न केवल मनुष्यों को किन्तु पशु-पक्षियों तथा समस्त जीवों को बलिवैश्वदेव के द्वारा नित्य का आहार पहुंचाना अपना धर्म समझें। यह बात नीचे लिखे श्लोकों से स्पष्ट है।

---

[1] महाभारत, शान्ति० ५९।२२।

बलिवैश्वदेव के श्लोक[1]

ततोऽन्यदन्नमादाय भूमिभागे शुचौ पुनः ।
दद्यादशेषभूतेभ्यः स्वेच्छया तत्समाहितः ॥

देवा मनुष्याः पशवो वयांसि
सिद्धाः सयक्षोरगभूतसंघाः ।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता
ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥

पिपीलिकाः कीटपतंगकाद्याः
बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः ।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं
तेभ्यो विसृष्टं सुखिनो भवन्तु ॥

भूतानि सर्वाणि तथान्नमेत-
दहं च विष्णुर्न ततोऽन्यदस्ति ।
तस्मादहं भूतनिकायभूत-
मन्नं प्रयच्छामि भवाय तेषाम् ॥

चतुर्दशो भूतगणो य एष
तत्र स्थिता येऽखिलभूतसंघाः ।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया विसृष्टं
तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥

इत्युच्चार्य नरो दद्यादन्नं श्रद्धासमन्वितम् ।
भुवि भूतोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः ॥

और-और यज्ञों के करने के बाद मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार दूसरा अन्न लेकर पृथिवी के पवित्र भाग में रखे फिर सावधानता पूर्वक समस्त जीवों के लिए बलि दे; और यों कहे—"देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिद्ध, यक्ष, सर्प, नाग अन्य भूत-समूह, प्रेत, पिशाच तथा सम्पूर्ण वृक्ष एवं चींटी, कीड़े और पतंगे आदि जीव जो कर्म-बन्धन में बंधे हुए भूखे तड़प रहे हों और मुझसे अन्न

---

[1] विष्णु पुराण-३।११।५०-५२, ५४-५६ ।

चाहते हों, उनके लिए यह अन्न मैंने रख छोड़ा है, इससे उनकी तृप्ति हो और वे सुखी हों। सब जीव, यह अन्न और मैं—सब विष्णु ही हैं उनसे अन्य कुछ भी नहीं है, इस कारण मैं जीवों के शरीरभूत इस अन्न को उन प्राणियों की रक्षा के लिए देता हूं। यह जो चौदह प्रकार का भूतों का समुदाय है, इसमें जो सम्पूर्ण जीव-समूह स्थित हैं, उनकी तृप्ति के लिए मैंने यह अन्न दिया है। वे प्रसन्न हों।" मनुष्य यों कहकर प्राणियों के उपकारार्थ पृथिवी पर श्रद्धापूर्वक अन्न दे, क्योंकि गृहस्थ सबका आधार होता है।

इसी धर्म के अनुसार सनातन-धर्मी नित्य तर्पण करने के समय न केवल अपने पितरों का तर्पण करते हैं किन्तु समस्त ब्रह्माण्ड के जीवधारियों का। यह नीचे लिखे श्लोकों से विदित है, यथा—

देवाः सुरास्तथा यक्षाः नागा गन्धर्वराक्षसाः।[1]
पिशाचाः गुह्यकाः सिद्धाः कूष्माण्डास्तरवः खगाः॥
जलेचरा भूनिलया वाय्वाधाराश्च जन्तवः।
प्रीतिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाऽखिलाः॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया॥
ये बान्धवाऽबान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु यश्चास्मत्तोयमिच्छति॥

देवता, दैत्य, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, वृक्ष-वर्ग, पक्षिगण, जल में रहने वाले जीव, बिल में रहने वाले जीव, वायु के आधार पर रहने वाले जन्तु, ये सब मेरे दिये हुए जल से तृप्त हों। समस्त नरकों की यातना में जो प्राणी दुःख भोग रहे हैं, उनके दुःख शान्त करने की इच्छा से मैं यह जल देता हूं। जो मेरे बन्धु-बान्धव रहे हों और जो किसी और जन्म में मेरे बान्धव रहे हों, उनकी तृप्ति के लिए; और उनकी भी तृप्ति के लिए जो मुझसे जल पाने की इच्छा रखते हों, मैं यह जल अर्पण करता हूँ।

वैश्वदेव में जो अन्न कुत्ते और कौवों के लिये निकाला जाता है उसको छोड़कर शेष बलि की मात्रा बहुत कम होती है, इसलिये वह "सर्वभूतेभ्यः" सब प्राणियों को पहुंच नहीं सकता; तथापि यह जानते हुए भी—बलिवैश्वदेव का करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य इसलिए माना गया है कि वह इस पवित्र, उदार भाव को प्रकट करता है कि मनुष्य मानता है कि उसका सब जीवधारियों से

[1] विष्णु पु० ३।११।३३-३६।

भाईपने का सम्बन्ध है और इस भाव को आँसुओं के समान प्रेम के जल से नित्य सींचकर जगत् के आकाश मे जीवधारीमात्र मे परस्पर भाईपने का भाव स्थापित करने का उत्कृष्ट और प्रशंसनीय मार्ग है।

इस धर्म की उदारता की प्रशंसा कौन कर सकता है? इसकी उदारता इस धर्म के बड़े-से-बड़े परम पूजित आचार्य महर्षि वेदव्यास की, जो "सर्वभूतहिते रतः" सब प्राणियों के हित मे निरत रहते थे, इस प्रार्थना से भी प्रकट है कि—

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत् ॥

सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग रहें, सब सुख-सौभाग्य देखें, कोई दुखी न हो।

उसी धर्म के प्राणाधार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने सारे जगत् के प्राणियों को यह निमन्त्रण दे दिया है कि—"सब और धर्मों को छोडकर तुम मुझ एक की शरण मे आओ। मैं तुमको सब पापों से छुड़ा लूँगा। सोच मत करो।"

उन्होंने यह भी प्रतिज्ञा की है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।[1]
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

कि "मैं सब प्राणियों के लिये समान हूँ। न मैं किसी का द्वेष करता हूँ, न कोई मेरा प्यारा है। जो मुझको भक्ति से भजते हैं, वे मुझमे हैं और मैं उनमे हू, पापी-से-पापी भी क्यों न हो यदि वह और सबको छोड़कर मेरा ही भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। थोड़े ही समय मे वह धर्मात्मा हो जायगा और उसको शाश्वती शान्ति मिल जायगी। हे अर्जुन! मैं प्रतिज्ञा कर कहता हू, जो कोई मेरा भक्त है, उसका बुरा नहीं होगा। हे कुन्ती के पुत्र! मेरी शरण मे आकर जो पाप योनि से उत्पन्न प्राणी भी हैं और स्त्री, वैश्य और शूद्र—ये भी निश्चय सबसे ऊँची गति को पावेंगे।"

---

[1] गीता ९।२९-३२

धन्य हैं वे लोग जिनको इस पवित्र और लोक-प्रेम से पूर्ण धर्म का उपदेश प्राप्त हुआ है। मेरी यह प्रार्थना है कि इस ब्रह्म-ज्योति की सहायता से सब धर्मशील जन अपने ज्ञान को विशुद्ध और अविचल कर और अपने उत्साह को नूतन और प्रबल कर सारे संसार में इस धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करें और समस्त जगत् को यह विश्वास करा दें कि सबका ईश्वर एक ही है और वह अंश रूप से न केवल सब मनुष्य में किन्तु समस्त जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज; अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष और विटप सबमें समान रूप से अवस्थित है और उसकी सबसे उत्तम पूजा यही है कि हम प्राणिमात्र में ईश्वर का भाव देखें, सबसे मित्रता का भाव रक्खें और सबका हित चाहें। सार्वजनीन प्रेम से इस सत्य ज्ञान के प्रचार से ईश्वरीय शक्ति का संगठन और विस्तार करें। जगत् से अज्ञान को दूर करें, अन्याय और अत्याचार को रोकें और सत्य, न्याय और दया का प्रचार कर मनुष्यों में परस्पर प्रीति, सुख और शान्ति बढ़ावें ॥ इति शम् ॥

कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्

पं० मदनमोहन मालवीय

श्रीमद्भागवत में सूत जी शौनकादि ऋषियों से कहते हैं कि जैसे तली-तोड़ महासरोवर से सहस्रों छोटी-छोटी नहरें निकलती हैं उसी तरह सत्त्व गुण के समुद्र परमात्मा से असंख्य अवतार प्रकट होते हैं। नारद आदि ऋषि, स्वायंभुव आदि मनु, ब्रह्मा आदि देवता, कश्यप आदि प्रजापति—ये सब परमात्मा की कलाएँ हैं, ये सब नारायण के अंश रूप हैं और श्री कृष्ण जी तो साक्षात् भगवान् ही हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा है :—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

अर्थात् "यद्यपि मैं अजन्मा और अविनाशी हूं, न मेरा जन्म होता है न मरण; और सब प्राणिमात्र का स्वामी हूँ, तथापि अपनी प्रकृति में स्थित रह कर अपनी माया के बल से समय-समय पर प्रकट होता हूँ। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म अधिक बढ़ता है तब-तब मैं अपने को प्रकट करता हूँ। साधुवों की रक्षा के लिए, दुष्टों के विनाश के लिए और धर्म को भली प्रकार स्थापित करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।"

मैं बहुत चाहता हूँ कि भगवान् कृष्ण के विषय में जो मेरा विश्वास है उसका सारे जगत् में प्रचार करूँ। जो उनके चरण में मेरी श्रद्धा और भक्ति है, उसको मनुष्य मात्र के हृदय में स्थापित करूँ; किन्तु मैं अनुभव करता हूं कि मुझमें अभी इतनी योग्यता नहीं कि मैं इस ऊँचे मनोरथ को पूरा कर सकूँ; तथापि मैंने भक्तवत्सल भगवान् के चरणों में आश्रय ले लिया है, इसलिए मुझे भरोसा है कि एक दिन यह मेरा मनोरथ सिद्ध अवश्य होगा।

भगवान् कृष्ण की अवतार-कथा को सनातनधर्म के प्राण श्री वेदव्यास जी ने महाभारत में प्रचुर रूप से लिखा है; अथवा यों कहना चाहिए कि महा-

---

सनातनधर्म, वर्ष १ अ० ४।

भारत में श्रीकृष्ण का महात्म्य भरा हुआ है। आदि पर्व में पहली अर्थात् अनुक्रमणिका अध्याय में सूत जी ने कहा है :—

विस्तरं कुरु वंशस्य गांधार्या धर्मशीलताम्।
क्षत्तुः प्रज्ञां धृतिं कुन्त्याः सम्यक् द्वैपायनोऽब्रवीत्॥
वासुदेवस्य माहात्म्यं पांडवानां च सत्यताम्।
दुर्वृत्तं धार्त्तराष्ट्राणामुक्तवान् भगवानृषिः॥

अर्थात् ऋषि वेदव्यास जी ने महाभारत में कौरव-वंश का विस्तार, गांधारी की धर्मशीलता, विदुर की बुद्धिमत्ता, कुन्ती की धृति, कृष्ण-वासुदेव की महिमा, पाण्डवों की सचाई, धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि का दुष्ट चरित्र, बहुत अच्छी रीति से वर्णन किया है।

यह बात प्रसिद्ध है कि 'पराशर्यं वचः सत्यम्' वेदव्यास जी ने जो लिखा है, वह सत्य है। वेदव्यास जी श्रीकृष्ण के समकालीन थे और यह बात इस कथन का समर्थन करती है कि जो कुछ उन्होंने श्रीकृष्ण जी के विषय में लिखा है, वह ज्ञानपूर्वक लिखा है और इसलिए वह सत्य है। श्रीमद्भागवत् में भी वेदव्यास जी ने श्रीकृष्ण जी की महिमा और उनके पुण्य चरित को विस्तार के साथ वर्णन किया है। हरिवंशपुराण में, जो महाभारत के अन्तर्गत समझा जाता है और विष्णु पुराण में भी कृष्ण की कथा विस्तार के साथ वर्णित है।

जिन पुरुषों को भगवान् ने अपनी भक्ति दी है, जिनके हृदय को उन्होंने अपनी महिमा के ज्ञान से प्रकाश और आनन्द से परिपूर्ण कर दिया है, उनका यह धर्म है कि इस प्रकाश और आनन्द को सारे जगत् के प्राणियों में फैला दें।

भगवान् के अनुग्रह से और गुरुजनों की दया से मैंने इस अमृत का पान किया है और प्रायः नित्य करता हूँ और चाहता हूँ कि इसको सारे जगत् में बाँट दूँ, पर नहीं जानता कि कहाँ से प्रारम्भ करूँ, किधर जाऊँ? एक बात ध्यान में आती है कि जिसकी महिमा के ज्ञान का गान मैं गाना चाहता हूं, पहले उसके स्वरूप का स्मरण करूँ।

महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण और सब बड़े और छोटे ग्रंथ, जिनमें कृष्ण की महिमा लिखी गई है, एक स्वर से कहते हैं कि भगवान् कृष्ण के समान सुन्दर स्वरूप चौदह भुवनों में, तीन त्रिलोकों में कोई नहीं था। महाभारत के शान्ति पर्व के पैंतालिसवें अध्याय में वेदव्यास जी कहते हैं कि महाभारत के अन्त में जब पाण्डवों ने विजय प्राप्त कर लिया तब युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र को, गांधारी को और विदुर को राज्य निवेदन करके सुखी और स्वस्थ मन होकर बैठे तथा सब प्राणियों को और सारे नगर को प्रसन्न करके अञ्जलि जोड़ कर भगवान् कृष्ण के पास गये।

ततो महति पर्यंके मणिकाञ्चन भूपिते ।
ददर्श कृष्णमासीनं नीलमेघ समद्युतिम् ॥१३॥
जाज्वल्यमानं वपुषा दिव्याभरण भूपितम् ।
पीतकौशेयवसनं हेम्नेवोपगतं मणिम् ॥१४॥
कौस्तुभेनोरसिस्थेन मणिनाभिविराजितम् ।
उद्यतेवोदयं शैलं सूर्येणाभिविराजितम् ॥१५॥
नौपम्यं विद्यते तस्य त्रिपु लोकेपु किंचन ॥

अर्थात् "तब युधिष्ठिर जी ने एक बड़े पलंग पर जो मणि और सोने से भूपित था, कृष्ण जी को बैठे देखा जो नीले बादल के समान चमकते थे, जिनका शरीर तेज से झलमलाता था और दिव्य आभूपणों से भूपित था। पीतांबर को धारण किये हुए वे ऐसे दिखाई पड़ते थे जैसे सोने से घिरा हुआ नील मणि। उनके वक्षःस्थल पर जो कौस्तुभ मणि जगमगा रहा था उससे उनकी ऐसी शोभा थी जैसे उठते हुए सूर्य से उदय पर्वत की शोभा होती है। अधिक क्या कहें, तीन लोकों में कोई नहीं जिनसे उनकी उपमा दी जाय।

'परया शुशुभे लक्ष्म्या नक्षत्राणामिवोडुराट्'

कृष्ण परम शोभा से ऐसे शोभित थे, जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा।

ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्ध्या निश्चित्य वीर्यवान् ।
वार्ष्णेयं मन्यते कृष्णमर्हणीयतमं भुवि ॥२७॥
एप ह्येपां समस्तानां तेजो वलपराक्रमैः ।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिपामिव भास्करः ॥२८॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वात इव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥२९॥
तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् ।
उपजह्रेऽथ विधिवत् वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम् ॥३०॥

शान्तनु के वीर्यवान् पुत्र भीष्म ने बुद्धि से निश्चय करके कहा कि संसार में सबसे अधिक पूजा के योग्य कृष्ण हैं। सभा में बैठे समस्त पुरुषों के बीच में तेज, बल और पराक्रम से वे ऐसे चमकते दीख पड़ते हैं जैसे ग्रहों में सूर्य। जहाँ सूर्य न हो, वहाँ सूर्य के निकलने से जैसा प्रकाश हो जाता है; जहाँ वायु न चलती हो, वहाँ वायु के चलने से जैसा आनन्द हो जाता है; उसी

प्रकार हमारी यह सभा कृष्ण के यहाँ बैठने से जगमग ज्योति और आनन्द से परिपूर्ण हो गई है। श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध के तेंतीसवें अध्याय में शुकदेव जी कहते हैं:—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरंराजन् कृष्णदर्शनलालसाः॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखांबुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥

इस प्रकार से गोपियाँ गाती हुईं, अनेक प्रकार से प्रलाप करती हुईं, कृष्ण के दर्शन की लालसा से बड़े ऊँचे स्वर से रोईं। उस समय भगवान् वासुदेव मुस्कराते हुए पीताम्बर पहने माला गले में डाले उनके सामने प्रकट हुए। उनका सौन्दर्य ऐसा था कि उसको देखकर कामदेव भी मोहित हो। भीष्मपितामह जी भागवत के पहले स्कन्ध के नवें अध्याय में कहते हैं:—

त्रिभुवन कमनं तमालवर्णं रविकर गौर वरांवर दधाने।
वपुरलककुला धृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥

तीनलोक में सबसे सुन्दर, अलसी के फूल के समान नील वर्ण, सूर्य की किरण के समान पीले वस्त्र को पहने हुए और जिनका मुख कमल घुँघराले बालों से शोभित हो रहा है, अर्जुन के मित्र—ऐसे कृष्ण के चरणों में मेरी विमल भक्ति हो।

मैं आशा करता हूँ कि ऊपर जो कहा गया है उसको पढ़ने और विचारने से प्रत्येक पाठक को भगवान् कृष्ण के सुन्दर स्वरूप का ज्ञान हो जायगा।

भगवान् कृष्ण की महिमा

इस बात को मैं कई बार कई अवसरों पर कह चुका हूँ कि मनुष्य जाति के इतिहास में जितने पुरुषों की कथा संसार में विदित है, उनमे सबसे बड़े भगवान् श्रीकृष्ण हुए हैं। मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति का जितना ऊँचा विकास उनमें हुआ उतना किसी दूसरे पुरुष में नहीं हुआ। जैसा विमल ज्ञान और जैसी सात्त्विक नीति का उन्होंने उपदेश किया, वैसा किसी और ने नहीं किया। उनकी महिमा के विषय में सब अभिप्राय दो श्लोकों में आ गया है :—

सत्यव्रतौ महात्मानौ भीष्मव्यासौ सुविश्रुतौ।
उभाभ्यां पूजितः कृष्णः साक्षाद्विष्णुरिति ह्यलम् ॥
माहात्म्यं वासुदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः।
तमेव शरणं गच्छ यदि श्रेयोऽभिवाञ्छसि ॥

अर्थात् जिन भगवान् कृष्ण ने, अपने प्रकट होने के समय से अन्तर्धान होने के समय तक, साधुओं की रक्षा, दुष्टों का दमन, न्याय और धर्म की स्थापना आदि अनेक अद्भुत कर्म किए, उनका माहात्म्य केवल इसी बात से भली भाँति विदित है कि महाभारत के रचयिता श्री वेदव्यास और श्री भीष्मपितामह, जिनका सत्य का व्रत प्रसिद्ध है, जो भगवान् कृष्ण के समकालीन थे और इसलिये जो उनके गुणों से भली भाँति परिचित थे, दोनों ही माहात्माओं ने भगवान् कृष्ण को साक्षात् विष्णु मानकर पूजा। इसलिये जो लोग अपना मंगल चाहते हैं, उनको चाहिए कि भगवान् कृष्ण की शरण में आवें। कृष्ण की प्रतिज्ञा है :—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'

और सब धर्मों का भरोसा छोड़कर केवल मेरी शरण में आओ! मैं तुमको सब पापों से छुड़ा दूंगा, सोच मत करो!

महाभारत के सभापर्व में सैंतीसवें अध्याय मे वैशंपायन जी कहते हैं कि युधिष्ठिर जी के राजसूय यज्ञ के प्रारम्भ मे जब सब देवर्षि, महर्षि, आचार्य ऋत्विक्, स्नातक और मानने योग्य अनन्त पुरुषों की सभा मे युधिष्ठिर ने पूछा

'सनातनधर्म' साप्ताहिक, वर्ष २, अंक ७, ता० ३० अगस्त, सन् १९३४ (पूज्य मालवीय जी का भाषण)।

कि सबसे पहले किसकी पूजा की जाय, उस समय सनातनधर्म के स्वरूप भीष्मपितामह ने विचार कर कहा कि संसार में सबसे अधिक पूजा के योग्य कृष्ण हैं। शिशुपाल ने इस बात का विरोध किया। उस समय भीष्मपितामह ने जो कृष्ण की महिमा कही है, वह सभापर्व के अड़तीसवें अध्याय में वर्णित है। उसको पढ़ने ही से उनका महत्व ध्यान में आ सकता है। भीष्मपितामह ने कहा :—

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः ।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥६॥
ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः ।
तेषां कथयतां शौरे रहं गुणवतो गुणान् ॥१२॥
समागतानामश्रौपं बहून् बहुमतान् सतान् ।
कर्माण्यपि हि यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ॥१३॥
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे ।
न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम् ॥१४॥
न संबधं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ।
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ॥१५॥
यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुज्महे ।
न च कश्चिदिहास्माभिः सुबालोप्यपरीक्षितः ॥१६॥
गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ।
ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥१७॥
वैश्यानां धान्यधनवान् शूद्राणामेव जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥१८॥
वेदवेदांगविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा ।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥१६॥
दानं दाक्ष्यं श्रुतं वीर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥२०॥
तमिमं लोकसम्पन्नमाचार्यं पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संमन्तुमर्हथ ॥२१॥
ऋत्विग् गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिः प्रियः ।
सर्वमेतद् हृषीकेशेतस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥२२॥

केवल हमारे ही लिए कृष्ण सबसे अधिक पूजा के योग्य नहीं हैं बल्कि ये महापुरुष तो तीनों लोकों से पूजा पाने के योग्य हैं। मैंने बहुत से ज्ञानवृद्ध पुरुषों की सेवा की है, उनको इकट्ठा होकर श्रीकृष्ण के बहुत से गुणों को बखान करते सुना है और कृष्ण ने जन्म से जो-जो अद्भुत कर्म किए हैं उनको भी मैंने बहुत बार लोगों को कहते सुना है। हे शिशुपाल! हम कृष्ण की इसलिये पूजा करते हैं कि वे पृथिवी पर सब प्राणियों को सुख पहुँचाने वाले हैं और उनके यश को, उनकी शूरवीरता को और उनकी महिमा को समझ कर सत्पुरुषों ने उनको पूजा है, इसलिए हम उनकी पूजा करते हैं। ब्राह्मणों मे जिसका ज्ञान अधिक हो उसका मान होता है, क्षत्रियों मे जिसका बल अधिक हो, वैश्यों में जो धन-धान्य से सम्पन्न हो और शूद्रों का केवल उनके आचरण से मान होता है। कृष्ण के पूजनीय होने के दोनों ही कारण हैं—वेद-वेदाङ्ग का ज्ञान और सबसे अधिक बल। ससार मे ऐसा कौन है जो कृष्ण के समान गुण सम्पन्न हो? इनमे दानशीलता है, निपुणता है, शास्त्र का ज्ञान है, बल है, नम्रता है, यश है, उत्तम बुद्धि है, विनय है, लक्ष्मी है, धैर्य है, सन्तोष है, हृष्टि-पुष्टि है। ये सब गुण सदा केशव मे पाए जाते हैं। ये आचार्य, पिता, गुरु, अर्घ्य पाने के योग्य, पूजे हुए और पूजा के योग्य, प्रजापालक और लोकप्रिय हैं, इसलिये हमने इनको पूजा के योग्य माना है।

कृष्ण का प्रथम गुण जिस पर इस समय मैं पाठकों का ध्यान खीचूँगा, वह उनकी धर्म मे दृढता है। स्वय भगवान् ने उद्योग पर्व में कहा है:—

नाहं कामान्न संरंभान्न द्वेषान्नार्थकारणात्।
न हेतुवादाल्लोभाद्वा धर्मं जह्यां कथंचन॥

—कि मैं काम से या क्रोध से या द्वेष से या धन के कारण या हेतुवाद के वश या लालच से धर्म को कभी नहीं छोड सकता। इस बात की पुष्टि राजा युधिष्ठिर ने भी की है। भगवान् कृष्ण के विषय में उनका वचन है:—

यो वै न कामान्न भयान्न लोभान्नार्थ कारणात्।
अन्यायमनुवर्तेत स्थिरबुद्धिरलोलुपः॥
धर्मज्ञो धृतिमान् प्राज्ञः सर्वभूतेषु केशवः।
ईश्वरः सर्वभूतानां देवदेवः सनातनः॥

—कि जो न काम से, न भय से, न लोभ से, न धन के कारण कभी अन्याय का अनुवर्त्तन करते हैं, जिनकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है और जिनमें लालच का दोष नहीं है, ऐसे कृष्ण—धर्म के जानने वाले, धृतिमान, सब प्राणियों में बुद्धिमान् और सब प्राणियों में श्रेष्ठ देवताओं के देव और पूजनीय हैं।

जन्म के समय परीक्षित निष्प्राण बालक हुआ था। उसको भगवान् कृष्ण ने अपने योग बल से जिला दिया था। उस समय का भगवान् का वचन है कि, 'जैसे सत्य और धर्म मुझमें प्रतिष्ठित रहते हैं; अर्थात् मैं कभी सत्य और धर्म से विरुद्ध नहीं चलता, यदि यह बात सत्य है तो यह अभिमन्यु का मरा हुआ बालक जी उठे'। धर्म को कृष्ण भगवान् सबसे ऊपर मानते थे। इस बात का यह भी प्रमाण है कि जब छः महीने तपस्या के उपरान्त शिव जी ने भगवान् कृष्ण को दर्शन दिया और कहा कि इच्छा के अनुसार वरदान माँगो, तो पहला वरदान कृष्ण ने 'धर्मे दृढत्वं' अर्थात् सदा धर्म में दृढ़ता का वरदान माँगा।

दूसरा गुण भगवान् का सत्य का प्रेम है। द्रौपदी के उत्तर में भगवान् कृष्ण ने स्वयं उद्योग पर्व में कहा है :—

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा भवेत् ।
द्यौः पतेत सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत् ॥

हिमवान् पर्वत चल जाय तो चल जाय, पृथ्वी सौ टूक हो जाय तो हो जाय, आकाश नक्षत्रों के साथ पृथ्वी पर गिरे तो गिरे, मेरा वचन निष्फल नहीं हो सकता। इसीलिये उद्योग पर्व में अर्जुन ने कहा है :—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, जहाँ लज्जा है, जहाँ ऋजुता है, वहाँ गोविन्द हैं। जहाँ गोविन्द हैं, वहाँ विजय है।

भगवान् का तीसरा गुण जिसका मैं पाठकों को स्मरण कराना चाहता हूं, वह अक्रोध है। वह क्रोध के वश कभी नहीं होते थे। उद्योगपर्व में लिखा है :—

सत्कृतोऽसत्कृतो वाऽपि न क्रुध्येत जनार्दनः ।
नाऽलमेनमवज्ञातुं नावज्ञेयो हि केशवः ॥

उनका कोई सत्कार करे या न करे, कृष्ण कभी क्रोध नहीं करते थे। उनका अनादर कोई नहीं कर सकता था। उनका अनादर करना सम्भव ही नहीं था।

कृष्ण का चतुर्थ गुण—उनका असीम धैर्य था। किसी अवस्था में भी कृष्ण घबराए नहीं। कितने ही शत्रुओं के बीच में क्यों न हों, कैसा ही संकट क्यों न दिखाई पड़ता हो, उनका धैर्य कभी नहीं डिगता था। तभी अर्जुन ने कहा था :—

अनंततेजा गोविन्दः शत्रुपूगेषु निर्व्यथः ।
पुरुषः सनातनतमो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

कृष्ण के तेज का वारापार नहीं था। कितने ही शत्रुओं से वे घिरे हों, उसके कारण उनके चित्तमें कभी घबराहट नहीं होती थी। वे सनातन पुरुष थे—परमात्मा के रूप थे। जहाँ कृष्ण थे वहाँ विजय निश्चित थी।' संक्षेप में, भगवान् कृष्ण के अनन्त गुणों का वर्णन करना संभव नहीं है इसलिये इस प्रयास को मैं यहीं समाप्त करता हूं।

दुर्योधन और अर्जुन—दोनों से भगवान् कृष्ण का सम्बन्ध था। जब यह निश्चय हो गया कि महाभारत होगा तो दुर्योधन और अर्जुन—दोनों ने कृष्ण से सहायता माँगी, भगवान् ने कहा कि 'मैं लड़ाई में हथियार नहीं उठाऊँगा—चाहे एक मुझ निहत्थे को लेलो, चाहे बड़ी सेना ले लो'। दुर्योधन ने सेना और अर्जुन ने निहत्थे कृष्ण को माँगा। भगवान् अपने भक्त अर्जुन के साथ युद्ध में सदा रहने के लिए और उनको उत्साह देने के लिए, उनके सारथी बने। जब महाभारत में दोनों दलों की सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हो गईं और सम्बन्धियों तथा मित्रों को लड़ने के लिए और मरने के लिए तैयार देखकर अर्जुन के मनमें विषाद हुआ कि लड़ाई न लड़ें, तब भगवान् कृष्ण ने उनको वह ऊँचा उपदेश दिया जो भगवद्गीता के नाम से जगत् को पावन कर रहा है। उसी उपदेश का फल था कि अर्जुन के हृदय का सब सन्देह मिट गया और वे लड़ने के लिए खड़े हो गए तथा उन्होंने विजय प्राप्त की। अर्जुन और कृष्ण के इस सम्बन्ध को और उसके लोकोत्तम फलको भगवान् वेद व्यास ने गीता के नीचे लिखे श्लोक में कूजे में मिश्री के समान भर दिया है :—

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हों, जहाँ गांडीवधारी अर्जुन हों, जहाँ मस्तिष्क-बल, हृदय-बल और बाहुबल एकत्र हों—वहाँ लक्ष्मी है, वहाँ विजय है, वहाँ विभूति है और निश्चित नीति है।

कृष्ण प्राणी-प्राणी के हृदय में बैठे हुए हैं। स्वयं भगवान् का वचन है :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में बैठा है। इस बात को स्मरण रखते हुए कि ईश्वर हृदय में बैठा हुआ है और गांडीवधारी अर्जुन के समान बाहुबल का प्रयोग करते हुए—जो प्राणी धर्म-युद्ध उपस्थित होने पर क्रोध और अमर्ष को छोड़कर युद्ध करेगा, वह अवश्य विजय पावेगा।

भगवान् कृष्ण में भीष्मपितामह की कैसी भक्ति थी यह भीष्मस्तवराज से, जिसके द्वारा भीष्म ने मरने के समय भगवान् कृष्ण की स्तुति की थी और जो स्तोत्रों में एक अति उत्तम स्तोत्र है, विदित है। उस स्तोत्र से मैं केवल दो श्लोक लेकर वक्तव्य समाप्त करता हूं।

अतसी पुष्प संकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥
नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

तीसी के फूल के समान जिसका वर्ण है, जो पीताम्बर को धारण किए हुए है, ऐसे अच्युत गोविन्द को जो नमस्कार करते हैं उनको किसी प्रकार का डर नहीं रहता है। जो ब्रह्मण्यदेव हैं, गो, ब्राह्मण के हित की रक्षा और उपकार करनेवाले हैं, जो सारे जगत् के प्राणियों का हित करनेवाले हैं, ऐसे कृष्ण को मैं बार-बार नमस्कार करता हूं।

कृष्णः शरणदः सताम्

सच्चिदानन्दरूपाय स्थित्युत्पत्त्यादिहेतवे।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः॥

भले लोगों को शरण देने वाले, सत् चित् आनन्द स्वरूप, संसार के सृजन, पालन और संहार के कारण; और आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—तीनों तापों के दूर करने वाले भगवान् कृष्ण को हम लोग प्रणाम करते हैं।

मैं कितनी वार कितने ही अवसरों पर यह कह चुका हूं कि जहाँ तक इतिहास बताता है, संसार में जिन पुरुषों ने मनुष्य का शरीर धारण किया है, उनमें सब प्रकार से, सबसे उत्तम पुरुष भगवान् कृष्ण हुए हैं। जितना ही मैं कृष्ण चरित्र का मनन करता हूँ, उतना ही यह विश्वास अधिक दृढ़ होता जाता है और मेरे हृदय में यही उत्कण्ठा होती है कि किस प्रकार से भगवान् के अनन्त गुणों और उनके पवित्र उपदेशों का ज्ञान समस्त प्राणियों मे फैला दूँ? जैसे मनुष्य कितनी ही बार अमृत पान कर फिर अमृत पीने के लिये ही इच्छा करता है, वैसे ही भगवान् कृष्ण के दिव्य चरित्र को बार-बार स्मरण करने पर भी उसके रस का जाननेवाला भक्त उनके नाम और गुणों के कीर्त्तन करने से तृप्त नहीं होता है। संसार के लिए यह मंगल की बात है कि भगवान् के दिव्य चरित्र का और उनके अमृतमय उपदेश का ज्ञान समस्त संसार मे फैलाया जाय।

इस समय मैं भगवान् की अलौकिक वाललीला की चर्चा न करूँगा। वह लीला तो युग-युगान्तर से करोड़ों प्राणियों के कण्ठ से गाई गई है। आज भी अनगिनत प्राणियों के कण्ठों से निकलकर मनुष्यों का अनन्त उपकार कर रही है।

आज मैं कृष्णचरित्र के कुछ प्रधान-प्रधान रूप और उपदेशों के प्रति पाठकों का ध्यान खीचूँगा। भगवान् कृष्ण, रूप मे और गुणों में, तीनों लोकों मे सबसे श्रेष्ठ थे। वेदव्यास और भीष्मपितामह—ये दोनों सनातन हिन्दू-धर्म के प्राणाधार हैं। आज भारतवर्ष में जो सनातनधर्म विद्यमान है वह व्यास और भीष्म के अमृतमय उपदेशों के आधार पर ही स्थापित है। मैं पहले कह चुका हू कि कृष्ण की महिमा इसी बात से स्पष्ट है कि व्यास और भीष्म जो कि सत्य के प्रसिद्ध प्रेमी तथा महान् आत्मा थे और जिनके समय मे कृष्ण हुए थे, उन्होंने

'सनातनधर्म' साप्ताहिक पत्र, वर्ष ३, अक ४, ता० १८ अगस्त, १९३५ ई०।

कृष्ण को विष्णु मानकर पूजा। महाभारत के दो श्लोकों में संक्षेप से यह भाव दिखा दिया है :—

सत्यव्रतौ महात्मानौ भीष्मव्यासौ प्रकीर्तितौ।
उभाभ्यां पूजितः कृष्णः साक्षाद्विष्णुरिति ह्यलम् ॥
माहात्म्यं वासुदेवस्य पुण्यस्याक्लिष्टकर्मणः।
तमेव शरणं गच्छ यदि श्रेयोभिवाञ्छति ॥

कृष्ण-चरित्र के पढ़ने के पूर्व हमको भीष्मका चरित्र पढ़ना आवश्यक है। भीष्म, व्यास और कृष्ण—ऐसे तीन महापुरुष एक समय में कहीं दूसरी बार पकट नहीं हुए।

भीष्म की महिमा का वर्णन भगवान् कृष्ण ने स्वयं अपने मुख से बड़े प्रेम और सम्मान के साथ किया है। शान्ति पर्व में, जब भगवान् कृष्ण ने भीष्म से कहा कि आप युधिष्ठिर को धर्म का उपदेश करें तो भीष्मपितामह ने कहा कि आपके रहते मैं क्या उपदेश करूँ। तब भीष्म ने पूछा :—

मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः।
भवतो वा गुणैर्युक्तः पृथिव्यां पुरुषः क्वचित् ॥
त्वं हि सर्वगुणै राजन् देवानप्यतिरिच्यसे।
तपसा हि भगवान् शक्तः स्रष्टुं लोकांश्चराचरान् ॥
किं पुनश्चात्मनो लोकानुत्तमानुत्तमैर्गुणैः ॥

इसपर भगवान् कृष्ण ने कहा कि हे महाबाहो! मैंने इसीलिये आप में अपनी विपुल बुद्धि रखदी है जिससे आप ही धर्म का उपदेश करें। जबतक पृथिवी रहेगी तबतक आपकी कीर्ति अटल रहेगी। उन भीष्मपितामह का सत्य का प्रेम प्रसिद्ध है। उन्होंने अपनी माता और पिता को जो वचन दिया था उसका जन्म-भर प्रतिपालन किया। उन भीष्मपितामह ने अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करके जगत में अपूर्व कीर्ति पाई है। उसी स्थल पर भीष्म के प्रति भगवान् कृष्ण ने कहा :—

त्वं हि धर्ममयो निधिः सर्वभूतहिते रतः।
स्त्रीसहस्रैः परिवृतं ब्रह्मचर्यव्रते स्थितम् ॥

ऐसे भीष्मपितामह ने कसौटी के समय में भी कृष्ण को साक्षात् भगवान् कहकर पूजा है। जब युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था, उस समय भीष्मपितामह ने पाण्डवों को यह उपदेश दिया था कि सबसे पहले भगवान् कृष्ण का पूजन होना चाहिए और उसके समर्थन में भीष्मपितामह ने कहा था—

एष ह्येषां समस्तानां तेजो बलपराक्रमैः ।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वात इव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥

फिर आगे कहा था कि—

पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ।
वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा ॥
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ।

इस बात को धर्मराज युधिष्ठिर ने भी कहा था—

यो वै न कामान्न भयान्न लोभान्नान्य कारणात् ।
अन्यायमनुवर्तेत स्थिरबुद्धिरलोलुपः ॥
धर्मज्ञो धृतिमान् प्राज्ञः सर्वभूतेषु केशवः ।
ईश्वरः सर्वभूतानां देवदेवः सनातनः ॥

भीष्मपितामह के इस विश्वास की दृढता और सचाई की कसौटी यह है कि उन्होंने प्राण छोडने के समय भगवान् कृष्ण का ध्यान किया और भगवान् उनके सामने आकर खड़े हो गए। उस मरण के समय जब कि मनुष्य को अनेक प्रकार की सांसारिक चिन्ताएँ व्याकुल करती हैं, उस समय पितामह ने भगवान् कृष्ण की ऐसी स्तुति की जिसकी बराबरी का उदाहरण आज तक नहीं मिला।

भीष्मपितामह ने अपने विश्वास और सचाई को इसीसे प्रकट किया है कि भगवान् कृष्ण के सामने आते ही उन्होंने उनकी ही स्तुति की।

आरिराधयिषुः कृष्णं वाचं जिगमिषामि याम् ।
तया व्याससमासिन्या प्रीयतां पुरुषोत्तमः ॥

फिर अन्त में कहा कि :—

इति विद्या तपो योनिरयोनिर्विष्णुरीडितः ।
वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः ॥

और वैशम्पायन जी कहते हैं—

एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः ।
नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत्तदा ॥
भवतु मे कृष्णपदं शरणं जरामरणहरणम् ।

भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन के कुछ उपदेश

जैसे शरीर रक्षा के लिए भोजन आवश्यक है उसी प्रकार मनुष्य को आध्यात्मिक भोजन की भी आवश्यकता है। इसलिए जैसे स्कूल और विद्यालयों में दर्शन, गणित, साहित्य, भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि विषय पढ़ाये जाते हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक शिक्षा भी मिलनी चाहिए। जैसे अंधेरे में दीपक पास होने से मनुष्य ठोकर नहीं खाता वैसे ही आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त मनुष्य धर्म के दीपक (लालटेन) के सहारे संसार में कष्टों से बचता हुआ जीवन बिताता है। महाभारत में लिखा है :—

सत्याधारस्तपस्तैलं दया वर्त्तिः क्षमा शिखा।
अंधकारे प्रवेष्टव्ये दीपो यत्नेन धार्यताम्॥

अर्थ यह है कि जिस धर्म-दीप का आधार सत्य है, तैल तप है, बत्ती दया है और टेम क्षमा है, संसार के अंधकार में प्रवेश करने के लिए इस दीप को यतन के साथ बरता रखना चाहिए।

जिस मनुष्य को धर्म के दीप का सहारा नहीं है, जो अपने जीवन के व्यवहार में अच्छे नियमों का पालन नहीं करता, वह अनेक कष्ट उठाता है। वह चोरी करेगा—कारागार जायेगा। बुरा व्यवहार करेगा—दंड पायेगा। पाप करेगा—उसका बुरा फल भोगेगा। संसार में बड़े-बड़े जंगल हैं। मार्ग में बड़े-बड़े पत्थर पड़े हैं, नाले हैं, नदी हैं, बिना धर्म की ज्योति के मनुष्य अपने को बचा नहीं सकता। जैसे मोटर में लालटेन न हो तो मोटर कहीं गड्ढे में गिर जाय, कहीं किसी मनुष्य या गौ बैल से टक्कर खा जाय, किसी को कुचल दे और टक्कर से स्वयं नष्ट भी हो जाय, ऐसे ही धर्म के लंप के बिना जीवन के मोटर की दशा होती है। अब कितने लोग एक नई बत्ती (टार्च) रखते हैं। उससे आवश्यकतानुसार जब चाहें तब प्रकाश कर लेते हैं। उसको हाथ में लेकर निर्भीक जहाँ चाहते हैं, चले जाते हैं। इसी प्रकार अपनी और दूसरों की रक्षा के लिए प्रत्येक प्राणी को धर्म के दीपक की आवश्यकता है। बिना उसके पद-पद पर संकट का डर है।

धर्म के दीपक दो प्रकार के होते हैं—एक तो बड़ों के वचनों का उपदेश और दूसरा बड़ों के आचरण का उपदेश। आचरण का उपदेश वचनों के उपदेश से भी अधिक प्रभावशाली होता है। इस आचरण के उपदेश के लिए समय-समय

सनातनधर्म, वर्ष १, अंक ५, हिन्दू विश्वविद्यालय में जन्माष्टमी पर पूज्य मालवीय जी की कथा से।

पर बड़े बड़े महापुरुष आये हैं, आते हैं और आवेंगे। इन महापुरुषों में सबसे बड़े भगवान् कृष्ण थे जिनके गुणों का हम आज स्मरण कर रहे हैं। उन्होंने अपने आचरण से और वचनों से जो उपदेश जगत् को किया है उसकी कोई उपमा नहीं। उनकी महिमा का वर्णन करना कठिन है। भगवान् ने अपने श्री मुख से कहा है कि:—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

साधुओं की रक्षा, पापियों का विनाश और धर्म की स्थापना—ये तीन उनके अवतार के प्रयोजन थे। उनके जन्म से लेकर अन्तर्धान के समय तक ये ही तीन उनके कार्य रहे, इसी के सम्पादन में "जहाँ जहाँ भीर परी भक्तन पे, पाँव पियादे धाये।" आदि से अन्त तक यह व्रत उन्होंने सदा एक रस पाला। जन्म से ही पूतना, अघासुर, बकासुर आदि जो दुष्ट ब्रज में आये उनको भगवान् ने एक-एक करके समाप्त किया। कालिया से वृन्दावन को भयंकर कष्ट था, उसने यमुना के एक ह्रद में विष फैला रक्खा था, बालक होते हुए भी कृष्ण में बुद्धि, बल और ज्ञान का इतना प्रबल प्रकाश था कि निःशंक कालिया से दूषित जल में कूद पड़े और उसके सिर पर अलौकिक नृत्यकर उसे शिथिलकर उसको ब्रज से निकाल दिया। इसी प्रकार की अनेक कृष्ण की बाल लीलायें हैं जिनसे उनका महत्त्व प्रकाशित होता है और जिनको स्मरण कर हमको आनन्द और उपदेश प्राप्त होता है कि सदा निडर रहना, धृति और उत्साहपूर्वक कर्तव्य कार्य को करना, सामर्थ्य भर अन्याय और अत्याचार से धर्मपूर्वक संग्राम करना; न्याय और सत्य, दया और धर्म का सर्वथा सर्वभावेन समर्थन करना हमारा धर्म है।

कुछ लोगों का कहना है कि उनको महाभारत के कृष्ण में तो श्रद्धा है किन्तु भागवत के कृष्ण में नहीं, किन्तु यह भेद-भाव भ्रममूलक है। कृष्ण की बाल लीला अलौकिक थी, इस बात में महाभारत साक्षी है। यह स्मरण रखना चाहिए कि:—

न ह्यमूला जनश्रुतिः

लोक में जो बात प्रसिद्ध होती है वह निर्मूल नहीं होती। वन पर्व में कृष्ण की प्रशंसा करते हुए अर्जुन ने कहा है:—

नैवं पूर्वे नापरे वा करिष्यन्ति कृतानि वा ।
यानि कर्माणि देव त्वं बाल एव महाबलः ॥
कृतवान् पुंडरीकाक्षः बलदेव सहायवान् ।

—कि जिन आश्चर्यमय कर्मों को बलदेव की सहायता से आपने बालकपन में ही किया है, ऐसा न किसी दूसरे ने किया है, न करेगा। सभापर्व में भीष्मपितामह ने कहा है:—

कर्माण्यपि हि यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः।
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूपः श्रुतानि मे॥

श्रीकृष्ण ने जन्म से जो अद्भुत काम किये हैं उनकी प्रशंसा मैंने बहुत बार मनुष्यों से सुनी है।

कंस-वध

कृष्ण के जन्म के पहले ही से कंस ने अत्याचार आरम्भ किया था—वह प्रजा को सब प्रकार से पीड़ा पहुँचाता था, गौ, ब्राह्मण, शिशु और दीन प्रजा को अनेक प्रकार की यातना से पीड़ित करता था। कृष्ण के छः पूर्व भाई और एक बहिन को उनके जन्म के साथ ही मार चुका था। कृष्ण के जन्म होने के समय से पूतना, तृणावर्त, अघ, बक, केशी, प्रलंभ इत्यादि दुष्टों के द्वारा कृष्ण और बलराम को मारने के सब उपाय कर चुका था। इन सब उपायों के करने पर भी जब सफल नहीं हुआ तब उसने निश्चय किया है कि कृष्ण और बलराम को मल्लयुद्ध के लिये मथुरा बुलावें और जब वे रंगभूमि में आने लगें तब उनको कुवलयापीड़ हाथी के द्वारा कुचलवाकर मरवा दें और उससे बचें तो चाणूर और मुष्टिक महामल्लों के द्वारा उनसे मल्लयुद्ध—कुश्ती कराके उनको समाप्त करें।

कृष्ण-बलराम ने कंस का निमंत्रण प्रसन्नता से स्वीकार किया। वे मथुरा गये। जब वे मल्लभूमि में प्रवेश करने लगे तो कंस की आज्ञा से हाथीवान ने कुवलयापीड़ हाथी से दोनों को कुचलवाना चाहा, किन्तु कृष्ण जी ने अपने अलौकिक बाहुबल से उस हाथी को और हाथीवान को भी समाप्त कर दिया। इसके उपरान्त चाणूर को कृष्ण और मुष्टिक को बलराम ने मल्लयुद्ध में परास्त कर समाप्त किया। उपरान्त कंस ने अपने आदमियों से कहा कि निकाल दो इन दो आदमियों को, बाँध लो नन्द को, मार डालो वसुदेव को! मेरा पिता उग्रसेन भी इनके साथ मिला हुआ है, उसको भी मारो! जब कंस इस प्रकार अनर्थ प्रलाप करने लगा तो भगवान् कृष्ण रंगभूमि से कूदकर उसके मञ्च पर चढ़ गये। उसकी चोटी पकड़कर उन्होंने उसको नीचे पटक दिया और उसके पापी जीवन को समाप्त कर दिया।

भगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा है कि—यथा कंसश्च केशीच धर्मेण निहतौ मया—मैंने कंस और केशी को धर्म से मारा—उन्हों ने जब कभी किसी को मारा तो आततायी और अत्याचारी को ही, और मारा धर्म के अनुसार ही।

जरासन्ध-वध

इसी प्रकार धर्मानुसार भगवान् ने महाबली राजा जरासंध का वध कराया। जरासंध के बल की प्रशंसा कृष्ण भगवान् ने स्वयं अपने मुख से की है। युधिष्ठिर से कहा था कि युद्ध में

जयेद्यश्च जरासंधं स सम्राद् नियतं भवेत्

जो जरासंध को जीते वही सम्राट हो और यह भी कहा कि :—

न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः।
प्राणयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे॥
मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिताचावयोर्जयः।
मागधं साधयिष्यामः इष्टिं त्रयइवाग्नयः॥

सब देवता-असुर मिलकर भी रण में जरासंध को नहीं जीत सकते हैं, उसको प्राण युद्ध से जीतना चाहिए। इसलिये आप भीम और अर्जुन को मेरे साथ करें। हम तीनों जाकर उसको जीत आवेंगे। भीम और अर्जुन को लेकर कृष्ण भगवान् जरासंध के पास गये और उससे कहा कि—

मनुष्याणां समालंभो न च दृष्टः कदाचन।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम्॥
ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्त्तानुसारिणः।
ज्ञाति वृद्धि निमित्तार्थं विनिहन्तुमिहागताः॥
मावमंस्थाः परान् राजन्नस्ति वीर्यं नरे नरे।
समं तेजस्त्वया चैव विशिष्टं वा नरेश्वर॥
त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युद्धयस्व मागध।
मुञ्च वा नृपतीन् सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम्॥

अर्थात् मनुष्यों का बलिदान कभी नहीं देखा गया। तुम कैसे मनुष्य का बलिदान देकर शिव जी का पूजन करते हो? शिव जी को प्रसन्न करना चाहते हो, तो राजन्! दूसरों का अनादर मत करो! प्राणी-प्राणी में तुम्हारे समान तेज है; या तुमसे अधिक भी। हम तुमको ललकारते हैं। युद्ध के लिए स्थिर हो जावो! जरासंध ने भीम से लड़ना स्वीकार किया और कृष्ण जी की प्रेरणा और उत्साहवर्धक शब्दों से प्रोत्साहित होकर भीम ने जरासंध का प्राण समाप्त कर दिया। यदि जरासंध मनुष्य का बलिदान करना बन्द कर देता और राजाओं को छोड़ देता तो कृष्ण कभी उसके प्राण हनन का विचार न करते।

शिशुपाल-वध

इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने धर्म के अनुसार शिशुपाल को मारा। राजसूय यज्ञ के अन्त में जब राजाओं के सम्मान करने का समय आया तब वहाँ नारदादि महर्षि, राजर्षि, देवर्षि, ब्राह्मण, क्षत्रिय और सब प्रकार के गण्यमान्य जन उपस्थित थे। उस समय भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से कहा कि राजाओं का यथायोग्य अर्घ्य से सत्कार करो और इनमें जो सबसे श्रेष्ठ हैं उन्हें पहले अर्घ्य दो! युधिष्ठिर ने पूछा कि इनमें से सबसे श्रेष्ठ आप किनको मानते हैं ? भीष्म-पितामह ने कहा कि इन सबमें सबसे अधिक पूजा के योग्य कृष्ण हैं। इस सभा में जितने लोग बैठे हैं उन सबमें ये अपने तेज, बल, पराक्रम से ऐसे चमकते हैं जैसे ग्रहों में सूर्य। यह बात शिशुपाल को बहुत बुरी लगी और उसने भीष्म, युधिष्ठिर और कृष्ण की बहुत निन्दा की। भीष्म ने शिशुपाल को बहुत समझाया पर जब वह कृष्ण की और भीष्म की कड़वे से कड़वे शब्दों में निन्दा ही करता गया तो भीष्म ने कहा कि जिसकी मरने की इच्छा हो वह कृष्ण को ललकारे। इस पर शिशुपाल ने कृष्ण को ललकारा और भगवान् ने सब राजाओं के सामने कहा :—

दिष्ट्या हीदं सर्व राज्ञां सन्निधावद्य वर्तते।
पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम्॥
शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत्क्षमितं मया।
अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने॥
दत्तं मया याचितं च तद्वै पूर्णं हि पार्थिवाः।
अधुना मारयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम्॥
एवमुक्त्वा यदुश्रेष्ठश्चेदिराजस्य तत्क्षणात्।
व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणामित्रकर्षणः॥

राजाओं! संयोग से शिशुपाल आज आप सब ही राजाओं की उपस्थिति में है और आप ने देखा कि इसने मेरे प्रति कितना अनुचित व्यवहार किया है ? मैंने इसकी माता की प्रार्थना पर वचन दिया था कि मैं इसके सौ अपराध क्षमा करूंगा, उसके अनुसार मैं इसके सौ अपराध क्षमा कर चुका हूँ। मेरा वचन पूर्ण हो चुका है। अब मैं आप सबके देखते हुए इसको दण्ड देता हूँ और इतना कहकर सुदर्शन चक्र के द्वारा उसको समाप्त कर दिया। इसलिये भीष्म और द्रोण आदि महापुरुषों ने कहा है कि :—

यतो धर्मस्ततः कृष्णः यतः कृष्णस्ततोजयः।

जहाँ धर्म है वहाँ कृष्ण हैं, जहाँ कृष्ण हैं वहाँ विजय है।

जन्माष्टमी के उत्सव में भाषण

पूज्य मालवीयजी ने सब वक्ताओं को धन्यवाद देते हुए कहा कि भक्तिरस के प्रवाह का जो आनन्द इस समय मिल रहा है उसे हटाना और दूसरा भाषण देना ठीक नहीं। मुझे ऐसी शीतलता मिली कि हृदय परमानन्द के सुख में डूब गया। मुझे शक्ति नहीं कि कुछ कहूँ। हमलोग भाग्यशाली हैं जो ऐसे आनन्द को ले रहे हैं। सब प्रान्तों के व्यक्ति एकत्र हैं और जन्माष्टमी का उत्सव मना रहे हैं। अध्यात्म सुख सब सुखों से ऊँचा है। राधा बेटी और भक्त मीरा ने परमानन्द लिया है। ललिता ने ठीक कहा था कि हे राधा! कृष्ण प्रेम बड़ा कठिन है। आजीवन रोना है। रोने में परम सुख है।

हम जैसा चित्र देखते हैं वैसा भाव सामने आ जाता है। कसाई को देख उसके नीच कर्मों का दृश्य दीख जाता है, एक ज्ञानी साधु को देख कर सदाचार और शान्ति का ध्यान आता है। कृष्ण का नाम लेने से पवित्रता, सद्भाव और अलौकिक लीलाओं का दृश्य दीखने लगता है। एक बूँद तेल जैसे पानी पर फैल जाता है वैसे एक बार नाम लेने से शरीर आनन्द में डूब जाता है।

रावण ने भी रामरूप बनाया तो उसे राम की भावना हो गई। वह परस्त्री को मातावत् देखने लगा। उसकी दुष्टता लुप्त हो गई, तब भक्तों का क्या कहना? जो परमात्मामय हो जाते हैं। वीर का नाम लेने से वीरता का चित्र खिंच जाता है। यह धर्म भावना लालटेन है जो जीवन में प्रकाश देती है। अन्धकार में मार्ग बताती है। पवित्र मूर्ति का ध्यान, नामस्मरण और कीर्तन हृदय को परमात्मा की ओर ले जाते हैं। पवित्र स्थान में पवित्र होकर जाने से हृदय पवित्र हो जाता है। शरीर की जैसी शुद्धि करते हैं वैसी मन की शुद्धि परमात्मा के गुणगान से होती है।

परमात्मा अपने भक्त की चिन्ता करते हैं, जिस परमात्मा के पीछे लक्ष्मी रहती है। परमात्मा की सेवा को लक्ष्मी फिरती रहती है; उस ईश्वर की सेवा न करे तो फिर किसकी करे? उससे बढ़कर कौन है जिसने गर्भ में रक्षा की, गर्भ में भोजन दिया? वह संसार का चलाने वाला है उसकी पूजा हृदय की शुद्ध भावना से करे! उसका गुणगान करे! भगवान् भक्तों की रक्षा करते हैं। जब तक प्राण है तब तक स्त्री, पुत्र, धन, यश है जब प्राण चला जाता तो सब त्याग देते हैं; शरीर जला देते, गाड़ देते और फेंक देते हैं। इस शरीर की शोभा आत्मा से है। आत्मा परमात्मा का अंश है। अतः उसी से यह शरीर शोभित

'सनातनधर्म' साप्ताहिक मुखपत्र, वर्ष ३, अंक ५, पृ० १६, २५ अगस्त १९३५ ई०।

है। उसके बिना शरीर व्यर्थ है, संसार तुच्छ है। यह शरीर उसी परमात्मा की कृपा से बनता है, एक बाल के सहस्रांश से जीव बनता है। गोस्वामीजी ने एक-एक पद में आनन्द भर दिया है वे कहते हैं :—

प्रभु तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।

मैं पहले छुटपन में नहीं जानता था कि परमात्मा माता-पिता सब कुछ हैं, अब मुझे चेत हुआ। भक्त परमात्मा की भक्ति माँगते हैं। भक्ति में ही सर्वश्रेष्ठ सुख है, परमानन्द है। उसे इससे बढ़कर कुछ नहीं चाहिए। हमारे आचार्यों ने, सन्तों-भक्तों ने आनन्द लिया है और उसे हम ले रहे हैं। नानक, कबीर, रामदेव, तुलसीदास, सूरदास सबने उस परमात्मा की भक्ति की धारा बहाई है। इनकी कृपा से हम बड़े भाग्यशाली हैं जो आनन्द पा रहे हैं।

एकमेवाद्वितीयम्

सृष्टि स्थित्यन्तकरणीं ब्रह्म विष्णु शिवाभिधाम् ।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः ॥

—विष्णुपुराणे ।

परमात्मा एक है इस पर :—

विष्णु पुराण में आया है कि जगत् की रचना, पालन और संहार करने के कारण एकही परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम को प्राप्त करता है ।

नारायणोऽक्षरोऽनन्तः सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
तेनेदमखिलं व्याप्तं जगत्स्थावर जङ्गमम् ॥
तमादिदेवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधम् ।
केचिद्विष्णुं सदा सत्यं ब्रह्माणं केचिदुच्यते ॥

—बृहन्नारदीये ।

बृहन्नारदीय का वचन है कि नारायण अविनाशी है, अनन्त है, चराचर रूप से विद्यमान समस्त विश्व में रहने वाला है और निरञ्जन है; उसी परमात्मा से यह सारा संसार व्याप्त है । उस आदि देव, एकही परमात्मा को कोई शिव नाम से पुकारता है, कोई विष्णु के नाम से पुकारता है और कोई ब्रह्मा नाम से पुकारता है ।

त्रिधा भिन्नोह्यहं विष्णो ब्रह्म विष्णु हराख्यया ।
सर्ग रक्षालयगुणैः निष्कलोऽयं सदा हरे ॥
अहं भवानयं चैव रुद्रोऽयं यो भविष्यति ।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवेत् ॥

—शिवपुराणे ।

शिवपुराण में शिवजी कहते हैं :—

हे विष्णु ! सृष्टि, स्थिति और लय के कारण मैं—ब्रह्मा, विष्णु और हर—इन तीन नामों से विभक्त हूँ । वस्तुतः यह परमात्मा निष्कल है ।

मैं, आप और यह ब्रह्मा एवं भविष्य में होनेवाला रुद्र-हम सब एकही स्वरूपवाले हैं, अर्थात् हम लोगों में तात्त्विक भेद कुछ भी नहीं है । यदि परमात्मा के बारे में भेद माना जाय तो बन्धन को छोड़कर मुक्ति कभी नहीं हो सकेगी ।

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयं दृगविशेषणः ॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥

—भागवते ।

भागवत का वचन है कि:—

मैं (विष्णु भगवान्) ब्रह्मा और शंकर—ये सब संसार के परम कारण हैं। ज्ञानात्मक, निरुपाधिक आत्मा स्वयं साक्षीमात्र है: अर्थात् वस्तुतः साक्षीमात्र उस आत्मेश्वर में कर्तृत्वादि गुण आरोपित किये जाते हैं। वह परमात्मस्वरूप मैं सत्त्वादि गुण वाली अपनी माया का आश्रय कर सृष्टि, स्थिति और लयरूप कार्यों के हेतु कार्यानुकूल ब्रह्मादि नामों को धारण करता हूँ।

शिवो महेश्वरश्चैव रुद्रो विष्णुः पितामहः ।
संसारवैद्यः सर्वज्ञः परमात्मेति मुख्यतः ।
नामाष्टकमिदं नित्यं शिवस्य प्रतिपादकम् ॥

शिव, महेश्वर, रुद्र, विष्णु, पितामह (ब्रह्मा), संसारवैद्य (संसाररूप व्याधि के उपायरूप परमात्मा), सर्वज्ञ, और परमात्मा—ये आठ नाम परमात्मा रूप शिवजी के ही हैं। एवं ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ॐ नमो नारायणाय, ॐ नमः शिवाय, श्री रामाय नमः, श्री कृष्णाय नमः—ये सब मंत्र एक ही परमात्मा की स्तुति करते हैं।

महादेवमाहात्म्यम्

नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

युधिष्ठिर उवाच—

त्वयाऽऽपगेय नामानि श्रुतानीह जगत्पतेः ।
पितामहेशाय विभो नामान्याचक्ष्व शम्भवे ॥१॥
बभ्रवे विश्वरूपाय महाभाग्यश्च तत्त्वतः ।
सुरासुरगुरौ देवे शङ्करेऽव्यक्तयोनये ॥२॥

भीष्म उवाच :—

अशक्तोऽहं गुणान् वक्तुं महादेवस्य धीमतः ।
यो हि सर्वगतो देवो न च सर्वत्र दृश्यते ॥३॥
ब्रह्मविष्णुसुरेशानां स्रष्टा च प्रभुरेव च ।
ब्रह्मादयः पिशाचान्ता यं हि देवा उपासते ॥४॥
प्रकृतीनां परत्वेन पुरुषस्य च यः परः ।
चिन्त्यते यो योगविद्भिर्ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।

राजा युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! आपने जगत्पति महेश्वर के नामों को सुना है इसलिए इस समय उसी जगन्नियन्ता, अन्तर्यामी, विशाल विश्वरूप, महाभाग सुरासुरगुरु, जगत् की उत्पत्ति और लय के कारण, स्वयम्भू देव के नामों को यथार्थ रीति से वर्णन करिये ।

भीष्म बोले—मैं उस महाज्ञानी महादेव के गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हूँ । वह देवेश्वर सर्वत्र व्यापक होते हुए भी सब जगह दिखाई नहीं देता । जो विराट्रूप ब्रह्मा सूत्रात्मारूप विष्णु तथा प्राज्ञरूप सुरेश का उत्पन्न करनेवाला प्रभु है । ब्रह्मा आदि देवताओं से लेकर पिशाच पर्यन्त देवता लोग जिसकी उपासना करते हैं, पञ्चतन्मात्र महत् अहंकार अव्यक्त आदि प्रकृति से और पुरुष से भी परतररूप से योग के जाननेवाले तत्त्वदर्शी ऋषि लोग जिसका ध्यान किया

भगवता श्रीकृष्णेन कथितम्, महाभारत—अनुशासनपर्व—अध्याय १४-१८ त संगृहीतम् ।

अक्षरं परमं ब्रह्म असच्च सदसच्च यः ॥५॥
प्रकृतिं पुरुषञ्चैव क्षोभयित्वा स्वतेजसा ।
ब्रह्माणमसृजत्तस्माद्देवदेवः प्रजापतिः ॥६॥
को हि शक्तो गुणान्वक्तुं देवदेवस्य धीमतः ।
गर्भजन्मजरायुक्तो मर्त्यो मृत्युसमन्वितः ॥७॥
को हि शक्तो भवं ज्ञातुं मद्विधः परमेश्वरम् ।
ऋते नारायणात् पुत्र शङ्खचक्रगदाधरात् ॥८॥
एष विद्वान् गुणश्रेष्ठो विष्णुः परमदुर्जयः ।
दिव्यचक्षुर्महातेजा वीक्षते योगचक्षुषा ॥९॥
रुद्रभक्त्या तु कृष्णेन जगद्व्याप्तं महात्मना ।
तं प्रसाद्य तदा देवं बदर्यां किल भारत ॥१०॥
अर्थात् प्रियतरत्वञ्च सर्वलोकेषु वै तदा ।
प्राप्तवानेव राजेन्द्र सुवर्णाक्षान्महेश्वरात् ॥११॥
पूर्णं वर्षसहस्रन्तु तप्तवानेष माधवः ।
प्रसाद्य वरदं देवं चराचरगुरुं शिवम् ॥१२॥

करते हैं। जो अपरिणामी परब्रह्म रज्जुसर्पवत् असत् भासमान होकर भी अनिर्वचनीय है, जिसने अपने तेज के प्रभाव से माया और उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य को प्राणिकर्मानुरोध से महत्तत्त्व से क्षुब्ध करते हुए निज सत्ता की स्फूर्ति से ब्रह्मा को उत्पन्न किया है, जब कि उस देवों के देव से प्रजापति उत्पन्न हुए हैं तब गर्भ, जन्म, जरायुक्त मरण धर्मवाला कौन मनुष्य उस धीमान् देवदेवेश्वर महादेव के गुणों को वर्णन करने मे समर्थ होगा ?

हे युधिष्ठिर ! शंख, चक्र, गदाधारी नारायण के अतिरिक्त मेरे समान कोई मनुष्य उस परमेश्वर का नहीं जान सकता। गुणों में श्रेष्ठ परम दुर्जय दिव्य-दृष्टिधारी, महातेजस्वी, विद्वान् विष्णु ही योगरूपी नेत्र के सहारे उसे देख सकते हैं।

हे भारत ! रुद्र की भक्ति से अर्थात् आकाशादि अष्टमूर्तियों के ध्यान से महात्मा कृष्ण ने समस्त जगत् को व्याप्त किया। तब बदरिकाश्रम में इन्होंने उसी देव को प्रसन्न करके दिव्य दृष्टि महेश्वर के प्रभाव से उस समय सब लोकों के बीच भोग्य वस्तुओं से भी प्रियतर पदार्थ प्राप्त किया है। इसी कृष्ण ने पूरी रीति से एक हजार वर्षतक तपस्या की थी। चराचर को वर देनेवाले

युगे युगे तु कृष्णेन तोषितो वै महेश्वरः।
भक्त्या परमया चैव प्रीतश्चैव महात्मनः ॥१३॥

ऐश्वर्यं यादृशं तस्य जगद्योनेर्महात्मनः।
तदयं दृष्टवान् साक्षात् पुत्रार्थे हरिरच्युतः ॥१४॥

तस्मात्परतरञ्चैव नान्यं पश्यामि भारत।
व्याख्यातुं देवदेवस्य शक्तो नामान्यशेषतः ॥१५॥

एष शक्तो महाबाहुर्वक्तुं भगवतो गुणान्।
विभूतिश्चैव कार्त्स्न्येन सत्यां माहेश्वरीं नृप ॥१६॥

वैशम्पायन उवाच :—

एवमुक्त्वा तदा भीष्मो वासुदेवं महायशाः।
भवमाहात्म्यसंयुक्तमिदमाह पितामहः ॥१७॥

भीष्म उवाच :—

सुरासुरगुरो देव विष्णो त्वं वक्तुमर्हसि।
शिवाय विश्वरूपाय यन्मां पृच्छद्युधिष्ठिरः ॥१८॥

नाम्नां सहस्रं देवस्य तण्डिना ब्रह्मयोनिना।
निवेदितं ब्रह्मलोके ब्रह्मणो यत् पुराभवत् ॥१९॥

शिव को प्रसन्न करके कृष्ण ने प्रत्येक युग मे महेश्वर को संतुष्ट किया है और इस महात्मा की परम भक्ति से महादेव प्रसन्न हुए हैं।

जगत् के उत्पत्तिस्थान महादेव का जैसा ऐश्वर्य है उसका इस अविनाशी हरि ने पुत्र के निमित्त साक्षात् दर्शन किया है।

हे भारत! उससे परे मैं और किसी को भी नहीं देखता जो उस महादेव के नामों को अशेष रूप से कह सकता है। हे राजन्! महाबाहु कृष्ण ही उस भगवान् के गुणों तथा उस महेश्वर की सत्य विभूति का विस्तारपूर्वक वर्णन करने मे समर्थ हैं। श्री वैशम्पायन मुनि बोले—तब बड़े यशस्वी भीष्मपितामह वासुदेव जी का इस प्रकार वर्णन करके शिवजी के माहात्म्य से संयुक्त वचन उनसे कहने लगे।

भीष्म बोले—हे सुरासुर गुरु विष्णुदेव! विश्वरूप शिवजी के विषय में युधिष्ठिर ने मुझसे जो प्रश्न किया है उसका उत्तर देने में तुम समर्थ हो। पहिले ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के समीप उनके पुत्र तण्डी ऋषि ने शिवजी के जिन हजार नामों का वर्णन किया था उन नामों को द्वैपायन आदि उत्तम व्रत करनेवाले

द्वैपायन प्रभृतयस्तथा चेमे तपोधनाः।
ऋषयः सुव्रता दान्ताः शृण्वन्तु गदतस्तव ॥२०॥

ध्रुवाय नन्दिने होत्रे गोप्त्रे विश्वसृजेऽग्नये।
महाभाग्यं विभो ब्रूहि मुण्डिनेऽथ कपर्दिने ॥२१॥

वासुदेव उवाच:—

न गतिः कर्मणां शक्या वेत्तुमीशस्य तत्त्वतः।
हिरण्यगर्भप्रमुखा देवाः सेन्द्रा महर्षयः ॥२२॥

न विदुर्यस्य भवनमादित्याः सूक्ष्मदर्शिनः।
स कथं नरमात्रेण शक्यो ज्ञातुं सतां गतिः ॥२३॥

तस्याहमसुरघ्नस्य कांश्चित् भगवतो गुणान्।
भवतां कीर्तयिष्यामि व्रतेशाय यथातथम् ॥२४॥

वैशम्पायन उवाच:—

एवमुक्त्वा तु भगवान् गुणांस्तस्य महात्मनः।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा कथयामास धीमतः ॥२५॥

वासुदेव उवाच:—

शुश्रूषध्वं ब्राह्मणेन्द्रास्त्वश्च तात युधिष्ठिर।
त्वश्चापगेय नामानि शृणुष्वेह कपर्दिने ॥२६॥

जितेन्द्रिय ऋषि लोग तुम्हारे मुख से सुनें। आप उस कूटस्थ, आनन्दमय, कर्तृस्वरूप कर्म-फल दान करके रक्षा करने वाले विश्वस्रष्टा, गार्हपत्य अग्नि स्वरूप, मुण्डी और कपर्दी विश्वेश्वर का ऐश्वर्य वर्णन करिये।

श्री कृष्ण बोले—हिरण्यगर्भ से लेकर इन्द्र सहित समस्त देवता और महर्षि लोग भी ईश्वर के कर्मों की गति को यथार्थ रूप से जानने में समर्थ नहीं हैं। सूक्ष्मदर्शी आदित्यादि देववृन्द जिसके स्थान को नहीं जान सकते वह साध्यों की गति स्वरूप ईश्वर मनुष्यों को किस तरह मालूम होगा? इसलिये मैं आप से व्रतपूर्वक किये हुये यज्ञों के फल देनेवाले असुरनाशक भगवान् के कुछ गुणों का यथार्थ रीति से वर्णन करूँगा।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले यह कहकर भगवान् कृष्ण आचमनादि के रूप में जलस्पर्श द्वारा पवित्र होकर उस धीमान् महात्मा के गुणों का वर्णन करने लगे।

श्रीकृष्ण बोले—हे द्विजेन्द्रगण! हे तात धर्मराज! हे गाङ्गेय! आप भी

यदवाप्तश्च मे पूर्वं शाम्बहेतोः सुदुष्करम् ।
यथावद्भगवान्दृष्टो मया पूर्वं समाधिना ॥२७॥

शम्बरे निहते पूर्वं रौक्मिणेयेन धीमता ।
अतीते द्वादशे वर्षे जाम्बवत्यब्रवीद्धि माम् ॥२८॥

प्रद्युम्नचारुदेष्णादीन् रुक्मिण्या वीक्ष्य पुत्रकान् ।
पुत्रार्थिनी मामुपेत्य वाक्यमाह युधिष्ठिर ॥२६॥

शूरं बलवतां श्रेष्ठं कान्तरूपमकल्मषम् ।
आत्मतुल्यं मम सुतं प्रयच्छाऽच्युत माचिरम् ॥३०।

न हि तेऽप्राप्यमस्तीह त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
लोकान् सृजेस्त्वमपरानिच्छन् यदुकुलोद्वह ॥३१॥

त्वया द्वादशवर्षाणि व्रतीभूतेन शुष्यता ।
आराध्य पशुभर्तारं रुक्मिण्यां जनिताः सुताः ॥३२।

चारुदेष्णः सुचारुश्च चारुवेशो यशोधनः ।
चारुश्रवाश्चारुयशाः प्रद्युम्नः शम्भुरेव च ॥३३॥

यथा ते जनिताः पुत्रा रुक्मिण्यां चारुविक्रमाः ।
तथा ममापि तनयं प्रयच्छ मधुसूदन ॥३४॥

इस समय कपर्दी के नामों को सुनिये! पहिले मैंने शाम्ब के निमित्त जिन सब अत्यन्त दुष्कर नामों को प्राप्त किया था उसे ही वर्णन करूँगा। पहिले मैंने समाधि के द्वारा उस भगवान् का दर्शन किया था। बुद्धिमान रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्न के हाथ से शम्बरासुर के मारे जाने पर बारह वर्ष के अनन्तर जाम्बवती ने मुझसे कुछ कहने की इच्छा की। वह प्रद्युम्न और चारुदेष्ण आदि रुक्मिणी के पुत्रों को देखकर पुत्र की कामना करके मेरे निकट आकर बोली—हे अच्युत! तुम शीघ्र ही मुझे अपने समान बलवानों में श्रेष्ठ, सुन्दर और शुद्धचित्त पुत्र प्रदान करो।

हे यदुकुलधुरन्धर! तीनों लोकों में तुम्हारे लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं है। इच्छा करने से तुम दूसरे लोकों की सृष्टि कर सकते हो। तुमने बारह वर्ष का व्रत कर शरीर सुखाकर महादेव की आराधना करके चारुदेष्ण, सुचारु, चारुवेश, यशोधन, चारुश्रवा, चारुयशा, प्रद्युम्न और शम्भु—ये सब सुन्दर तथा पराक्रमी पुत्र जैसे रुक्मिणी के गर्भ से उत्पन्न किये वैसे ही मुझे भी एक पुत्र प्रदान करो।

इत्येवं चोदितो देव्या तामवोचं सुमध्यमाम् ।
अनुजानीहि मां राज्ञि करिष्ये वचनं तव ॥३५॥

सा च मामब्रवीद्गच्छ विजयाय शिवाय च ।
ब्रह्मा शिवः काश्यपश्च नद्यो देवा मनोनुगाः ॥३६॥

क्षेत्रौषध्यो यज्ञवाहाश्छन्दांस्यृषिगणा धराः ।
समुद्रा दक्षिणास्तोभा ऋक्षाणि पितरो ग्रहाः ॥३७॥

देवपत्न्यो देवकन्या देवमातर एव च ।
मन्वन्तराणि गावश्च चन्द्रमाः सविता हरिः ॥३८॥

सावित्री ब्रह्मविद्या च ऋतवो वत्सरस्तथा ।
क्षणा लवा मुहूर्ताश्च निमेषा युगपर्ययाः ॥३९॥

रक्षन्तु सर्वत्र गतं त्वां यादव सुखाय च ।
अरिष्टं गच्छ पन्थानमप्रमत्तो भवानघ ॥४०॥

एवं कृतस्वस्त्ययनस्तयाहं ततोऽभ्यनुज्ञाय कपीन्द्रपुत्रीम् ।
पितुः समीपं नरसत्तमस्य मातुश्च राज्ञश्च तथाऽऽहुकस्य ॥४१॥

जाम्बवती के ऐसे वचन सुनकर मैंने उस सुन्दरी से कहा, हे रानी! तुम अनुमति दो, मैं तुम्हारे वचन का पालन करूँगा। उसने मुझसे कहा तुम विजय और मंगल के निमित्त प्रस्थान करो।

हे यादव! ब्रह्मा, शिव, काश्यप, नदियाँ, मन के अनुगामी सब देवता, देवताओं को हव्य पहुँचाने वाले यज्ञ, औषधियाँ, छन्द समूह, ऋषिवृन्द, पृथ्वी, समुद्र, दक्षिणा, स्तोभ वाक्य अर्थात् सामके पूरक "हुँमा" इत्यादि अक्षर, तारागण, पितर, ग्रह, देवपत्नियाँ, देव कन्यायें और देव मातायें, मन्वन्तर, गौ, चन्द्रमा सूर्य, हरि, सावित्री, ब्रह्म-विद्या, ऋतुयें, वर्ष, क्षण, लव, मुहूर्त्त, निमेष, और युगपर्यय—ये सब, जहाँ तुम जाओ उसी स्थान में तुम्हारी रक्षा करें और तुम्हारे सुख के कारण होवें। हे पाप रहित! तुम सावधान होकर निर्विघ्न मार्ग में गमन करो।

ऋक्षराजपुत्री के ऐसा स्वस्त्ययन करने पर उसकी अनुमति लेकर फिर पुरुषों में श्रेष्ठ पिता, माता और राजा आहुक (उग्रसेन) के निकट जाकर जाम्बवती ने अत्यन्त आर्त होकर मुझसे जो कहा था मैंने उसे निवेदन करके अत्यन्त दुःख के साथ उनसे विदा लेकर गद और महाबलवान् बलदेव से सब वृत्तान्त वर्णन करके उनकी अनुमति मांगी।

गत्वा समावेद्य यदब्रवीन्मां विद्याधरेन्द्रस्य सुता भृशार्ता ।
तानभ्यनुज्ञाय तदातिदुःखाद् गदं तथैवातिबलञ्च रामम् ॥४२॥
अथोचतुः प्रीतियुतौ तदानीं
तपःसमृद्धिर्भवतोऽस्त्वविघ्नम् ॥४३॥
प्राप्यानुज्ञां गुरुजनादहं तार्क्ष्यमचिन्तयम् ।
सोवहद्धिमवन्तं मां प्राप्य चैनं व्यसर्जयम् ॥४४॥
तत्राहमद्भुतान् भावानपश्यं गिरिसत्तमे ।
क्षेत्रञ्च तपसां श्रेष्ठं पश्याम्यद्भुतमुत्तमम् ॥४५॥
दिव्यं वैयाघ्रपादस्य उपमन्योर्महात्मनः ।
पूजितं देवगन्धर्वैर्ब्राह्मया लक्ष्म्या समावृतम् ॥४६॥
धवककुभकदम्बनारिकेलैः
कुरवककेतकजम्बुपाटलाभिः ।
वटवरुणकवत्सनाभबिल्वैः
सरलकपित्थप्रियालसालतालैः ॥४७॥
बदरीङ्गुदपुन्नागैरशोकाम्रातिमुक्तकैः ।
मधूकैः कोविदारैश्च चम्पकैः पनसैस्तथा ॥४८॥
अन्यैर्बहुविधैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युतम् ।
पुष्पगुल्मलताकीर्णं कदलीषण्डशोभितम् ॥४९॥

उस समय उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—तुम्हारे तप की निर्विघ्न वृद्धि हो। गुरुजनों की आज्ञा पाने के बाद मैंने गरुड़ को स्मरण किया। गरुड़ पर चढ कर मैं हिमालय पहाड़ पर गया और वहां पहुँचकर मैंने उसे बिदा कर दिया। उस पर्वत पर जाकर आश्चर्यमय दृश्यों को देखने लगा। मैंने व्याघ्र पाद गोत्र के महानुभाव उपमन्यु का, जो तपस्वियों के श्रेष्ठ क्षेत्र के नाम से विख्यात था अद्भुत, उत्तम और दिव्य आश्रम देखा। वह आश्रम देवताओं और गन्धर्वों से पूजित तथा ब्राह्मी लक्ष्मी से समावृत था। वह स्थान धव, ककुभ, कदम्ब, नारियल, कुरवक, केतकी, जामुन, पाटल, वट, वरुण, वत्सनाभ, बेल, सरल, कपित्थ, प्रियाल, शाल, ताल, बदरी, इंगुद, पुन्नाग, अशोक, आम, अतिमुक्त, मधूक, कोविदार, चम्पा, पनस (कटहर) और दूसरे अनेक प्रकार के फल और फूलों से युक्त वृक्षों से घिरा हुआ था।

वह आश्रम पुष्प गुल्म और लताओं से परिपूरित, केले के खम्भों से

नानाशकुनिसंभोज्यैः फलैर्वृक्षैरलंकृतम् ।
यथास्थानविनिक्षिप्तैर्भूषितं भस्मराशिभिः ॥५०॥

रुरुवानरशार्दूलसिंहद्वीपिसमाकुलम् ।
कुरङ्गबर्हिणाकीर्णं मार्जारभुजगावृतम् ॥५१॥

पूगैश्च मृगजातीनां महिषर्क्षनिषेवितम् ।
दिव्यस्त्रीगीतबहुलो मारुतोऽभिमुखो ववौ ॥५२॥

धारानिनादैर्विहगप्रणादैः शुभैस्तथा बृंहितैः कुञ्जराणाम् ।
गीतैस्तथा किन्नराणामुदारैःशुभैः स्वनैः सामगानां च वीर ॥५३॥

अचिन्त्यं मनसाप्यन्यैः सरोभिः समलङ्कृतम् ।
विशालैश्चाग्निशरणैर्भूषितं कुसुमावृतैः ॥५४॥

विभूषितं पुण्यपवित्रतोयया सदा च जुष्टं नृप जह्नुकन्यया ।
विभूषितं धर्मभृतां वरिष्ठैर्महात्मभिर्वह्निसमानकल्पैः ॥५५॥

वाय्वाहारैरम्बुपैर्जप्य नित्यैः संप्रक्षालैर्योगिभिर्ध्याननित्यैः ।
धूमप्राशैरुष्मपैः क्षीरपैश्च संजुष्टञ्च ब्राह्मणेन्द्रैः समन्तात् ॥५६॥

शोभित, नाना प्रकार के पक्षियों के भोजन के योग्य फल वाले वृक्षों से घिरा हुआ और यथायोग्य स्थान में रखी हुई भस्म से ढकी हुई अग्नि से विभूषित था। रुरु, बन्दर, शार्दूल, सिंहद्वीपी नाम पशुओं से व्याप्त, हरिण, मयूर, मार्जार और सर्पों से परिपूर्ण अनेक प्रकार के मृगों के समूह भैंसे और रीछों से निषेवित था। वहाँ पर विविध पुष्पों की सुगन्धियुक्त, दिव्य स्त्रियों के संगीत के समान सुखस्पर्शयुक्त वायु बह रही थी। हे वीर! वह स्थान जलधारा के निनाद, पक्षियों की बोली, हाथियों के मनोहर चिग्घाड़, किन्नरों के उदार गीत और सामगान करने वाले ब्राह्मणों की पवित्र ध्वनि से अलंकृत था। वह स्थान ब्रह्मर्षियों के सिवाय दूसरे पुरुषों के ध्यान में भी न आने वाला, तड़ागों से अलंकृत और पुष्पों से घिरी हुई विशाल अग्निशालाओं से अत्यन्त शोभायमान था। हे महाराज! वह आश्रम पवित्र जलवाहिनी जन्हुनन्दिनी श्रीगङ्गाजी से सदा सेवित और विभूषित तथा अग्नि के समान तेजस्वी महात्माओं के वास से अलंकृत था।

वायु तथा जल पीने वाले, जप में रत शास्त्ररीति से चित्त को शोधन करने वाले ध्याननिष्ट योगी जनों और धूम्र पान करने वाले, सूर्य की किरणों का भक्षण करने वाले, दुग्धाहारी ब्राह्मणेन्द्रों के द्वारा सब भांति से सेवित था।

गोचारिणोऽथाश्मकुट्टा दन्तोलूखलिकास्तथा ।
मरीचिपाः फेनपाश्च तथैव मृगचारिणः ॥५७॥

अश्वत्थफलभक्षाश्च तथा ह्युदकशायिनः ।
चीरचर्माम्बरधरास्तथावल्कलधारिणः ॥५८॥

सुदुःखान्नियमांस्तांस्तान्वहतः सुतपोधनान् ।
पश्यन्मुनीन् बहुविधान् प्रवेष्टुमुपचक्रमे ॥५९॥

सुपूजितं देवगणैर्महात्मभिः शिवादिभिर्भारतपुण्यकर्मभिः ।
रराज तच्चाश्रममण्डलं सदा दिवीव राजन् शशिमण्डलं यथा॥६०॥

क्रीडन्ति सर्पैर्नकुला मृगैर्व्याघ्राश्च मित्रवत् ।
प्रभावात् दीप्ततपसां सन्निकर्षान्महात्मनाम् ॥६१॥

तत्राश्रमपदे श्रेष्ठे सर्वभूतमनोरमे ।
सेविते द्विजशार्दूलैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥६२॥
नानानियमविख्यातैर्ऋषिभिः सुमहात्मभिः ।
प्रविशन्नेव चापश्यं जटाचीरधरं प्रभुम् ॥६३॥
तेजसा तपसा चैव दीप्यमानं यथानलम् ।
शिष्यैरनुगतं शान्तं युवानं ब्राह्मणर्षभम् ॥ ६४ ॥

गोचरी अर्थात् गौ के समान मुख से आहार करने वाले, पत्थर पर कूट कर खाने वाले, मरीचिप अर्थात् चन्द्रकिरण पान करके जीवन धारण करने वाले, जल के फेन का पान करने वाले, मृगचारी, पीपल के फल को खाकर रहने वाले, जल में शयन करने वाले, चीर और मृग चर्माम्बरधारी तथा वल्कल पहनने वाले और अत्यन्त कष्ट से उन सब नियमों में तत्पर रहने वाले अनेक प्रकार के तपस्वी मुनियों का दर्शन करके मैंने उस स्थान में प्रवेश करने की इच्छा की। हे भारत! हे राजन्! आकाश में चन्द्र मण्डल की भाँति वह आश्रम मण्डल पुण्य कर्म करने वाले महानुभाव शिव जी आदि देवताओं से सदा उत्तम रीति से पूजित होकर विराजमान था। महातपस्वी महात्माओं के सहवास और प्रभाव से वहाँ पर नेवले विषधर सापों के साथ और बाघ मृगों के साथ मित्र की भांति क्रीड़ा करते थे। वेद वेदांग के जानने वाले विविध नियमों के पालन में प्रसिद्ध द्विजश्रेष्ठ महानुभाव महर्षियों से सेवित, सब जीवों के मन को प्रसन्न करने वाले, उस श्रेष्ठ आश्रम स्थल में प्रवेश करते ही मैंने जटाचीरधारी, तेज जटाधारी, तेज और तपस्या के द्वारा अग्नि के समान प्रकाशमान, शिष्यों के सहित, शान्त, यौवनसम्पन्न, द्विजवर उपमन्यु का दर्शन किया। जब मैंने शिर झुका कर

शिरसा वन्दमानं मामुपमन्युरभाषत ।
स्वागतं पुण्डरीकाक्ष सफलानि तपांसि नः ।
यः पूज्यः पूजयसि मां द्रष्टव्यो द्रष्टुमिच्छसि ॥ ६५ ॥
तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा मृगपक्षिष्वथाग्निषु ।
धर्मे च शिष्यवर्गे च समपृच्छमनामयम् ॥ ६६ ॥
ततो मां भगवानाह साम्ना परमवल्गुना ।
लप्स्यसे तनयं कृष्ण आत्मतुल्यमसंशयम् ॥ ६७ ॥
तपः सुमहदास्थाय तोषयेशानमीश्वरम् ।
इह देवः सपत्नीकः समाक्रीडत्यधोक्षज ॥ ६८ ॥
इहैनं दैवतश्रेष्ठं देवाः सर्षिगणा पुरा ।
तपसा ब्रह्मचर्य्येण सत्येन च दमेन च ॥ ६९ ॥
तोषयित्वा शुभात् कामान् प्राप्तवन्तो जनार्दन ।
तेजसां तपसाञ्चैव निधिः स भगवानिह ॥ ७० ॥
शुभाशुभान्वितान् भावान् विसृजन् सङ्क्षिपन्नपि ।
आस्ते देव्या सहाचिन्त्यो यं प्रार्थयसि शत्रुहन् ॥ ७१ ॥
हिरण्यकशिपुर्योऽभूद्दानवो मेरुकम्पनः ।
तेन सर्वामरैश्वर्यं शर्वात् प्राप्तं समार्बुदम् ॥ ७२ ॥

उनकी बन्दना की तब वह मुझ से बोले—हे पुण्डरीकाक्ष ! तुमने सुख से आगमन किया है न ? हमलोगों की तपस्या सफल हुई क्योंकि तुम पूज्य होकर भी हमारी पूजा करते हो और हमारे दर्शनीय होने पर भी हम लोगों के दर्शन की इच्छा करते हो। मैंने हाथ जोड़ के उनसे मृग, पक्षी, अग्नि, धर्म और शिष्यों के विषय में कुशल प्रश्न किया। अनन्तर भगवान् उपमन्यु मुझ से परम मनोहर शान्त वचन बोले—हे कृष्ण ! तुम अपने समान पुत्र निःसन्देह प्राप्त करोगे। तुम उग्र तपस्या में स्थित होकर सर्व नियन्ता महादेव को सन्तुष्ट करो। हे अधोक्षज ! वह देव अपनी पत्नी अर्थात् शक्ति के साथ इस स्थान में सदा विहार करते हैं। प्राचीन समय में यहीं देवताओं में श्रेष्ठ शङ्कर जी को देवता और ऋषिगणों ने तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य और दम के द्वारा प्रसन्न करके शुभ कर्मों को प्राप्त किया था। हे शत्रुनाशन ! तुम जिसकी प्रार्थना करते हो वह तपोनिधि और तेज के आधार अचिन्तनीय भगवान् शुभाशुभ भावों को उत्पन्न करते और अपने में लय करते हुए देवी के सहित इसी स्थान में विराजमान हैं। सुमेरु पर्वत को कँपानेवाला जो हिरण्यकश्यप नामक दानव था उसने

तस्यैव पुत्रप्रवरो मन्दरो नाम विश्रुतः।
महादेववराच्छक्रं वर्षार्बुदमयोधयत् ॥ ७३ ॥
विष्णोश्चक्रश्च तद् घोरं वज्रमाखण्डलस्य च।
शीर्णं पुरा भवत्तात ग्रहस्याङ्गेषु केशव ॥ ७४ ॥
यत्तद्भगवता पूर्वं दत्तं चक्रं तवानघ।
जलान्तरं चरं हत्वा दैत्यञ्च बलगर्वितम् ॥ ७५ ॥
उत्पादितं वृषाङ्केण दीप्तं ज्वलनसन्निभम्।
दत्तं भगवता तुभ्यं दुर्द्धर्षं तेजसाद्भुतम् ॥ ७६ ॥
न शक्यं द्रष्टुमन्येन वर्जयित्वा पिनाकिनम्।
सुदर्शनं भवत्येवं भवेनोक्तं तदा तु तत् ॥ ७७ ॥
सुदर्शनं तदा तस्य लोके नाम प्रतिष्ठितम्।
तज्जीर्णमभवत्तात ग्रहस्याङ्गेषु केशव ॥ ७८ ॥
ग्रहस्यातिबलस्याङ्गे वरदत्तस्य धीमतः।
न शस्त्राणि वहन्त्यङ्गे चक्रवज्रशतान्यपि ॥ ७९ ॥

महादेव की कृपा से एक अरब वर्ष पर्यन्त सब देवताओं का ऐश्वर्य पाया था। उसी का मुख्य पुत्र मन्दर नाम से प्रख्यात है। उसने महादेव के वर के प्रभाव से एक अरब वर्ष तक इन्द्र के साथ युद्ध किया था। हे तात केशव! विष्णु का वह घोर चक्र और इन्द्र का भयंकर वज्र पहिले समय में उस मन्दर के अङ्गों पर विफल हुआ था।

हे पापरहित! पहिले समय में भगवान् वृषभध्वज ने जल-मध्य में विचरण करने वाले अभिमानी दैत्य को मारने के लिये जो अग्नि के समान प्रकाशमान चक्र उत्पन्न किया था, उससे उस दैत्य को मारकर अद्भुत तेज से युक्त दुर्धर्ष चक्र भगवान् ने तुम्हें दे दिया था। पिनाकी के अतिरिक्त दूसरा कोई पुरुष उसकी ओर देखने में समर्थ नहीं था। इसीलिये महादेव ने उस समय कहा था कि यह सुदर्शन होजाय तभी से लोक में वह चक्र सुदर्शन नाम से प्रतिष्ठित हो रहा है।

हे तात केशव! वह चक्र मन्दर के अङ्गों पर लगकर जीर्ण तृण के समान व्यर्थ हुआ था। महादेव ने उस मन्दर असुर को यह वर दिया था कि तुम सब शस्त्रों से अवध्य होगे, इसी वर के प्रभाव से वह धीमान् प्रबल बलशाली असुर निज अङ्ग पर चक्र और सैकड़ों वज्र आदि शस्त्रों को चोट सहज ही में सह

अदर्यमानाश्च विबुधा ग्रहेण सुबलीयसा ।
शिवदत्तवरान् जघ्नुरसुरेन्द्रान्सुरा भृशम् ॥ ८० ॥
तुष्टो विद्युत्प्रभस्यापि त्रिलोकेश्वरतां ददौ ।
शतं वर्षसहस्राणां सर्वलोकेश्वरोऽभवत् ॥ ८१ ॥
ममैवानुचरो नित्यं भवितासीति चाब्रवीत् ।
तथा पुत्रसहस्राणामयुतञ्च ददौ प्रभुः ॥ ८२ ॥
कुशद्वीपञ्च स ददौ राज्येन भगवानजः ।
तथा शतमुखो नाम धात्रा सृष्टो महासुरः ॥ ८३ ॥
तं प्राह भगवांस्तुष्टः किं करोमीति शङ्करः ।
तं वै शतमुखः प्राह योगो भवतु मेऽद्भुतः ॥ ८४ ॥
बलञ्च दैवतश्रेष्ठ शाश्वतं संप्रयच्छ मे ।
तथेति भगवानाह तस्य तद्वचनं प्रभुः ॥ ८५ ॥
स्वायम्भुवः क्रतुश्चापि पुत्रार्थमभवत्पुरा ।
आविश्य योगेनात्मानं त्रीणि वर्षशतान्यपि ॥ ८६ ॥

सकता था। जब मन्दर ने देवताओं को अत्यन्त पीडित किया तब देवताओं ने महादेव के दिये हुए वर के प्रभाव से गर्वित दानवों के दल को नष्ट किया। देवताओं के बुद्धि कौशल से वे लोग आपस में कलह करके विनष्ट हुए।

महादेव ने बिजली के समान प्रकाश वाले इस दानव पर प्रसन्न होकर उसे तीनों लोकों के ऐश्वर्य का दान किया था। वह एक लाख वर्ष तक सब लोकों का ईश्वर हुआ। 'तू सदा मेरा ही अनुचर होगा' यह कह कर भगवान् ने उसे अयुत सहस्र (दश हजार) पुत्र प्रदान किये। अजन्मा भगवान् ने उसे कुशद्वीप का राज्य दे दिया। इसके बाद ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न हुए, सौ वर्ष तक अपने माँस से अग्नि को तृप्त करने वाले शतमुख नामक बड़े असुर पर प्रसन्न होकर भगवान् शंकर बोले, 'मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ'। शतमुख ने उनसे कहा-हे देवों के देव! आप मुझे वह अद्भुत योग प्रदान करें जिससे मुझमें चन्द्रमा, सूर्य, बादल और पृथ्वी आदि उत्पन्न करने की सामर्थ्य हो और ब्रह्मविद्या से उत्पन्न शाश्वत बल मुझे प्राप्त हो। विग्रहानुग्रह में समर्थ भगवान् ने, उसका वह वचन सुनकर कहा—ऐसा ही होगा।

प्राचीन काल में स्वयंभू मनु ने तीन सौ वर्ष तक सूत्रात्मा में प्रविष्ट होकर अर्थात् सूत्रात्मा का ध्यान करते हुए पुत्र के निमित्त यज्ञ किया था। भगवान्

तस्य चोपददौ पुत्रान् सहस्रं क्रतुसंमतान् ।
योगेश्वरं देवगीतं वेत्थ कृष्ण न संशयः ॥ ८७ ॥
याज्ञवल्क्य इति ख्यात ऋषिः परमधार्मिकः ।
आराध्य स महादेवं प्राप्तवानतुलं यशः ॥ ८८ ॥
वेदव्यासश्च योगात्मा पराशरसुतो मुनिः ।
सोऽपि शङ्करमाराध्य प्राप्तवानतुलं यशः ॥ ८९ ॥
वालखिल्या मघवता ह्यवज्ञाताः पुरा किल ।
तैः क्रुद्धैर्भगवान् रुद्रस्तपसा तोषितो ह्यभूत् ॥ ९० ॥
तांश्चापि दैवतश्रेष्ठः प्राह प्रीतो जगत्पतिः ।
सुपर्णं सोमहर्तारं तपसोत्पादयिष्यथः ॥ ९१ ॥
महादेवस्य रोषाच्च आपो नष्टाः पुराभवन् ।
ताश्च सप्तकपालेन देवैरन्याः प्रवर्तिताः ॥
ततः पानीयमभवत् प्रसन्ने त्र्यंबके भुवि ॥९२॥
अत्रेर्भार्यापि भर्तारं संत्यज्य ब्रह्मवादिनी ।
नाहं तस्य मुनेर्भूयो वशगा स्यां कथञ्चन ॥९३॥
इत्युक्ता सा महादेवमगच्छत् शरणं किल ।
निराहारा भयादत्रेस्त्रीणि वर्षशतान्यपि ॥९४॥

ने उसे यज्ञ के सूत्रात्मा के अनुसार सहस्र पुत्र प्रदान किये। हे कृष्ण ! देवों से वर्णित योगेश्वर को तुम निःसन्देह जानते हो। याज्ञवल्क्य नाम से विख्यात परम धार्मिक ऋषि महादेव की आराधना करके ही अतुल यशस्वी हुए हैं।

योगियों में श्रेष्ठ पाराशर-पुत्र महामुनि वेदव्यास ने भी शंकर की आराधना करके विशेष यश पाया है। पहिले समय में बालखिल्य मुनियों ने देवराज इन्द्र के द्वारा अपमानित होने से क्रुद्ध होकर तपस्या के सहारे महादेव को सन्तुष्ट किया। जगत्पति महादेव प्रसन्न होकर बोले, 'तुम लोग तपस्या के द्वारा अमृत लाने वाले गरुड़ को उत्पन्न करोगे'। पूर्व काल में महादेव के क्रोध वश समस्त जल नष्ट हो गया था। देवताओं ने सप्तकपाल अर्थात् त्र्यम्बक दैवत मन्त्र के सहारे दूसरा जल उत्पन्न किया। अनन्तर महादेव जी के प्रसन्न होने पर पृथ्वी मण्डल पर समस्त जल पीने योग्य हुआ था।

अत्रि मुनि की ब्रह्मवादिनी भार्य्या ने पति का परित्याग करके प्रतिज्ञा की कि, 'मैं अब फिर कभी किसी प्रकार से भी उस मुनि के अधीन न रहूंगी'। ऐसा कह कर वह महेश्वर की शरणागत हुई थी। उसने अत्रि के भय से निराहार

अशेत मुसलेष्वैव प्रसादार्थं भवस्य सा ।
तामब्रवीद्धसन् देवो भविता वै सुतस्तव ॥९५॥

विना भर्त्रा च रुद्रेण भविष्यति न संशयः ।
वंशे तवैव नाम्ना तु ख्यातिं यास्यति चेप्सिताम् ॥९६॥

विकर्णश्च महादेवं तथा भक्तसुखावहम् ।
प्रसाद्य भगवान् सिद्धिं प्राप्तवान् मधुसूदन ॥९७॥

शाकल्यः संशितात्मा वै नववर्षशतान्यपि ।
आराधयामास भवं मनोयज्ञेन केशव ॥९८॥

तश्चाह भगवांस्तुष्टो ग्रन्थकारो भविष्यसि।
वत्साक्षया च ते कीर्तिस्त्रैलोक्ये वै भविष्यति ॥९९॥

अक्षयश्च कुलं तेऽस्तु महर्षिभिरलंकृतम् ।
भविष्यति द्विजश्रेष्ठः सूत्रकर्ता सुतस्तव ॥१००॥

सावर्णिश्चापि विख्यातो ऋषिरासीत् कृते युगे ।
इह तेन तपस्तप्तं षष्टिवर्षशतान्यथ ॥१०१॥

तमाह भगवान् रुद्रः साक्षात्तुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।
ग्रन्थकृल्लोकविख्यातो भवितास्यजरामरः ॥१०२॥

रहकर तीन सौ वर्ष तक महादेवजी को प्रसन्न करने के लिये मूसल अर्थात् लौह हल के अग्रभाग पर शयन किया। महेश्वर ने हँसकर उससे कहा कि रुद्रमन्त्र के प्रभाव से विना पति के ही निःसन्देह तुम्हारा पुत्र होगा और वंश मे वह तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगा (उत्तम कीर्त्ति को पावेगा)।

हे मधुसूदन ! भगवान् भक्तिमान् विकर्ण ने सुख देने वाले महादेव को प्रसन्न करके सिद्धि लाभ की थी। हे केशव ! संशितात्मा (तीक्ष्ण बुद्धि) शाकल्य ने नव सौ वर्ष तक मनोयज्ञ से महादेव की आराधना की थी।

भगवान् प्रसन्न होकर बोले—हे पुत्र ! तुम ग्रन्थकर्ता होगे और तीनों लोकों में तुम्हारी अक्षय कीर्ति होगी। महर्षि कुल के द्वारा अलंकृत तुम्हारा वंश अक्षय होगा और तुम्हारा पुत्र द्विजश्रेष्ठ तथा सूत्रकर्त्ता होगा।

सतयुग में सावर्णि नामक एक विख्यात ऋषि थे। उन्होंने इस स्थान में छः हजार वर्ष तक तपस्या की थी। भगवान् रुद्रदेव स्वयं उनसे बोले—हे अनघ ! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ, तुम अजर और अमर होके लोक मे प्रसिद्ध

शक्रेण तु पुरा देवो वाराणस्यां जनार्दन ।
आराधितोऽभूद्भक्तेन दिग्वासा भस्मगुण्ठितः ॥१०३॥
आराध्य च महादेवं देवराज्यमवाप्तवान् ।
नारदेन तु भक्त्याऽसौ भव आराधितः पुरा ॥
तस्य तुष्टो महादेवो जगौ देवगुरुर्गुरुः ॥१०४॥
तेजसा तपसा कीर्त्या त्वत्समो न भविष्यति ।
गीतेन वादितव्येन नित्यं मामनुयास्यसि ॥१०५॥
मयापि च यथा दृष्टो देवदेवः पुरा विभो ।
साक्षात् पशुपतिस्तात तच्चापि शृणु माधव ॥१०६॥
यदर्थं च मया देवः प्रयत्नेन तथा विभो ।
प्रबोधितो महातेजास्तच्चापि शृणु विस्तरम् ॥१०७॥
यदवाप्तश्च मे पूर्वं देवदेवान् महेश्वरात् ।
तत्सर्वं निखिलेनाद्य कथयिष्यामि तेऽनघ ॥१०८॥
पुरा कृतयुगे तात ऋषिरासीन्महायशाः ।
व्याघ्रपाद इति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः ॥१०९
तस्याहमभवं पुत्रो धौम्यश्चापि ममानुजः ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य धौम्येन सह माधव ॥११०॥

ग्रन्थकर्त्ता होगे। हे जनार्दन! पहिले समय में दिग्वासा भस्म गुंठित भगवान् काशीधाम में भक्तवर इन्द्र के द्वारा पूजित हुए थे। उन्होंने महादेव की आराधना करके देवराज्य पाया।

पहिले समय मे नारद मुनि ने भक्तिभाव से महादेव की आराधना की थी। देवगुरु महादेव प्रसन्न होकर उनसे बोले—तेज, तपस्या और कीर्त्ति के द्वारा तुम्हारे समान कोई भी न होगा। गायन और वादन द्वारा तुम सदा मेरे अनुगामी रहोगे।

हे तात! हे विभो! हे माधव! पूर्व काल में मैंने जिस प्रकार देवों के देव—पशुपति का साक्षात् दर्शन किया था, उसे भी तुम विस्तार पूर्वक सुनो। हे अनघ! पहिले मैंने सावधान होकर देवों के देव, महा तेजस्वी महादेव को जिस लिए प्रबोधित किया था और उस महेश्वर से जो कुछ प्राप्त किया था, वह सब वृतान्त इस समय पूर्ण रीति से कहता हू।

हे तात! सतयुग मे वेद वेदांग जानने वाले, महा यशस्वी व्याघ्रपाद नाम के एक ऋषि थे। मैं उनका पुत्र था और धौम्य हमारा भाई था। हे माधव!

आगच्छमाश्रमं क्रीडन् मुनीनां भावितात्मनाम् ।
तत्रापि च मया दृष्टा दुह्यमाना पयस्विनी ॥
लक्षितश्च मया क्षीरं स्वादुतो ह्यमृतोपमम् ॥१११॥
ततोऽहमब्रवं बाल्याज्जननीमात्मनस्तथा ।
क्षीरौदनसमायुक्तं भोजनं हि प्रयच्छ मे ॥११२॥
अभावाच्चैव दुग्धस्य दुःखिता जननी तदा ।
ततः पिष्टं समालोड्य तोयेन सह माधव ॥११३॥
आवयोः क्षीरमित्येवं पानार्थं समुपानयत् ।
अथ गव्यं पयस्तात कदाचित् प्राशितं मया ॥
पित्राहं यज्ञकाले हि नीतो ज्ञातिकुलं महत् ॥११४॥
तत्र सा क्षरते देवी दिव्या गौः सुरनन्दिनी ।
तस्याहं तत्पयः पीत्वा रसेन ह्यमृतोपमम् ॥११५॥
ज्ञात्वा क्षीरगुणांश्चैव उपलभ्य हि संभवम् ।
स च पिष्टरसस्तात न मे प्रीतिमुपावहत् ॥११६॥
ततोऽहमब्रवं बाल्याज्जननीमात्मनस्तदा ।
नेदं क्षीरोदनं मातर्यच्च मे दत्तवत्यसि ॥११७॥

कुछ काल बाद धौम्य के संग खेलते हुए आत्मज्ञ मुनियों के आश्रम में पहुँच गया। वहाँ पर मैंने किसी दूध देनेवाली गऊ का दूध दुहना देखा। वह दूध अमृत के समान स्वादिष्ट मालूम हुआ।

अनन्तर बाल्यकाल की सुलभ चपलता से मैंने अपनी माता से कहा—हे माता! मुझे क्षीरयुक्त भोजन प्रदान करो। उस समय मेरी माता ने दूध के अभाव से दुखित होकर चावल पीसकर पिसान बनाया और जल में घोलकर 'यह दूध है' ऐसा कहती हुई हम दोनों भाइयों को पिलाने के लिये लाई।

हे तात! मैंने पहिले एक बार गऊ का दूध पिया था। मेरे पिता मुझे एक बड़ी बिरादरी के यज्ञ में ले गये। वहाँ दिव्य गऊ सुरनन्दिनी का दूध झरता था। मैं उसका वही अमृत समान दूध पीकर उसका गुण और किस प्रकार उसकी उत्पत्ति होती है, यह जान गया था, इसलिये वह पिष्ट रस मुझे रुचिकर नहीं हुआ।

हे तात! उस समय मैंने बालस्वभाव से अपनी माता से कहा—हे माता! तुमने मुझे जो दिया है, वह दूध नहीं है। हे माधव! तब दुःख और शोक से युक्त

ततो मामब्रवीन् माता दुःखशोकसमन्विता ।
पुत्रस्नेहात् परिष्वज्य मूर्ध्नि चाघ्राय माधव ॥११८॥
कुतः क्षीरौदनं वत्स मुनीनां भावितात्मनाम् ।
वने निवसतां नित्यं कन्दमूलफलाशिनाम् ॥११९॥
आस्थितानां नदीं दिव्यां वालखिल्यैर्निषेविताम् ।
कुतः क्षीरं वनस्थानां मुनीनां गिरिवासिनाम् ॥१२०॥
पावनानां वनाशानां वनाश्रमनिवासिनाम् ।
ग्राम्याहार निवृत्तानामरण्यफल भोजिनाम् ॥ १२१ ॥
नास्ति पुत्र पयोरण्ये सुरभेर्गोत्रवर्जिते ।
नदीगह्वरशैलेषु तीर्थेषु विविधेषु च ॥ १२२ ॥
तपसा जप्यनित्यानां शिवो नः परमा गतिः ।
अप्रसाद्य विरूपाक्षं वरदं स्थाणुमव्ययम् ॥१२३॥
कुतः क्षीरौदनं वत्स सुखानि वसनानि च ।
तं प्रपद्य सदा वत्स सर्वभावेन शङ्करम् ॥१२४॥
तत्-प्रसादाच्च कामेभ्यः फलं प्राप्स्यसि पुत्रक ।
जनन्यास्तद्वचः श्रुत्वा तदाप्रभृति शत्रुहन् ॥१२५॥

माता ने पुत्र स्नेह-वश मुझे गोदी में ले मस्तक सूंघकर कहा—हे पुत्र ! निरन्तर वन में रह कर कंद मूल फल का भोजन करने वाले आत्मज्ञ ऋषियों के आश्रम में क्षीरोदन कहां है ?

जो लोग वालखिल्य गण से निषेवित दिव्य नदी का अवलम्बन किये हुए हैं ऐसे वनवासी और पर्वत निवासी मुनियों के निकट दूध कहां है ?

हे पुत्र ! वायु और जल पीनेवाले तथा ग्राम में मिल सकने वाले आहार से रहित, जङ्गल के फल खाने वाले आश्रम निवासी ऋषियों के सुरभी गौ की संतान से रहित वन में दूध नहीं है । नदी, गुफा, पर्वत और विविध तीर्थों मे हम लोग तपस्या के द्वारा जप करते हैं। इसलिये देवों के देव महेश्वर ही हम लोगों को परमगति हैं। हे पुत्र ! अचल, अविनाशी, त्रिनेत्र और वरदाता महादेवजी को प्रसन्न किये विना क्षीरोदन और सुख के साधन वस्त्र आदि कहां से प्राप्त होंगे ? हे पुत्र ! इसलिये तुम्हें सब प्रकार से चित्त लगा कर उसी महादेव की शरण जाना उचित है, उन्हीं की कृपा से तुम सब वाञ्छनीय फल पावोगे।

हे शत्रुनाशन ! माता के ऐसे वचन सुन कर उस समय हाथ जोड़कर

प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा इदमम्बामचोदयम् ।
कोयमम्ब महादेवः स कथञ्च प्रसीदति ॥१२६॥
कुत्र वा वसते देवो द्रष्टव्यो वा कथञ्चन ।
तुष्यते वा कथं शर्वो रूपं तस्य च कीदृशम् ॥
कथं ज्ञेयः प्रसन्नो वा दर्शयेजननी मम ॥१२७॥
एवमुक्ता तदा कृष्ण माता मे सुतवत्सला ।
मूर्धन्याघ्राय गोविन्द सबाष्पाकुललोचना ॥१२८॥
प्रमार्जतीव गात्राणि मम वै मधुसूदन ।
दैन्यमालम्ब्य जननी इदमाह सुरोत्तम ॥१२९॥

अम्बोवाच—

दुर्विज्ञेयो महादेवो दुराधारो दुरन्तकः ।
दुराबाधश्च दुर्ग्राह्यो दुर्दृशो ह्यकृतात्मभिः ॥१३०॥
यस्य रूपाण्यनेकानि प्रवदन्ति मनीषिणः ।
स्थानानि च विचित्राणि प्रसादाश्चाप्यनेकशः ॥१३१॥
को हि तत्त्वेन तद्वेद ईशस्य चरितं शुभम् ।
कृतवान् यानि रूपाणि देवदेवः पुरा किल ॥१३२॥

विनयपूर्वक मैंने उनसे कहा, हे माता! वे महादेव कौन हैं? और कैसे प्रसन्न होते हैं?

वह कहां रहते हैं और कैसे दिखाई देते हैं? वह कैसे संतुष्ट होते हैं और उनका रूप किस तरह का है? किस प्रकार लोग उन्हें प्रसन्न हुआ जान सकते हैं? हे माता! तुम मुझसे यह सब वर्णन करो! हे कृष्ण! उस समय पुत्रवत्सला माता से जब मैंने ऐसा वचन कहा तो वह मेरा मस्तक सूँघ कर, नेत्रों में जल भर कर, शरीर पर हाथ फेर कर दीनता के साथ बोलीं—हे तात! महादेव दुर्विज्ञेय हैं अर्थात् उन्हें शास्त्र से जानना अशक्य है। वह दुराधार हैं अर्थात् शास्त्र से ज्ञान होने पर भी मन में धारण करना अशक्य है, दुरन्तक अर्थात् ध्रियमान् होने पर भी लय विक्षेप के द्वारा संकटयुक्त हैं। दुराबाध हैं अर्थात् उसमें सब बन्ध दूषित हुआ करते हैं। विघ्नाभाव में भी वह दुर्ग्राह्य हैं, वह सहज में नहीं जाने जाते और पुण्यहीन मनुष्यों को दुर्दृश्य हैं (वैराग्य से भी वह किसी के दृष्टिगोचर नहीं होते)। मनीषी लोग उनके अनेक रूप, विचित्र स्थान और अनेक भाँति की कृपा दृष्टि का वर्णन करते हैं। उस ईश्वर के शुभ चरित को जानने में कौन समर्थ है? पहिले समय में देवों

क्रीडते च तथा शर्वः प्रसीदति यथा च वै।
हृदिस्थः सर्वभूतानां विश्वरूपो महेश्वरः ॥१३३॥
भक्तानामनुकम्पार्थं दर्शनञ्च यथा श्रुतम्।
मुनीनां ब्रुवतां दिव्यमीशानचरितं शुभम् ॥१३४॥
कृतवान् यानि रूपाणि कथितानि दिवौकसैः।
अनुग्रहार्थं विप्राणां शृणु वत्स समासतः।
तानि ते कीर्तयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥१३५॥

अम्बोवाच—

ब्रह्म विष्णुसुरेन्द्राणां रुद्रादित्याश्विनामपि।
विश्वेषामपि देवानां वपुर्धारयते भवः ॥१३६॥
नराणां चैव नारीणां तथा प्रेतपिशाचयोः।
किरातशबराणाञ्च जलजानामनेकशः।
करोति भगवान् रूपाण्याटव्य शबराण्यपि ॥१३७॥
कूर्मो मत्स्यस्तथा शङ्खः प्रवालांकुरभूषणः ॥१३८॥
यक्षराक्षससर्पाणां दैत्यदानवयोरपि।
वपुर्धारयते देवो भूयश्च बिलवासिनाम् ॥१३९॥
व्याघ्रसिंहमृगाणाञ्च तरक्ष्वृक्षपतत्रिणाम्।
उलूकस्य शृगालानां रूपाणि कुरुतेऽपि च ॥१४०॥

के देव विश्वरूप महेश्वर ने जिन रूपों को धारण किया था तथा वह जिस प्रकार क्रीड़ा करते थे, जैसे प्रसन्न होते थे, सब प्राणियों के हृदयस्थ होने पर भी भक्तों पर कृपा करके जिस प्रकार रूप धारण करते हैं, जिस भाँति उनका दर्शन किया जा सकता है, महादेव के पवित्र जानने वाले मुनियों के मुख से उनके शुभ चरित्रों को मैंने जिस प्रकार से सुना है, ब्राह्मणों पर अनुग्रह करने के निमित्त उन्होंने जो रूप धारण किये थे, देवताओं के कहे हुए उन सब विषयों को संक्षेप से सुनो। तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था वह वृत्तान्त तुमसे कहती हूँ।

माता बोलीं—भगवान् महेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, महेन्द्र, रुद्र, आदित्य, देवता, अश्विनीकुमार और विश्वदेवगण के रूप को धारण करते हैं। पुरुष, स्त्री, प्रेत, पिशाच, किरात, शबर और विविध जलचर तथा वनचर जीवों का रूप धारण किया करते हैं। वह देव, कूर्म, शंख और प्रवालांकुर भूषण यक्ष, राक्षस, सर्प, दैत्य, दानव और बिल में रहने वालों के रूप को धारण करते हैं।

हंसकाकमयूराणां कृकलासकसारसाम् ।
रूपाणि च बलाकानां गृध्रचक्राङ्गयोरपि ॥१४१॥

करोति चासरूपाणि धारयत्यपि पर्वतान् ।
गोरूपश्च महादेवो हस्त्यश्वोष्ट्रखराकृतिः ॥१४२॥

छागशार्दूलरूपश्च अनेकमृगरूपधृक् ।
अण्डजानाञ्च दिव्यानां वपुर्धारयते भवः ॥१४३॥

दण्डी छत्री च कुण्डी च द्विजानां धारणास्तथा ।
षण्मुखो वै बहुमुखस्त्रिनेत्रो बहुशीर्षकः ॥१४४॥

अनेककटिपादश्च अनेकोदरवक्त्रधृक् ।
अनेकपाणिपार्श्वश्च अनेकगणसंवृतः ॥१४५॥

ऋषिगन्धर्वरूपश्च सिद्धचारणरूपधृक् ।
भस्मपाण्डुरगात्रश्च चन्द्रार्धकृतभूषणः ॥१४६॥

अनेकराव संघुष्टश्चानेकस्तुतिसंस्तुतः ।
सर्व भूतान्तकः शर्वः सर्वलोक प्रतिष्ठितः ॥१४७॥

बाघ, सिंह, हिरन, तेंदुआ, भालू, पत्ती, उल्लू और सियारों के रूप का अवलम्बन करते हैं।

वह हंस, कौआ, मोर, कृकलास, सारस, गिद्ध, चक्रवाक, स्वर्णबक, बक आदि के रूपों को तथा पर्वतों को धारण किया करते हैं। महादेव गऊ, हाथी, घोड़े, ऊँट और खर की आकृति का भी अवलम्बन करते हैं। वह बकरे और शार्दूल तथा अनेक प्रकार के मृगों का रूप धारण करते हैं। महेश्वर दिव्य अण्डजों की आकृति धारण करते हैं, तथा वह दण्डछत्र और कमंडलु धारण करने वाले और ब्राह्मणों का पोषण करने वाले हैं। वह षण्मुख और अनेक मुखवाले, त्रिलोचन और अनेक सिरवाले हैं। वह अनेक कटि, चरण, उदर, मुख, हाथ, पार्श्व और अनेकों गणों से युक्त रहते हैं। वह ऋषि, गन्धर्व, सिद्ध और चारणों का रूप धारण किया करते हैं। उनका शरीर भस्म के द्वारा पाण्डुर वर्ण और अर्द्ध चन्द्र से विभूषित है। वह विविध स्वर से सन्तुष्ट और अनेक स्तोत्रों से स्तुति किये हुए हैं। वह सब जीवों के नाशक होकर सब लोकों में प्रतिष्ठित हैं।

सर्व स्वरूप, सब प्राणियों की अन्तरात्मा, सर्वव्यापी और सर्वभापी हैं, वह भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं और देहधारियों के हृदय में निवास कर रहे हैं (ऐसा जानना चाहिये)। जो लोग जिस विषय की अभिलाषा करके

सर्वलोकान्तरात्मा च सर्वगः सर्ववाद्यपि ।
सर्वत्र भगवान् ज्ञेयो हृदिस्थः सर्वदेहिनाम् ॥१४८॥

यो हि यं कामयेत् कामं यस्मिन्नर्थेऽर्च्यते पुनः ।
तत्सर्वं वेत्ति देवेशस्तं प्रपद्य यदीच्छसि ॥१४९॥

नन्दते कुप्यते चापि तथा हुङ्कारयत्यपि ।
चक्री शूली गदापाणिर्मुसली खड्गपट्टिशी ॥१५०॥

भूधरो नागमौञ्जी च नागकुण्डलकुण्डली ।
नागयज्ञोपवीती च नागचर्मोत्तरच्छदः ॥१५१॥

हसते गायते चैव नृत्यते च मनोहरम् ।
वादयत्यपि वाद्यानि विचित्राणि गणैर्युतः ॥१५२॥

वल्गते जृम्भते चैव रुदते रोदयत्यपि ।
उन्मत्तो मत्तरूपश्च भाषते चापि सुस्वरः ॥१५३॥

अतीव हसते रौद्रस्त्रासयन् नयनैर्जनम् ।
जागर्ति चैव स्वपिति जृम्भते च यथासुखम् ॥१५४॥

जपते जप्यते चैव तपते तप्यते पुनः ।
ददाति प्रतिगृह्णाति युञ्जते ध्यायतेऽपि वा ॥१५५॥

जिस निमित्त उनकी पूजा किया करते हैं वह देवेश महेश्वर उन सब विषयों को जानता है। इसलिये यदि इच्छा हो तो तुम उसकी शरण जाओ। वह आनन्दित होता है, कुपित भी होता है और हुँकार भी देता है। वह चक्र, शूल, गदा, मूसल, खड्ग, और पट्टिश धारण किया करता है। वह (पर्वत होकर) पृथ्वी का धारण करने वाला, नाग की मेखला, नाग-कुण्डली का कुण्डल तथा साँपों का जनेऊ पहनता और नानाचर्म का वस्त्र रखता है। हँसता, गाता, विचित्र बाजों को बजाता हुआ मनोहर रीति से गणों के साथ मनोहर नृत्य करता है। वह बात करता, जमुहाई लेता, रोता और रुलाता है। वह उन्मत्त मस्त होकर उत्तम स्वर से वार्तालाप किया करता है। वह अत्यन्त भयानक हँसी हँसता है, नेत्रों से मनुष्यों को भी डराता है, जगाता है, सोता है और सुखपूर्वक जँभाई लेता है।

वह स्वयं जप करता है और सब लोग उसका जप करते हैं। वह स्वयं तप करता है और लोग उस के लिये तपस्या किया करते हैं। वह दान करता और प्रतिग्रह ग्रहण किया करता है, योग करता और ध्यान करता है। वेदी,

वेदीमध्ये तथा यूपे गोष्ठमध्ये हुताशने ।
दृश्यते ऽदृश्यते चापि बालो वृद्धो युवा तथा ॥१५६॥

क्रीडते ऋषिकन्याभिर्ऋषिपत्नीभिरेव च ।
ऊर्ध्वकेशो महाकेशो नग्नो विकृतलोचनः ॥१५७॥

गौरः श्यामस्तथा कृष्णः पाण्डुरो धूम्रलोहितः ।
विकृताक्षो विशालाक्षो दिग्वासाः सर्ववासकः ॥१५८॥

अरूपस्याद्य रूपस्य अतिरूपाद्यरूपिणः ।
अनाद्यन्तमजस्यान्तं वेत्स्यते कोऽस्य तत्त्वतः ॥१५९॥

हृदि प्राणो मनो जीवो योगात्मा योगसंज्ञितः ।
ध्यानं तत्परमात्मा च भावग्राह्यो महेश्वरः ॥१६०॥

वादको गायनश्चैव सहस्रशतलोचनः ।
एकवक्त्रो द्विवक्त्रश्च त्रिवक्त्रोऽनेक वक्त्रकः ॥१६१॥

तद्भक्तस्तद्गतो नित्यं तन्निष्ठस्तत्परायणः ।
भज पुत्र महादेवं ततः प्राप्स्यसि चेप्सितम् ॥१६२॥

यूप, गोशाला और अग्नि के मध्य में वह कभी बालक, युवा और वृद्ध के रूप में दीख पड़ता और कभी अदृश्य हो जाता है। वही ऋषिकन्या और ऋषिपत्नियों के संग क्रीड़ा करता है। वह बड़े ऊर्ध्व केशवान, दिगम्बर और त्रिनेत्र है। गौर, श्याम, कृष्ण, पाण्डुर, धूम्र, और लाल—इन वर्णों से युक्त विकृताक्ष, विशालाक्ष, दिगम्बर और सर्वाम्बर अर्थात् सबको वस्त्र देने वाला है; अर्थात् आद्यरूपी, निष्कल मायावी, अतिरूप नाशकार्य के कारण आद्यरूप, हिरण्यगर्भ, अनादि, अनन्त, जन्म रहित, माया से रहित आदिरूप तथा माया सहित अनेक प्रकार के कार्यरूप रूपों वाले, निराकार, अजन्म महेश्वर का अन्त यथार्थ रीति से कौन जान सकता है ? जो हृदय में प्राण, मन और जीवरूप अर्थात् अन्नमय प्राण में मनोमय और विज्ञानमय कोष रूप से वर्णित होता है, योगात्मा तथा आनन्दमय है और योग संज्ञक योगी कहा जाता है। वह परम शुद्ध ध्यान में प्रबल परमात्मा महेश्वर सूक्ष्म मनोवृत्ति के द्वारा भी मालूम होने योग्य नहीं है। वही वादक, गीत गानेवाला, असंख्य नेत्रोंवाला, एकमुख, दो मुख, तीन मुख और अनन्त मुख रखनेवाला है।

हे पुत्र ! तुम उसी के भक्त होकर उसी में चित्त लगाओ, उसी में निष्ठा रक्खो और उसी में रत होकर उसी की आराधना करो ! तब तुम अभिलषित मनोरथों को प्राप्त करोगे। हे शत्रुनाशन ! माता के ऐसे वचन के समय से

जनन्यास्तद्वचः श्रुत्वा तदाप्रभृति शत्रुहन् ।
मम भक्तिर्महादेवे नैष्ठिकी समपद्यत ॥१६३॥

ततोऽहं तप आस्थाय तोषयामास शङ्करम् ।
एकं वर्षसहस्रं तु वामाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितः ॥१६४॥

एकं वर्षशतञ्चैव फलाहारस्ततोऽभवम् ।
द्वितीयं शीर्णपर्णाशी तृतीयं चाम्बुभोजनः ॥१६५

शतानिसप्त चैवाहं वायुभक्षस्तदाभवम् ।
एवं वर्षसहस्रं तु दिव्यमाराधितो मया ॥१६६॥

ततस्तुष्टो महादेवो सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।
एकभक्त इति ज्ञात्वा जिज्ञासां कुरुते तदा ॥१६७॥

शक्ररूपं स कृत्वा तु सर्वैर्देवगणैर्वृतः ।
सहस्राक्षस्तदा भूत्वा वज्रपाणिर्महायशाः ॥१६८॥

सुधावदातं रक्ताक्षं स्तब्धकर्णं महोत्कटम् ।
आवेष्टितकरं घोरं चतुर्दंष्ट्रं महागजम् ॥१६९॥

समास्थितः स भगवान् दीप्यमानः स्वतेजसा ।
आजगाम किरीटी तु हारकेयूरभूषितः ॥१७०॥

पांडुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्द्धनि ।
सेव्यमानोऽप्सरोभिश्च दिव्यगन्धर्वनादितैः ॥१७१॥

महादेवजी में मेरी निश्चल भक्ति उत्पन्न हुई और मैंने तपस्या करके महादेव जी को सन्तुष्ट किया। बायें अंगूठे के सहारे स्थित होकर एक हजार वर्ष बिताये। एक सौ वर्ष तक फल भोजन करके रहा। दूसरी बार एक सौ वर्ष तक सूखे पत्तों को खा कर रहा। फिर एक सौ वर्ष तक जल पीकर बिताया। अनन्तर सात सौ वर्ष तक वायु पीकर रहा। इसी प्रकार देव परिमाण से एक सहस्र वर्ष तक महेश्वर मेरे द्वारा पूजित हुए। अनन्तर सब लोकों के ईश्वर प्रभु महादेव प्रसन्न हुए। *उस समय उन्होंने मुझे अपना मुख्य भक्त समझ कर परीक्षा* करने की इच्छा की। उन्होंने महायशस्वी, वज्रधारी, हजार नेत्र वाले, सुधा की भांति श्वेतरूप, लालनेत्र, निश्चलकर्ण, महोत्कट विशाल भुजा वाले इन्द्र का रूप धर कर चार दांत वाले महामातङ्ग पर चढ़े हुए अपने तेज से प्रकाशमान होते हुए हार, किरीट और कुण्डल विभूषित शरीर से सब देवताओं के साथ आगमन किया। उनके सिर पर श्वेत छत्र शोभित था। वह दिव्य गन्धर्वों

ततो मामाह देवेन्द्रस्तुष्टस्तेऽहं द्विजोत्तम ।
वरं वृणीष्व भक्तस्त्वं यत्ते मनसि वर्तते ॥१७२॥

शक्रस्य तु वचः श्रुत्वा नाहं प्रीतमनाभवम् ।
अब्रवञ्च तदा कृष्ण देवराजमिदम्वचः ॥१७३॥

नाहं त्वत्तो वरं काङ्क्षे नान्यस्मादपि दैवतात् ।
महादेवादृते सौम्य सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥१७४॥

सत्यं सत्यं हि नः शक्र वाक्यमेतत् सुनिश्चितम् ।
न यन्महेश्वरं मुक्त्वा कथान्या मम रोचते ॥१७५॥

पशुपति वचनाद्भवामि सद्यः कृमिरथवा तरुरप्यनेकशाखः ।
अपशुपतिवरप्रसादजा मे त्रिभुवनराज्यविभूतिरप्यनिष्टा ॥१७६॥

जन्मश्वपाकमध्येऽपि मेऽस्तु हरचरणवन्दनरतस्य ।
मानीश्वरभक्तो भवानि भवनेऽपि शक्रस्य ॥१७७॥

वाय्वम्बुजोऽपि सतो नरस्य दुःखचयः कुतस्तस्य ।
भवति हि सुरासुरगुरौ यस्य न विश्वेश्वरे भक्तिः ॥१७८॥

अलमन्याभिस्तेषां कथाभिरप्यन्यधर्मयुक्ताभिः ।
येषां न क्षणमपि रुचितो हरचरणस्मरणविच्छेदः ॥१७९॥

की संगीत ध्वनि से और अप्सराओं से सेवित थे। तव (पहुँचकर) देवराजरूपी भगवान् ने कहा, हे द्विजोत्तम! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं, तुम अपना अभीष्ट वर मांगो! इन्द्र का वचन सुन कर मैं प्रसन्न चित्त नहीं हुआ। हे कृष्ण! उस समय मैंने देवराज से यह वचन कहा—मैं महादेव के अतिरिक्त दूसरे किसी देवता से वर की अभिलाषा नहीं करता, यही मेरा सत्य संकल्प है। हे शक्र! मेरा यह भलीभांति निश्चित वचन सत्य है क्योंकि महेश्वर के अतिरिक्त मेरी किसी दूसरे वचन में रुचि नहीं होती।

पशुपति के वचन के अनुसार मुझे उसी समय कृमि अथवा अनेक शाखा-युक्त वृक्ष होना स्वीकार है परन्तु महादेव के अतिरिक्त मैं दूसरे के वर वा कृपा से तीनों लोक के राज्य तथा ऐश्वर्य की भी इच्छा नहीं करता। शिव के चरण में रत होकर मेरा चाण्डाल कुल में जन्म हो तो भी अच्छा है; परन्तु अपने ईश्वर महादेव की भक्ति के विना इन्द्र-भवन में मेरा जन्म न होवे। सुरासुर गुरु विश्वेश्वर में जिसकी भक्ति नहीं है उस पुरुष के वायु भक्षण वा जल पीकर रहने पर भी उसका दुःख किस प्रकार नष्ट होगा? जिसको शिव के चरणों के स्मरण

हरचरणनिरतमतिना भवितव्यमनार्जवं युगं प्राप्य ।
संसारभयं न भवति हरभक्तिरसायनं पीत्वा ॥१८०॥

दिवसं दिवसार्द्धं वा मुहूर्तं वा क्षणं लवम् ।
न ह्यलब्धप्रसादस्य भक्तिर्भवति शंकरे ॥१८१॥

अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शङ्कराज्ञया ।
न तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये ॥१८२॥

श्वापि महेश्वरवचनाद् भवामि स हि नः परः कामः ।
त्रिदशगणराज्यमपि खलु नेच्छाम्यमहेश्वराज्ञप्तम् ॥१८३॥

न नाकपृष्ठं न च देवराज्यं न ब्रह्मलोकं न च निष्कलत्वम् ।
न सर्वकामानखिलान् वृणोमि हरस्य दासत्वमहं वृणोमि ॥१८४॥

यावच्छशाङ्कधवलामलबद्धमौलिर्न प्रीयते पशुपतिर्भगवान्ममेशः ।
तावज्जरामरणजन्मशताभिघातैर्दुःखानि देवविहितानि समुद्वहामि ॥१८५॥

दिवसकरशशांकवह्निदीप्तं त्रिभुवनसारमसारमाद्यमेकम् ।
अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं जगति पुमानिह को लभते शान्तिम् ॥१८६॥

का त्याग इस समय भी रुचिकर न हो, उसे दूसरे वचन तथा अन्य धर्मयुक्त वाक्य से क्या प्रयोजन है? क्रूर कलियुग के उपस्थित होने पर मनुष्यों को शिवचरण में सदा रत होना उचित है, क्योंकि हरभक्ति रसायन को पीने से मनुष्य को संसार का भय नहीं होता। दिन, दिन का अर्ध भाग, मुहूर्त, क्षण और लवमात्र समय में भी जो शंकर के प्रसाद पाने में समर्थ नहीं हैं, उसके मनमें भक्ति नहीं होती। हे देवराज! महादेव की आज्ञानुसार चाहे कीट या पतंग योनि में भले ही उत्पन्न होऊं; परन्तु तुम्हारे दिये तीन लोकों की मैं कामना नहीं करता।

महेश्वर के वचन से चाहे कुत्ता भले ही बनूं; परन्तु बिना उनकी आज्ञा के देवताओं के भी राज्य को मैं नहीं चाहता। मैं स्वर्गलोक की अभिलाषा नहीं करता, देवराज्य की इच्छा नहीं करता, ब्रह्म लोक की वाञ्छा नहीं करता, निष्कलत्व की स्पृहा नहीं करता और समस्त काम्य विषयों की भी कामना नहीं करता; केवल हरि के दासत्व को चाहता हूँ। जब तक चन्द्र के समान उज्ज्वल, अमल, बद्ध मौलि भगवान् महेश प्रसन्न नहीं होते तब तक जरा, मरण और सैकड़ों जन्मों के अभिघात से उत्पन्न होने वाले शरीर के सब दुःखों को सहता रहूँगा। सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के द्वारा प्रकाशमान त्रिभुवन में सारभूत और कुछ भी नहीं है। उस एकमात्र आदि पुरुष, अजर, अमर रुद्रदेव को बिना प्रसन्न

यदि नाम जन्म भूयो भवति मदीयैः पुनर्दोषैः ।
तस्मिन् तस्मिन् जन्मनि भवे भवेन्मेऽक्षया भक्तिः ॥१८७॥

शक्र उवाच—

कः पुनर्भवने हेतुरीशे कारणकारणे ।
येन शर्वादृतेऽन्यस्मात् प्रसादं नाभिकाङ्क्षसि ॥१८८॥

उपमन्युरुवाच—

सदसद्व्यक्तमव्यक्तं यमाहुर्ब्रह्मवादिनः ।
नित्यमेकमनेकञ्च वरं तस्माद्वृणीमहे ॥१८९॥
अनादिमध्यपर्यन्तं ज्ञानैश्वर्यमचिन्तितम् ।
आत्मानं परमं यस्माद्वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९०॥
ऐश्वर्यं सकलं यस्मादनुत्पादितमव्ययम् ।
अबीजाद्बीजसंभूतं वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९१॥
तपसः परमं ज्योतिस्तपस्तद्वृत्तिनां परम् ।
यं ज्ञात्वा नानुशोचन्ति वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९२॥
भूतभावनभावज्ञं सर्वभूताभिभावनम् ।
सर्वगं सर्वदं देवं पूजयामि पुरन्दर ॥१९३॥

किये, इस जगत् में कौन पुरुष शान्ति लाभ करने में समर्थ होगा ? मेरे दोष से यदि फिर मेरा जन्म हो तो उन जन्मों में भी महादेव में मेरी अक्षयभक्ति उत्पन्न होवे। इन्द्र बोले—उस कारण के भी कारण ईश्वर की सत्ता के विषय में तुमने कैसे निश्चय कर लिया जो तुम महेश्वर के अतिरिक्त दूसरे किसी देवता को प्रसन्नता की इच्छा नहीं करते हो ?

उपमन्यु बोले—

ब्रह्मवादी लोग जिसे सत्, असत्, व्यक्त और अव्यक्त तथा नित्य एक और अनेक रूपधारी कहते हैं; उसी परमेश्वर से मैं वर पाने की इच्छा करता हू। जिसका आदि, मध्य, अन्त नहीं है, जो ज्ञान रूप, ऐश्वर्यमय और अचिन्तित परमात्मा है; उसी से मैं वर पाने की इच्छा करता हूं। जिससे सब ऐश्वर्य उत्पन्न हुए है, जो अव्यय है, जिसका बीज नहीं है और जिससे सब बीज उत्पन्न हुए हैं; मैं उसी से वर पाने की इच्छा करता हूँ। जो अन्धकार दूर करने वाला परम प्रकाश और अपने में निष्ठावान लोगों के निमित्त परम तपस्वरूप है, जिसे जान लेने से पण्डित लोग निश्चिन्त हो जाते हैं; उसी से मैं वर पाने की इच्छा करता हू।

हे पुरन्दर ! जो आकाश आदि पंच तत्त्वों और सब जीवों को उत्पन्न

हेतुवादैर्विनिर्मुक्तं सांख्ययोगार्थदं परम् ।
यमुपासन्ति तत्त्वज्ञा वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९४॥

मघवन् मघवात्मानं यं वदन्ति सुरेश्वरम् ।
सर्वभूतगुरुं देवं वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९५॥

यः पूर्वमसृजद्देवं ब्रह्माणं लोकभावनम् ।
अण्डमाकाशमापूर्य वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९६॥

अग्निरापोऽनिलः पृथ्वी खं बुद्धिश्च मनो महान् ।
स्रष्टा चैषां भवेद्योऽन्यो ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥१९७॥

मनो मतिरहंकारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
ब्रूहि चैषां भवेच्छक्र कोऽन्योऽस्ति परमः शिवात् ॥१९८॥

स्रष्टारं भवनस्येह वदन्ति हि पितामहम् ।
आराध्य स तु देवेशमश्नुते महतीं श्रियम् ॥१९९॥

भगवत्युत्तमैश्वर्यं ब्रह्मविष्णुपुरोगमम् ।
विद्यते वै महादेवात् ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥२००॥

करता है और जो सबके अभिप्राय को जानता है, सर्वव्यापी और सब मनोरथों को देने वाले मैं उसी देव की पूजा करता हू। हे देवराज! मैं उससे वर मांगता हू जो युक्तियों से सिद्ध न होने वाला, सांख्य योग के आशयों का साक्षात्कार करने वाला, सब से परे है और तत्त्वज्ञानी पुरुष जिसकी उपासना करते हैं। हे इन्द्र! जिस देवता को अन्तरात्मा, देवताओं का ईश्वर, जीवों का गुरु कहते हैं, मैं उसी से वर मांगता हू। जिसने आकाश को अपनी सत्ता से व्याप्त कर ब्रह्माण्ड उत्पन्न करके सबके पहिले स्वामी प्रजापति को उत्पन्न किया है, मैं उसी से वर मांगता हू।

अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश, अहंकार, मन और महत्तत्व—इन सब को परमेश्वर के अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष उत्पन्न कर सकता है? हे देवराज! बुद्धि तथा अहकार तत्त्व, पञ्चतन्मात्रा और इन्द्रियां—इन सब का उत्पत्तिस्थान शिव के अतिरिक्त दूसरा कौन हो सकता है? उसे तुम्हीं बताओ? इस लोक में सब पितामह ब्रह्माजी को जगत्स्रष्टा कहा करते हैं, परन्तु वह प्रजापति देवेश्वर महादेव की आराधना करके महान् ऐश्वर्य का भोग किया करता है। एक गुण वाले ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, देवों के सृष्टिकर्त्ता तुरीय मूर्तिवाले भगवान् का जो उत्तम ऐश्वर्य विद्यमान है, वह भी उन्हें महादेव के द्वारा प्राप्त हुआ है, इसलिये कहो तो सही, परमेश्वर से श्रेष्ठ और दूसरा कौन ईश्वर है?

दैत्यदानवमुख्यानामाधिपत्यारिमर्दनात् ।
कोऽन्यः शक्नोति देवेशाद्दितेः सम्पादितुं सुतान् ॥२०१॥
दिक्कालसूर्यतेजांसि ग्रहवाय्वम्बुतारकाः ।
विद्धि त्वेते महादेवाद् ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥२०२॥
अथोत्पत्तौ विनाशे वा यज्ञस्य त्रिपुरस्य वा ।
दैत्यदानवमुख्यानामाधिपत्यारिमर्दनः ॥२०३॥
किञ्चात्र बहुभिः सूक्तैर्हेतुवादैः पुरन्दर ।
सहस्रनयनं दृष्ट्वा त्वामेव सुरसत्तम ॥२०४॥
पूजितं सिद्धगन्धर्वैर्देवैश्च ऋषिभिस्तथा ।
देवदेवप्रसादेन तत्सर्वं कुशिकोत्तम ॥२०५॥
अव्यक्तमुक्तकेशाय सर्वगस्येदमात्मकम् ।
चेतनाचेतनाद्येषु शक्र विद्धि महेश्वरात् ॥२०६॥
भुवाद्येषु महान्तेषु लोकालोकान्तरेषु च ।
द्वीपस्थाने च मेरोश्च विभवेष्वन्तरेषु च ॥
भगवन् मघवन् देवं वदन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥२०७॥
यदि देवाऽसुराः शक्र पश्यन्त्यन्यां भवाकृतिम् ।
किं न गच्छन्ति शरणमर्दिताश्चासुरैः सुराः ॥२०८॥

दैत्य-दानवों के बीच मुख्य-मुख्य पुरुषों को आधिपत्य प्रदान कर और शत्रुओं का मर्दन करके दितिनन्दन, हिरण्यकश्यप प्रभृति को ऐश्वर्ययुक्त करने में देवेश्वर महादेव के अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष समर्थ है ? दिशा, काल, सूर्य का तेज, ग्रह, वायु, जल और नक्षत्र—इन सबको महादेव से ही उत्पन्न जानकर आप बताइये कि इनसे परे कौन है ? हे सुरसत्तम पुरन्दर ! हे कौशिक ! जब कि महेश्वर महादेव की कृपा से सिद्ध, गन्धर्व, देवता और ऋषि सभी लोग सहस्राक्ष की पूजा किया करते हैं तब इस विषय में अधिक हेतुवाद का प्रयोजन क्या ? यह सब कार्य महादेव की ही कृपा से हो रहा है। हे देवराज ! चेतन, अचेतन सब पदार्थों में व्यापक ईश्वर का व्याप्य इदमात्मक सब वस्तुओं में दिखाई देता है। जीव जो कुछ भोग्य वस्तु भोग करता है, वह सब महेश्वर ही से हुई जानो। हे भगवन् इन्द्र ! भूर्भुवः स्वः महः प्रभृति सब लोकों, लोकालोक पर्वत के भीतर दिव्य स्थानों, सुमेरु के बीच, द्वीप स्थानों और चन्द्र-सूर्य आदि से युक्त सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में तत्त्वदर्शी पुरुष उस देवों के देव की वन्दना किया करते हैं।

अभिघातेषु देवानां सयक्षोरगरक्षसाम् ।
परस्परविनाशेषु स्वस्थानैश्वर्यदो भवः ॥२०९॥
अन्धकस्याथ शक्रस्य दुन्दुभिर्महिषस्य च ।
यक्षेन्द्रबलरक्षःसु निवातकवचेषु च ॥
वरदानावघाताय ब्रूहि कोऽन्यो महेश्वरात् ॥२१०॥
दिग्वासाः कीर्त्यते कोऽन्यो लोके कश्चोर्ध्व रेतसः ।
कस्य चार्द्धे स्थिता कान्ता अनङ्गः केन निर्जितः ॥२११॥
ब्रूहीन्द्र परमं स्थानं कस्य देवैः प्रशस्यते ।
श्मशाने कस्य क्रीडार्थे नृत्ये वा कोऽभिभाषते ॥२१२॥
कस्यैश्वर्यं समानं वा भूतैः को वापि क्रीडते ।
कस्य तुल्यबला देव गणाश्चैश्वर्यदर्पिताः ॥२१३॥
घुष्यते ह्यचलं स्थानं कस्य त्रैलोक्यपूजितम् ।
वर्षते तपते कोऽन्यो ज्वलते तेजसा च कः ॥२१४॥
कस्माचौषधिसंपत्तिः को वा धारयते वसु ।
प्रकामं क्रीडते को वा त्रैलोक्ये सचराचरे ॥२१५॥

हे शक्र! देवता और असुर यदि महादेव के समान किसी दूसरी आकृति को देखते तो वे लोग, तथा असुर कुल के द्वारा पीड़ित देवता लोग, क्या उसकी शरण में न जाते? यक्ष, राक्षस, सर्प और देवताओं के परस्पर विनाशकारी युद्धघात के समय महादेव ही यथायोग्य निजधाम स्वरूप ऐश्वर्य प्रदान किया करते हैं। भला कहो तो सही; अन्धक, शुभ, दुन्दुभी, महर्षि, यक्ष, इन्द्र, बल, राक्षस और निवात कवचों को वरदान देने तथा उनके नाश करने में महेश्वर के सिवाय दूसरा कौन समर्थ हो सकता है।

लोक में दिगम्बर कौन कहा जाता और उर्ध्व रेता कौन है? किसके अर्द्धाङ्ग में कान्ता निवास करती है? किस पुरुष ने कामदेव को भस्म किया था? हे देवराज! कहो तो सही, किसके परम स्थान की प्रशंसा देवता लोग किया करते हैं? श्मशान में कौन क्रीड़ा करता है, नृत्य में किसकी प्रशंसा की जाती है? किसका ऐश्वर्य उसके समान है? कौन पुरुष भूतों के संग क्रीड़ा करता है? देवता किसके बल से बलवान होकर ऐश्वर्य का अभिमान किया करते हैं? किसका अचल धाम तीनों लोकों से पूजित और प्रसिद्ध है? उसके अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष जल वर्षाता है? कौन तेज से प्रज्वलित होता है? किसके द्वारा औषधि रूपी सम्पत्ति उत्पन्न हुआ करती हैं? कौन वसु को धारण

ज्ञानसिद्धिक्रियायोगैः सेव्यमानश्च योगिभिः ।
ऋषिगन्धर्वसिद्धैश्च कारणं विद्धि तं हरे ॥२१६॥
कर्मयोगक्रियायोगैः सेव्यमानः सुरासुरैः ।
नित्यं कर्मफलैर्हीनं तमहं कारणं वदे ॥२१७॥
स्थूलं सूक्ष्ममनौपम्यमग्राह्यं गुणगोचरम् ।
गुणहीनं गुणाध्यक्षं परं माहेश्वरं पदम् ॥२१८॥
स्थित्युत्पत्त्योः कारणञ्च लोकालोकान्तकारणम् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च जनकं सर्वकारणम् ॥२१९॥
अक्षरक्षरमव्यक्तं विद्याविद्ये कृताकृते ।
धर्माधर्मौ यतः शक्र तमहं कारणं वदे ॥२२०॥
तस्माद्वरमहं कांक्षे निधनं वापि कौशिक ।
गच्छ वा तिष्ठ वा शक्र यथेष्टं बलसूदनम् ॥२२१॥
काममेष वरो मेऽस्तु शापो वाथ महेश्वरात् ।
न चान्यां देवतां कांक्षे सर्वकालफलामपि ॥२२२॥
एवमुक्त्वा तु देवेन्द्रं दुःखादाकुलितेन्द्रियः ।
न प्रसीदति मे देवः किमेतदिति चिन्तयन् ॥२२३॥

करता है ? तीनों लोकों में कौन पुरुष जड़ और चेतन के साथ विहार करता है ? हे देवराज ! ऋषि, गन्धर्व, सिद्ध और योगी लोग ज्ञान, सिद्धि और क्रिया के सहारे जिसकी सेवा किया करते हैं, उसे ही कारण जानो ।

देवताओं और असुरों से जो पुरुष कर्मयोग तथा क्रियायोग द्वारा पूजा जाता है, उस कर्मफल रहित शिव को ही मैं कारण अर्थात् संसार का उत्पन्नकर्त्ता कहता हूं । स्थूल, सूक्ष्म, अनुपम, अज्ञेय, गुणगोचर, गुणहीन और गुणाध्यक्ष महेश्वर पद ही परमपद है । जो स्थिति और उत्पत्ति का कारण है, जो जीव रूप अक्षर, शरीर रूप क्षर और ईश्वर रूप अव्यक्त है, जिससे विद्या, अविद्या, कर्म, अकर्म, धर्म और अधर्म प्रवर्त्तित होते हैं उसी को मैं उसकी उत्पत्ति का कारण कहता हू ।

हे बल के मारने वाले सुरराज ! मैं उसी महेश्वर से वर अथवा मृत्यु चाहता हू । तुम जाओ या इच्छा हो तो यहीं रहो । मेरी यही अभिलाषा है कि मुझे वर या शाप जो भी मिले महेश्वर के ही द्वारा मिले । सब प्रकार की इच्छाओं का फल देने वाला होने पर भी किसी दूसरे देवता को मैं नहीं चाहता । देवराज से ऐसा कहकर मैं दुःख से व्याकुल, चिन्ता करने लगा कि महादेव किस

अथापश्यं क्षणेनैव तमेवैरावतं पुनः।
हंसकुन्देन्दुसदृशं मृणालरजतप्रभम् ॥२२४॥

वृषरूपधरं साक्षात् क्षीरोदमिव सागरम्।
कृष्णपुच्छं महाकायं मधुपिङ्गललोचनम् ॥२२५॥

वज्रसारमयैः शृङ्गैर्निष्टप्तकनकप्रभैः।
सुतीक्ष्णैर्मृदुरक्ताग्रैरुत्किरन्तमिवावनिम् ॥२२६॥

जाम्बूनदेन दाम्ना च सर्वतः समलंकृतम्।
सुवक्त्रखुरनासञ्च सुकर्णं सुकटीतटम् ॥२२७॥

सुपार्श्वं विपुलस्कन्धं सुरूपं चारुदर्शनम्।
ककुदं तस्य चाभाति स्कन्धमापूर्य धिष्ठितम् ॥२२८॥

तुषारगिरिकूटाभं सिताभ्रशिखरोपमम्।
तमास्थितश्च भगवान् देवदेवः सहोमया ॥२२९॥

अशोभत महादेवः पौर्णमास्यामिवोडुराट्।
तस्य तेजोभवो वह्निः समेघस्तनयित्नुमान् ॥२३०॥

सहस्रमिव सूर्य्याणां सर्वमापूर्य धिष्ठितम्।
ऐश्वरन्तु तदा तेजः संवर्तक इवानलः।
युगान्ते सर्वभूतानां दिधक्षुरिव चोद्यतः ॥२३१॥

लिये मुझ पर प्रसन्न नहीं होते हैं ? इसी चिन्ता में क्षण भर रहने के बाद मैंने फिर उसी ऐरावत को हंस, कुन्द, चन्द्रमा, कमल की डंडी और चाँदी के समान प्रकाशमान साक्षात् क्षीरसागर की भाँति वृष रूपधारी देखा। उस महाकाय वृष की पूँछ कृष्ण वर्ण थी, नेत्र मधु की भाँति पिंगल वर्ण थे। वह वृषभ तपाये हुए सोने के समान प्रकाशमान, उत्तम, तीक्ष्ण, मृदु, वज्र सारमय और लाल नेत्र वाले सींगों से मानो पृथिवी को विदीर्ण करता था। वह वृष सुवर्ण के बने हुए डोरी से सब प्रकार अलंकृत था। उसके मुख, कान, नासिका, कटि और खुर अत्यन्त सुन्दर थे। कन्धा विशाल था। उस सुन्दर मनोहर वृषभ का ककुद स्कन्धों को ढके हुए था। देवों के देव भगवान् महादेव उमादेवी के सहित उस सफेद बादल के शिखर तथा बरफ के पर्वत की चोटी के समान बैल पर चढ़े हुए पौर्णमासी की रात्रि के चन्द्रमा की भाँति शोभा दे रहे थे। उनके शरीर का तेज, बादलयुक्त अग्नि तथा हजार सूर्य के समान आभा सब दिशाओं में व्याप्त हो रही थी। उस समय ईश्वर का

तेजसा तु तदा व्याप्तं दुर्निरीक्ष्यं समन्ततः ।
पुनरुद्विग्नहृदयः किमेतदिति चिंतयन् ॥२३२॥
मुहूर्तमिव तत्तेजो व्याप्य सर्वा दिशो दश ।
प्रशान्तं दिक्षु सर्वासु देवदेवस्य मायया ॥२३३॥
अथापश्यं स्थितं स्थाणुं भगवन्तं महेश्वरम् ।
सौरभेयगतं सौम्यं विधूममिव पावकम् ॥२३४॥
सहितं चारु सर्वाङ्ग्या पार्वत्या परमेश्वरम् ।
नीलकण्ठं महात्मानमसक्तं तेजसां निधिम् ॥
अष्टादशभुजं स्थाणुं सर्वाभरणभूपितम् ॥२३५॥
शुक्लाम्बरधरं देवं शुक्लमाल्यानुलेपनम् ।
शुक्लध्वजमनाधृश्यं शुक्लयज्ञोपवीतिनम् ॥२३६॥
गायद्भिर्नृत्यमानैश्च वादयद्भिश्च सर्वशः ।
वृतं पार्श्वचरैर्दिव्यैरात्मतुल्यपराक्रमैः ॥२३७॥
बालेन्दुमुकुटं पाण्डुं शरच्चन्द्रमिवोदितम् ।
त्रिभिर्नेत्रैः कृतोद्योतं त्रिभिः सूर्यैरिवोदितैः ॥२३८॥
अशोभत च देवस्य माला गात्रे सितप्रभे ।

प्रलयकाल के सम्वर्त्तक नामक अग्नि की भाँति मानो सब भूतों को जलाने का इच्छुक होकर उदित हुआ। उस समय दशों दिशाएँ उसके तेज से व्याप्त होकर दुर्दृश्य (कठिनता से देखने योग्य) हो गईं। मैं उद्विग्न चित्त होकर चिन्ता करने लगा कि यह क्या है? इतने ही समय में जो तेज एक मुहूर्त तक दशों दिशाओं में फैला रहा था, महादेव की माया के प्रभाव से सब दिशाओं में शान्त हो गया।

इसके बाद मैंने धूम रहित अग्नि के समान, सौम्यरूप, सुन्दर, सर्वाङ्गयुक्त पार्वती के सहित सौरभेय बैलपर सवार, नीलकण्ठ, महानुभाव, असक्त तेज के निधि, अष्टादशभुजाधारी, सब आभूषणों से भूपित, सफेद वस्त्र, श्वेत माला, सफेद ध्वजा और शुक्ल यज्ञोपवीत धारण किये हुए, दुराधर्ष स्थाणु भगवान् महेश्वर, परमेश्वर का दर्शन किया। वह अपने समान पराक्रम वाले, गाते बजाते और नाचते हुए दिव्य अनुचरों से घिरे हुए थे। बाल चन्द्रमारूप मुकुट वाले पाण्डुरवर्ण देव मानो शरच्चन्द्र की भांति उदित हुए। तीन उदित सूर्यों की भांति उनके तीनों नेत्र प्रकाशमान थे। उस देव के श्वेत प्रभायुक्त शरीर में सुवर्णमय पद्म के द्वारा ग्रथित रत्नभूपित माला शोभा दे रही थी। हे गोविन्द!

जातरूपमयैः पद्मैर्ग्रथिता रत्नभूषिता ॥२३९॥
मूर्तिमन्ति तथास्त्राणि सर्वतेजोमयानि च ।
मया दृष्टानि गोविन्द भवस्यामिततेजसः ॥२४०॥
इन्द्रायुधसवर्णाभं धनुस्तस्य महात्मनः ।
पिनाकमिति यत् ख्यातं स च वै पन्नगो महान् ॥२४१॥
सप्तशीर्षो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो विषोल्बणः ।
ज्यावेष्टित महाग्रीवः स्थितः पुरुषविग्रहः ॥२४२॥
शरश्च सूर्यसंकाशः कालानलसमद्युतिः ।
यत्तदस्त्रं महाघोरं दिव्यं पाशुपतं महद् ॥२४३॥
अद्वितीयमनिर्देश्यं सर्वभूतभयावहम् ।
सस्फुलिंगं महाकायं विसृजन्तमिवानलम् ॥२४४॥
एकपादं महादंष्ट्रं सहस्रशिरसोदरम् ।
सहस्रभुजजिह्वाक्षमुद्गिरन्तमिवानलम् ॥२४५॥
ब्राह्मान्नारायणादैन्द्रादाग्नेयादपि वारुणात् ।
यद्विशिष्टं महाबाहो सर्वशस्त्रविघातनम् ॥२४६॥
येन तत्त्रिपुरं दग्ध्वा क्षणाद्भस्मीकृतं पुरा ।
शरेणैकेन गोविन्द महादेवेन लीलया ॥२४७॥

मैंने अमित तेजवाले महेश्वर के सर्वतेजोमय मूर्तिमान् अस्त्रोंका अवलोकन किया। उस महात्मा का इन्द्रधनुष के समान वर्ण वाला धनुष जो पिनाक नाम से विख्यात है, बहुत बड़े सर्प के सदृश दिखाई देता था।

वह सात शिर वाला, महाकाय, तीक्ष्ण विषैली दाढवाला, प्रत्यंचा से बँधा हुआ बड़ी ग्रीवा वाले पुरुष के रूप में था। साथ ही प्रलयकाल की अग्नि तथा सूर्य के समान प्रकाशमान बाण का निरीक्षण किया जिस का नाम दिव्य और महान् पाशुपत अस्त्र है। वह अस्त्र अद्वितीय, अनिर्देश्य, सब जीवों के लिये भयकारी और महाकाय था, तथा मानो अङ्गारों के सहित अग्नि विसर्जन कर रहा था। वह एक चरण वाला कराल दंष्ट्र, सहस्र उदर, सहस्र शिर, सहस्र जिह्वा और सहस्र नेत्र वाले रूप से आग उगल रहा था।

हे महाबाहो ! वह ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र-इन्द्रास्त्र, आग्नेयास्त्र और वरुणास्त्र (ऐन्द्रेय, आग्नेय और वारुण अस्त्र) से श्रेष्ठ और सर्व शस्त्रों का नाश करने वाला था। हे गोविन्द ! महादेव ने लीला क्रम से एकमात्र जिस बाण के सहारे उस

निर्ददाह जगत् कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
महेश्वरभुजोत्सृष्टं निमेषार्द्धान्न संशयः ॥२४८॥

नावध्यो यस्य लोकेऽस्मिन् ब्रह्मविष्णुसुरेष्वपि ।
तदहं दृष्टवांस्तात आश्चर्याद्भुतमुत्तमम् ॥२४९॥

गुह्यमस्त्रं परञ्चान्यत्तत्तुल्यमधिकं हि वा ।
यत्तच्छूलमितिख्यातं सर्वलोकेषु शूलिनः ॥२५०॥

दारयेद्यां महीं कृत्स्नां शोषयेद्वा महोदधिम् ।
संहरेद्वा जगत् कृत्स्नं विसृष्टं शूलपाणिना ॥२५१॥

यौवनाश्वो हतो येन मान्धाता सबलः पुरा ।
चक्रवर्ती महातेजास्त्रिलोकविजयी नृपः ॥२५२॥

महाबलो महावीर्यः शक्रतुल्यपराक्रमः ।
करस्थेनैव गोविन्द लवणस्येह राक्षसः ॥२५३॥

तच्छूलमतितीक्ष्णाग्रं सुभीमं लोमहर्षणम् ।
त्रिशिखां भ्रुकुटीं कृत्वा तर्जमानमिवस्थितम् ॥२५४॥

विधूमं सार्चिषं कृष्ण कालसूर्यमिवोदितम् ।
सर्पहस्तमनिर्देश्यं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥२५५॥

त्रिपुर को एक क्षण मे जलाकर भस्म कर दिया था, वही अस्त्र यदि महादेव के हाथ से छूटे तो आधे पल मे चराचर सहित तीनों लोकों को निःसन्देह भस्म कर दे। इस लोक मे ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं मे कोई भी उससे अवध्य नहीं है। हे तात ! मैंने उस आश्चर्यकारक और अद्भुत अस्त्र को देखा था। उसके समान वा उससे श्रेष्ठ एक दूसरा परम अस्त्र भी देखा जो सब लोकों मे महादेव के त्रिशूल नाम से प्रसिद्ध है। वह महादेव के हाथ से छूटने पर स्वर्ग तथा समस्त पृथ्वी-मण्डल को फाड़कर समुद्र का शोषण और समस्त जगत् का नाश कर सकता है। पहिले समय मे जिस त्रिशूल के लवण राक्षस के हाथ मे रहने पर यौवनाश्व और त्रिलोक-विजयी महा तेजस्वी बलवान इन्द्र के समान पराक्रमी चक्रवर्त्ती राजा मान्धाता सेना के सहित मारे गये थे, अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला भयंकर और रोमांचकारी वह त्रिशूल भ्रुकुटी को तीन शिखावाली करके तर्जन करता था। हे कृष्ण ! प्रलयकाल के सूर्य की भांति उदित, विधूम अर्चियुक्त अनिर्देश्य पाशधारी अन्तक समान उस अस्त्र को मैंने रुद्र के निकट देखा।

दृष्टवानस्मि गोविन्द तदस्त्रं रुद्रसन्निधौ ।
परशुस्तीक्ष्णधारश्च दत्तो रामस्य यः पुरा ॥२५६॥

महादेवेन तुष्टेन क्षत्रियाणां क्षयंकरः ।
कार्तवीर्यो हतो येन चक्रवर्ती महामृधे ॥२५७॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी येन निःक्षत्रिया कृता ।
जामदग्न्येन गोविन्द रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥२५८॥

दीप्तधारः सुरौद्रास्यः सर्पकण्ठाग्रवेष्ठितः ।
अभवच्छूलिनोऽभ्याशे दीप्तवह्निशिखोपमः ॥२५९॥

असङ्ख्येयानि चास्त्राणि तस्य दिव्यानि धीमतः ।
प्राधान्यतो मयैतानि कीर्तितानि तवानघ ॥२६०॥

सव्यदेशे तु देवस्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दिव्यं विमानमास्थाय हंसयुक्तं मनोजवम् ॥२६१॥

वामपार्श्वगतश्चापि तथा नारायणः स्थितः ।
वैनतेयं समारुह्य शङ्खचक्रगदाधरः ॥२६२॥

स्कन्दो मयूरमास्थाय स्थितो देव्याः समीपतः ।
शक्तिघण्टे समादाय द्वितीय इव पावकः ॥२६३॥

इसके अतिरिक्त, हे गोविन्द ! पहिले महादेव ने प्रसन्न हो परशुराम को क्षत्रियों का नाशक तीक्ष्ण धारवाला परशु प्रदान किया था, जिसके द्वारा महासंग्राम में चक्रवर्ती राजा कार्तवीर्य मारा गया था, उसे भी मैंने उनके निकट देखा। हे गोविन्द ! अक्लिष्टकर्मा जमदग्नि के पुत्र राम ने जिसके द्वारा पृथिवी को इक्कीस बार निःक्षत्रिय किया था, वह तीक्ष्ण धारवाला, रौद्रमुख, कण्ठाग्र में सर्प से लिपटा हुआ, जलती हुई शिखा के समान परशु महादेव के समीप था। हे अनघ ! उस धीमान् के निकट और भी अगणित अस्त्र थे। मैंने तुमसे इन तीन प्रधान शस्त्रों का वर्णन किया है। उस देव के दाहिनी ओर सब लोकों के पितामह ब्रह्मा, हंस के साथ मन की गति के समान तेज चलने वाले दिव्य विमान में स्थित थे। बाँई ओर शङ्ख, चक्र, गदाधारी नारायण गरुड़ पर विराजमान थे।

देवी के निकट, द्वितीय अग्नि के समान स्कन्द (स्वामी कार्तिकेय) शक्ति और घण्टा धारण कर मयूर पर निवास करते थे। महादेव के सम्मुख द्वितीय शङ्कर की भाँति शूल धारण करके खड़े हुए नन्दी को देखा। स्वायम्भुव

पुरस्ताच्चैव देवस्य नन्दिं पश्याम्यवस्थितम् ।
शूलं विष्टभ्य तिष्ठन्तं द्वितीयमिव शङ्करम् ॥२६४॥

स्वायम्भुवाद्या मुनयो भृग्वाद्या ऋषयस्तथा ।
शक्राद्या देवताश्चैव सर्व एव समभ्ययुः ॥२६५॥

सर्वभूतगणाश्चैव मातरो विविधाः स्थिताः ।
तेऽभिवाद्य महात्मानं परिवार्य्य समन्ततः ॥२६६॥

अस्तुवन् विविधैः स्तोत्रैर्महादेवं सुरास्तदा ।
ब्रह्मा भवं तदास्तौषीद्रथन्तरमुदीरयन् ॥२६७॥

ज्येष्ठसाम्ना च देवेशं जगौ नारायणस्तदा ।
गृणन् ब्रह्म परं शक्रः शतरुद्रियमुत्तमम् ॥२६८॥

ब्रह्मा नारायणश्चैव देवराजश्च कौशिकः ।
अशोभन्त महात्मानस्त्रयस्त्रय इवाग्नयः ॥२६९॥

तेषां मध्यगतो देवो रराज भगवाञ्छिवः ।
शरदभ्रविनिर्मुक्तः परिधिस्थ इवांशुमान् ॥२७०॥

अयुतानि च चन्द्रार्कानपश्यं दिवि केशव ।
ततोऽहमस्तुवं देवं विश्वस्य जगतः पतिम् ॥२७१॥

आदि मुनि, भृगु आदि ऋषि और इन्द्र आदि सब देवता उस स्थान में उपस्थित थे।

समस्त भूत और विविध मातृकाएँ उस महात्मा को सब प्रकार से घेर कर और प्रणाम करके खड़ी थीं। देवताओं ने उस समय विविध स्तोत्रों से महादेव की स्तुति की। तब ब्रह्मा जी सामवेद की रथन्तर ऋचा का पाठ करते हुए महेश्वर की स्तुति करने लगे। नारायण ने देवेश्वर को प्रसन्न करने के लिये ज्येष्ठ साम मंत्र का गान किया। देवराज इन्द्र ने उत्तम शतरुद्रि का पाठ करते हुए परब्रह्म की स्तुति की। ब्रह्मा, नारायण और देवराज इन्द्र—ये तीनों महानुभाव तीनों अग्नियों की भाँति शोभित हुए। इनके बीच में देवों के देव भगवान् महेश्वर शरद काल के बादलों से रहित आकाश में स्थित सूर्य की भाँति विराजमान थे।

हे केशव ! उस समय मैंने आकाशमण्डल मे दश हजार चन्द्रमा और सूर्य देखे; और तब मैं समस्त जगत के प्रभु महादेव की स्तुति करने लगा।

उपमन्युरुवाच—

ॐ नमो देवाधिदेवाय महादेवाय वै नमः ।
शक्र रूपाय शक्राय शक्रवेशधराय च ॥२७२॥
नमस्ते वज्रहस्ताय पिङ्गलायारुणाय च ।
पिनाकपाणये नित्यं शङ्खशूलधराय च ॥२७३॥
नमस्ते कृष्णवासाय कृष्णकुञ्चितमूर्धजे ।
कृष्णाजिनोत्तरीयाय कृष्णष्टमिरताय च ॥२७४॥
शुक्लवर्णाय शुक्लाय शुक्लाम्बरधराय च ।
शुक्लभस्मावलिप्ताय शुक्लकर्मरताय च ॥२७५॥
नमोऽस्तु रक्तवर्णाय रक्ताम्बरधराय च ।
रक्तध्वजपताकाय रक्तस्रगनुलेपने ॥२७६॥
नमोऽस्तु पीतवर्णाय पीताम्बरधराय च ।
पीतध्वजपताकाय पीतस्रगनुलेपिने ॥
नमोऽस्तूच्छ्रितच्छत्राय किरीटवरधारिणे ॥२७७॥
अर्धहारार्धकेयूर अर्धकुण्डलकर्णिने ।
नमः पवनवेगाय नमो देवाय वै नमः ।
सुरेन्द्राय मुनीन्द्राय महेन्द्राय नमोऽस्तु ते ।
नमः पद्मार्धमालाय उत्पलैर्मिश्रिताय च ॥२७९॥

उपमन्यु बोले:—तुम देवादिदेव हो, इसलिये तुम्हें नमस्कार है। तुम इन्द्ररूप इन्द्र, इन्द्रवेषधारी महादेव हो, इससे तुम्हें प्रणाम है; तुम कृष्णवस्त्र-धारी कृष्ण, कुञ्चितकेश, कृष्णमृगचर्म का वस्त्र धारण करने वाले और तुम वज्रहस्त हो, पिंगल हो, अरुण हो, पिनाकपाणि शंख-त्रिशूल-धारी और नित्य हो, इससे तुम्हें प्रणाम है; कृष्ण में रत हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। शुक्लवर्ण, शुक्लाम्बर-धारी, श्वेत भस्मधारी और शुक्लकर्म में रत हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। तुम रक्त-वर्ण, रक्ताम्बरधारी, रक्तध्वजा-पताका और लाल मालाधारी हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम पीताम्बरधारी, पीतवर्ण, ध्वजापताकायुक्त और पीली माला धारण करने वाले हो, इसलिये तुम्हें प्रणाम है। तुम विशाल छत्र और सुन्दर किरीटधारी, अर्धहार, अर्धकेयूर और अर्धकुण्डलधारी हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। तुम्हीं वायुवेग हो, इसलिये तुम्हें नमस्कार है। हे देव! तुम्हें नमस्कार है। तुम सुरेन्द्र, मुनीन्द्र और महेन्द्र हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम उत्पल मिश्रित

अर्द्धचन्दनलिप्ताय अर्द्धस्रगनुलेपिने ॥२८०॥
नम आदित्यवर्णाय आदित्यप्रतिमाय च ।
नम आदित्यवक्त्राय आदित्यनयनाय च ॥२८१॥
नमः सोमाय सौम्याय सौम्यचक्रधराय च ।
सौम्यरूपाय मुख्याय सौम्यदंष्ट्राविभूषिणे ॥२८२॥
नमः श्यामाय गौराय अर्द्धपीतार्द्धपाण्डवे ।
नारीनरशरीराय स्त्रीपुंसाय नमोऽस्तु ते ॥२८३॥
नमो वृषभवाहाय गजेन्द्रगमनाय च ।
दुर्गमाय नमस्तुभ्यमगम्यगमनाय च ॥
नमोऽस्तु गणगीताय गणवृन्दरताय च ।
गणानुजातमार्गाय गणनित्यव्रताय च ॥२८४॥
नमः श्वेताभ्रवर्णाय सन्ध्यारागप्रभाय च ।
अनुद्दिष्टाभिधानाय स्वरूपाय नमोऽस्तु ते ॥
नमोरक्ताग्रवासाय रक्तसूत्रधराय च ॥२८५॥
रक्तमालाविचित्राय रक्ताम्बरधराय च ।
मणिभूषितमूर्धाय नमश्चन्द्रार्द्धभूषिणे ॥२८६॥
विचित्रमणिमूर्धाय कुसुमाष्टधराय च ।

पद्मार्धमाला धारी हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम्हारा आधा शरीर चंदन से और आधा मालाओं से शोभित है। आदित्य वर्ण, आदित्य प्रतिम, आदित्य मुख और आदित्य नयन हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। तुम सोम, सौम्य, सौम्यचक्रधर, सौम्यरूप, सौम्यदन्त विभूषित हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। तुम श्याम, गौर, अर्धपीत और अर्ध पाण्डुवर्ण हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। नरनारीरूप शरीर और स्त्रीपुरुष स्वरूप हो, इससे तुम्हें प्रणाम है।

तुम वृषभ वाहन गजेन्द्र गमन हो, स्वयं दुष्प्राप्य हो; परन्तु तुम्हारे लिये कोई भी स्थान अगम्य नहीं है, इससे तुम्हें प्रणाम है। गण तुम्हारे गुण गाते और अनुगमन करते हैं और तुम गणो पर प्रसन्न रहते हो और उनके व्रत स्वरूप हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। तुम श्वेत बादल और सन्ध्या की लाली के समान वर्ण वाले हो तथा अनुद्दिष्टाभिधान अर्थात् नाम निर्देश से अवर्णनीय हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। तुम रक्ताग्रवासा, रक्तसूत्रधर, लाल माला, विचित्र रक्ताम्बर-धारी, मणि भूषित मूर्धा और अर्ध चन्द्र भूषित हो, तुम विचित्र मणिधारी हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम सब देवताओं के स्वामी और विश्वेश्वर

नमोऽग्निमुखनेत्राय सहस्रशशिलोचने ॥२
अग्निरूपाय कान्ताय नमोऽस्तु ग्रहणाय
खचराय नमस्तुभ्यं गोचराभिरताय च ।
भूचराय भुवनाय अनन्ताय शिवाय च
नमो दिग्वाससे नित्यमधिवाससुवाससे ।
नमो जगन्निवासाय प्रतिपत्ति सुखाय च
नित्यमुद्बद्धमुकुटे महाकेयूरधारिणे ॥२८६
सर्पकण्ठोपहाराय विचित्राभरणाय च
नमस्त्रिनेत्रनेत्राय सहस्रशतलोचने ॥२६०
स्त्रीपुंसाय नपुंसाय नमः सांख्याय योगि
शंयोरभिस्रवन्ताय अथर्वाय नमो नमः ॥
नमः सर्वार्तिनाशाय नमः शोकहराय च ।
नमो मेघनिनादाय बहुमायाधराय च ॥२६२॥
बीजक्षेत्राभिपालाय स्रष्ट्राराय नमो नमः ।
नमः सर्वसुरेशाय विश्वेशाय नमो नमः ॥२६३॥
नमः पवनवेगाय नमः पवनरूपिणे ।
नमः काञ्चनमालाय गिरिमालाय वै नमः ॥२६४॥

हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। मण्डित मस्तक पर अष्ट कुसुमधारी, अग्नि मुख, अग्नि नेत्र और सहस्र शशि नेत्र हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। तुम अग्निरूप, मनोहरमूर्ति और दुष्प्राप्य हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम शेखर और गोचराभिरत हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम भूचर, भुवन, अनन्त, शिव, दिगम्बर, पुरुषादिगन्ध-वासित और उत्तम गन्धधारी हो, इससे तुम्हें प्रणाम है।

तुम जगन्निवास, ज्ञान और सुख स्वरूप हो, तुम सदा सिर पर मुकुट, हाथ में केयूर और गले में सर्पों का हार धारण करते हो और विचित्र आभूषणों से भूषित रहते हो, (लोक यात्रा निर्वाहक) अग्नि, सूर्य, चन्द्र रूप तीनों नेत्रों से त्रिनेत्र और सहस्रशत लोचन हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम शम्भुसंज्ञक यज्ञ करने वाले देवताओं के प्रसाद स्वरूप हो, तुम सब दुःख और शोक हरने वाले हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम बीजपाल, क्षेत्रपाल और सृष्टिकर्ता हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम पवन के समान वेगवान्, पवनस्वरूप, सोने की माला पहने हुए और पर्वत पर क्रीड़ा करने वाले हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम

नमः सुरारिमालाय चण्डवेगाय वै नमः ।
ब्रह्मशिरोपहर्ताय महिषघ्नाय वै नमः ॥२९५॥
नमस्त्रिपुरहर्ताय यज्ञविध्वंसनाय च ॥२९६॥
नमः कामाङ्गनाशाय कालदण्डधराय च ।
नमः स्कन्दविशाखाय ब्रह्मदण्डाय वै नमः ॥२९७॥
नमो भवाय शर्वाय विश्वरूपाय वै नमः ।
ईशानाय भवघ्नाय नमोऽस्त्वन्धकघातिने ॥२९८॥
नमो विश्वाय मायाय चिन्त्याचिन्त्याय वै नमः ।
त्वं नो गतिश्च श्रेष्ठश्च त्वमेव हृदयं तथा ॥२९९॥
त्वं ब्रह्मा सर्वदेवानां रुद्राणां नीललोहितः ।
आत्मा च सर्वभूतानां सांख्ये पुरुष उच्यते ॥३००॥
ऋषभस्त्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः ।
गृहस्थस्त्वमाश्रमिणामीश्वराणां महेश्वरः ॥३०१॥
कुबेरः सर्वयक्षाणां क्रतूनां विष्णुरुच्यते ।
पर्वतानां भवान्मेरुर्नक्षत्राणाञ्च चन्द्रमाः ॥३०२॥
वशिष्ठस्त्वं ऋषीणाञ्च ग्रहाणां सूर्य उच्यते ।
आरण्यानां पशूनाञ्च सिंहस्त्वं परमेश्वरः ॥३०३॥

सुरारिमालाधारी और प्रचण्ड वेग वाले, ब्रह्मा के शिर को काटने वाले और महिष का नाश करने वाले हो, इससे तुम्हें नमस्कार है।

त्रिमूर्त्तिधारी, सर्वरूपधारी, त्रिपुरहन्ता और यज्ञ विध्वंसकारी हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम कामदेव के शरीर का नाश करने वाले कालदण्डधारी कार्तिकेय, विशाख और ब्रह्मदण्ड स्वरूप हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम भव शर्व, विश्वरूप, ईशान, संसार के संहारक और अन्धकान्तक हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम विश्वव्यापी, मायामय, चिन्त्य और अचिन्त्य हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। तुम हमारे लिये श्रेष्ठ तथा गति स्वरूप हो, तुमही हम लोगों के हृदय स्वरूप हो। तुम सब देवताओं में ब्रह्मा, रुद्र गणों में नील लोहित, सब प्राणियों की आत्मा और सांख्ययोग में पुरुष रूप से वर्णित हुआ करते हो। तुम पवित्र लोगों में ऋषभ, योगियों में निष्कलशिव, आश्रमी पुरुषों में गृहस्थ और ईश्वरों में महेश्वर हो। तुम यक्षों में कुबेर हो और यज्ञों में विष्णु कहे जाते हो। तुम पर्वतों में मेरु और नक्षत्रों में चन्द्रमा हो। ऋषियों में वशिष्ठ और ग्रहों में सूर्य

ग्राम्याणां गोवृषश्चासि भवाँल्लोकप्रपूजितः ।
आदित्यानां भवान्विष्णुर्वसूनाञ्चैव पावकः ॥३०४॥

पक्षिणां वैनतेयस्त्वमनन्तो भुजगेषु च ।
सामवेदश्च वेदानां यजुषां शतरुद्रियम् ॥३०५॥

सनत्कुमारो योगीनां सांख्यानां कपिलो ह्यसि ।
शक्रोऽसि मरुतां देव पितॄणां देवराडसि ॥३०६॥

ब्रह्मलोकश्च लोकानां गतीनां मोक्ष उच्यसे ।
क्षीरोदः सागराणश्च शैलानां हिमवान् गिरिः ॥३०७॥

वर्णानां ब्राह्मणश्चासि विप्राणां दीक्षितो द्विजः ।
आदिस्त्वमसि लोकानां संहर्ता काल एव च ॥३०८॥

यच्चान्यदपि लोके वै सर्वतेजोऽधिकं स्मृतम् ।
तत् सर्वं भगवानेव इति मे निश्चिता मतिः ॥३०९॥

नमस्ते भगवन्देव नमस्ते भक्तवत्सल ।
योगेश्वर नमस्तेऽस्तु नमस्ते विश्वसम्भव ॥३१०॥

प्रसीद मम भक्तस्य दीनस्य कृपणस्य च ।
अनैश्वर्येण युक्तस्य गतिर्भव सनातन ॥३११॥

यच्चापराधं कृतवानज्ञात्वा परमेश्वर ।

कहलाते हो। तुम्हीं परमेश्वर हो। तुम जंगली पशुओं के बीच सिंह हो और ग्रामवासी पशुओं में लोक पूजित गऊ, वृषभ स्वरूप हो। तुम आदित्यों में विष्णु, वसुओं मे अग्नि, पक्षियों मे गरुड़, सर्पों मे अनन्त, वेदों मे सामवेद, यजुर्वेद में शतरुद्रीय, योगियों मे सनत्कुमार और सांख्य शास्त्र के विद्वानों मे कपिल स्वरूप हो। हे देव! तुम देवताओं में इन्द्र तथा पितरों में देवराज हो। तुम लोकों में ब्रह्मलोक और गतियों में मोक्ष स्वरूप से वर्णित हुआ करते हो। तुम समुद्रों में क्षीरसागर, पर्वतों मे हिमालय, वर्णों मे ब्राह्मण, और विप्रों मे विद्वान् ब्राह्मण हो। तुम सब लोगों के आदिकर्ता और संहर्ता काल हो। लोक में जो कुछ अधिक तेज वाली वस्तु दीख पड़ती है, वह सभी भगवान् का स्वरूप है, ऐसा ही मेरी बुद्धि में निश्चय हुआ है। हे भगवान् देव! तुम्हें नमस्कार है। हे भक्तवत्सल! तुम्हें प्रणाम है। हे योगेश्वर! तुम्हें प्रणाम है। योगेश्वर तुम्हें नमस्कार है। हे जगत् की सृष्टि करने वाले! तुम्हें नमस्कार करता हूँ।

हे सनातन! कृपाकर मुझ दीन, कृपण अनैश्वर्ययुक्त भक्त के लिये गति दें। हे

मद्भक्त इति देवेश तत् सर्वं क्षन्तुमर्हसि ॥३१२॥

मोहितश्चास्मि देवेश त्वया रूपविपर्ययात् ।
नार्घ्यं ते न मया दत्तं पाद्यञ्चापि महेश्वर ॥३१३॥

एवं स्तुत्वाहमीशानं पाद्यमर्घ्यञ्च भक्तितः ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा सर्वं तस्मै न्यवेदयम् ॥३१४॥

ततः शीताम्बुसंयुक्ता दिव्यगन्धसमन्विता ।
पुष्पवृष्टिः शुभा तात पपात मम मूर्द्धनि ॥३१५॥

दुन्दुभिश्च तदा दिव्यस्ताडितो देवकिंकरैः ।
ववौ च मारुतः पुण्यः शुचिगन्धः सुखावहः ॥३१६॥

ततः प्रीतो महादेवः सपत्नीको वृषध्वजः ।
अब्रवीत्त्रिदशांस्तत्र हर्षयन्निव मां तदा ॥३१७॥

पश्यध्वं त्रिदशाः सर्वे उपमन्योर्महात्मनः ।
मयि भक्तिं परां नित्यमेकभावादवस्थिताम् ॥३१८॥

एवमुक्तास्तदा कृष्ण सुरास्ते शूलपाणिना ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे नमस्कृत्वा वृषध्वजम् ॥३१९॥

भगवन्देवदेवेश लोकनाथ जगत्पते ।
लभतां सर्वकामेभ्यः फलं त्वत्तो द्विजोत्तमः ॥३२०॥

परमेश्वर ! हे देवेश ! मैंने अज्ञानवश जो कुछ अपराध किया है, आप मुझे अपना भक्त समझकर उस अपराध को क्षमा कीजिये। हे देवेश्वर ! मैं तुम्हारे रूप बदलने से मोहित हो गया था, इसी से मैंने तुम्हें पाद्य-अर्घ्य प्रदान नहीं किया। इस प्रकार मैंने महादेवजी की स्तुति करके भक्तिभाव से हाथ जोड़ कर पाद्य-अर्घ्य आदि प्रदान किया। हे तात ! अनन्तर, मेरे शिरपर शीतल जल से पूरित, दिव्यगन्ध युक्त, शुभ पुष्प वृष्टि होने लगी। देवताओं के सेवक दिव्य दुन्दुभी बजाने लगे। पवित्र गन्धवाला सुखदायक पुण्यजनक वायु बहने लगा। इसके बाद सपत्नीक वृषध्वज महादेव प्रसन्न होकर उस समय मानो मुझे हर्षित करते हुए देवताओं से बोले, हे देवताओं ! मुझमे महात्मा उपमन्यु की एकाग्र भाव स्थित परमभक्ति अवलोकन करो ! हे कृष्ण ! जब शूलपाणि ने देवताओं से ऐसा कहा, तब वे लोग हाथ जोड़ कर वृषध्वज को नमस्कार कर बोले—हे भगवन् ! हे देवदेवेश ! जगत्पाल ! लोकनाथ ! यह द्विजवर आपके द्वारा सब इच्छित फल प्राप्त करे।

एवमुक्तस्ततः शर्वः सुरैर्ब्रह्मादिभिस्तथा ।
आह मां भगवानीशः प्रहसन्निव शंकरः ॥३२१॥

श्री भगवानुवाच :—

वत्सोपमन्यो तुष्टोऽस्मि पश्य मां मुनिपुङ्गव ।
दृढभक्तोऽसि विप्रर्षे मया जिज्ञासितो ह्यसि ॥३२२॥
अनया शिवभक्त्या ते अत्यर्थं प्रीतिमानहम् ।
तस्मात् सर्वान् ददाम्यद्य कामांस्तव यथेप्सितान् ॥३२३॥
एवमुक्तस्य चैवाथ महादेवेन धीमता ।
हर्षादश्रूण्यवर्तन्त रोमहर्षस्त्वजायत ॥३२४॥
अब्रुवञ्च तदा देवं हर्षगद्गदया गिरा ।
जानुभ्यामवनीं गत्वा प्रणम्य च पुनः पुनः ॥३२५॥
अद्य जातो ह्यहं देव सफलं जन्म चाद्य मे ।
सुरासुरगुरुर्देवो यत्तिष्ठति ममाग्रतः ॥३२६॥
यं न पश्यन्ति चैवाद्धा देवा ह्यमितविक्रमम् ।
तमहं दृष्टवान् देवं कोऽन्यो धन्यतरो मया ॥३२७॥
एवं ध्यायन्ति विद्वांसः परं तत्त्वं सनातनम् ।
तद्विशेषमितिख्यातं यदजं ज्ञानमक्षरम् ॥३२८॥

भगवान् शंकर ब्रह्मादिक देवताओं का ऐसा वचन सुन हँसकर मुझसे कहने लगे—(भगवान् बोले)—हे पुत्र मुनिपुङ्गव उपमन्यु ! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हू । तुम मेरा दर्शन करो । हे विप्रर्षि ! तुम मेरे दृढ भक्त हो । मैंने तुम्हारी परीक्षा कर ली, तुम्हारी भक्ति के वश में होकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ हू । इसलिये इस समय तुम्हारी जो कुछ अभिलाषा होगी, उन सब काम्य विषयों का प्रदान करूँगा । धीमान् महादेव के ऐसे वचन सुनकर हर्ष के कारण मेरे नेत्रों से आँसू गिरने लगे और रोमांच हो आया ।

उस समय मैं दोनों जानु पृथ्वीपर स्थापित कर उस देव को बारबार प्रणाम करके हर्षित होकर गद्गद वचन से कहने लगा - हे भगवन् ! जब सुर और असुरों के गुरु आप मेरे सामने खड़े हैं तब आज मेरा जन्मग्रहण करना सफल हुआ । देवता लोग आराधना करके भी जिस देवेश्वर का दर्शन करने में समर्थ नहीं होते मैं उसीका दर्शन कर रहा हू । इसलिये मेरे समान और कौन धन्य पुरुष है । विद्वान् लोग इसी सन्मुख स्थित मूर्तिरूप सनातन परमतत्त्व का ध्यान

स एष भगवान्देवः सर्वसत्त्वादिरव्ययः ।
सर्वतत्त्वविधानज्ञः प्रधानपुरुषः परः ॥३२९॥

योऽसृजद्दक्षिणादङ्गाद् ब्रह्माणं लोकसम्भवम् ।
वामपार्श्वात्तथा विष्णुं लोकरक्षार्थमीश्वरः ॥३३०॥

युगान्ते चैव सम्प्राप्ते रुद्रमीशोऽसृजत् प्रभुः ।
स रुद्रः संहरन् कृत्स्नं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥३३१॥

कालो भूत्वा महातेजाः संवर्तक इवानलः ।
युगान्ते सर्वभूतानि ग्रसन्निव व्यवस्थितः ॥३३२॥

एष देवो महादेवो जगत्स्रष्टा चराचरम् ।
कल्पान्ते चैव सर्वेषां स्मृतिमाक्षिप्य तिष्ठति ॥३३३॥

सर्वगः सर्वभूतात्मा सर्वभूतभवोद्भवः ।
आस्ते सर्वगतो नित्यमदृश्यः सर्वदैवतैः ॥३३४॥

यदि देयो वरो मह्यं यदि तुष्टोऽसि मे प्रभो ।
भक्तिर्भवतु मे नित्यं त्वयि देव सुरेश्वर ॥३३५॥

अतीतानागतञ्चैव वर्तमानञ्च यद्विभो ।
जानीयामिति मे बुद्धिः प्रसादात् सुरसत्तम ॥३३६॥

किया करते हैं। यही मूर्ति देवान्तरापेक्षा विशिष्टमूर्ति, नित्य, अविनाशी, अजन्मा और ज्ञानस्वरूप कही जाती है। यह वही भगवान् जीवों के आदि अव्यय सर्वतत्त्व विधान को जानने वाला प्रधान परमपुरुष है जिसने दक्षिण अंग से लोकोत्पत्ति के निमित्त ब्रह्मा को और वाम भाग से लोक रक्षा के निमित्त विष्णु को उत्पन्न किया है। जो प्रलय काल होने पर रुद्र को उत्पन्न करता है और सदा स्थावर जङ्गममय समस्त जगत का संहार करते हुए संवर्त्तक अग्नि की भांति महातेजस्वी काल स्वरूप से युग के अन्त में सब भूतों का ग्रास करके स्थित होता है। यह महादेव सचराचर जगत् का सृष्टिकर्त्ता है और कल्पान्त में सबकी स्मरण-शक्ति को नष्ट कर देता है। यही सर्वव्यापी, सब प्राणियों के अन्तरात्मा, सब जीवों का उत्पत्ति स्थान है और सर्वत्र विद्यमान होकर भी सब देवताओं को नहीं दीख पड़ता। हे देव! हे सुरेश्वर! यदि तुम मुझ पर प्रसन्न हुए हो और मुझे वर देना चाहते हो तो मैं यही वर मांगता हूँ कि तुम में सदा मेरी भक्ति बनी रहे। हे विभो! हे सुरसत्तम! भूत, वर्त्तमान और भविष्य के विषय को मैं तुम्हारी कृपा से जान सकूं, यही मेरी प्रार्थना है। मैं बान्धवों के

क्षीरोदनञ्च भुञ्जीयामक्षयं सह बान्धवैः ।
आश्रमे च सदास्माकं सान्निध्यं परमस्तु ते ॥३३७॥

एवमुक्तः स मां प्राह भगवांल्लोकपूजितः ।
महेश्वरो महातेजाश्चराचरगुरुः शिवः ॥३३८॥

श्रीभगवानुवाच :—

अजरश्चामरश्चैव भव त्वं दुःखवर्जितः ।
यशस्वी तेजसा युक्तो दिव्यज्ञानसमन्वितः ॥३३९॥

ऋषीणामभि गम्यश्च मत्प्रसादाद्भविष्यसि ।
शीलवान् गुणसम्पन्नः सर्वज्ञः प्रियदर्शनः ॥३४०॥

अक्षयं यौवनं तेस्तु तेजश्चैवानलोपमम्
क्षीरोदः सागरश्चैव यत्र यत्रेच्छसि प्रियम् ॥३४१॥

तत्र ते भविता कामं सान्निध्यं पयसोनिधेः ।
क्षीरोदनञ्च भुङ्क्ष्वत्वममृतेन समन्वितम् ॥३४२॥

बन्धुभिः सहितः कल्पं ततो मामुपयास्यसि ।
अक्षया बान्धवाश्चैव कुलं गोत्रञ्च ते सदा ॥३४३॥

भविष्यति द्विजश्रेष्ठ मयि भक्तिश्च शाश्वती ।
सान्निध्यञ्चाश्रमे नित्यं करिष्यामि द्विजोत्तम ॥३४४॥

तिष्ठ वत्स यथाकामं नोत्कण्ठाञ्च करिष्यसि ।

सहित अक्षय क्षीरोदन भोजन करूं तथा मेरे आश्रम में आपका सदा निवास रहे। लोकपूजित, चराचरगुरु, महातेजस्वी भगवान् महेश्वर मेरी ऐसी प्रार्थना सुन कर मुझसे बोले :—

भगवान् बोले—हे द्विजवर ! तुम मेरी कृपा से अजर, अमर, दुःखरहित, यशस्वी और दिव्य ज्ञानी होकर ऋषियों मे आदरणीय होगे। तुम शीलवान्, गुणवान्, सर्वज्ञ और प्रियदर्शन होगे। तुम्हारा तेज अग्नि के समान और यौवन अक्षय होगा। तुम जिस स्थान को प्रिय समझोगे, उसी स्थान में अपनी इच्छा से क्षीरसागर को उत्पन्न कर सकोगे। तुम बान्धवों के साथ अमृत के तुल्य क्षीरोदन (दूध भात) खाओ। एक कल्प बीतने पर तुम मेरे पास आओगे। हे द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे बान्धव, तुम्हारा कुल और गोत्र सदा अक्षय होगा और मुझ मे तुम्हारी दृढ भक्ति रहेगी। हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं सदा

स्मृतस्त्वया पुनर्विप्र करिष्यामि च दर्शनम् ॥३४५॥

एवमुक्त्वा स भगवान् सूर्यकोटिसमप्रभः ।
ईशानः स वरान् दत्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥३४६॥

एवं दृष्टो मया कृष्ण देवदेवः समाधिना ।
तदवाप्तश्च मे सर्वं यदुक्तं तेन धीमता ॥३४७॥

प्रत्यक्षञ्चैव ते कृष्ण पश्य सिद्धान् व्यवस्थितान् ।
ऋषीन् विद्याधरान् यक्षान् गंधर्वाप्सरसस्तथा ॥३४८॥

पश्य वृक्षलतागुल्मान् सर्वपुष्पफलप्रदान् ।
सर्वर्तुकुसुमैर्युक्तान् सुखपत्रान् सुगन्धिनः ॥३४९॥

सर्वमेतन्महाबाहो दिव्यभावसमन्वितम् ।
प्रसादाद्देवदेवस्य ईश्वरस्य महात्मनः ॥३५०॥

श्री वासुदेव उवाच :—

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रत्यक्षमिव दर्शनम् ।
विस्मयं परमं गत्वा अब्रवन्तं महामुनिम् ॥३५१॥

धन्यस्त्वमसि विप्रेन्द्र कस्त्वदन्योऽस्ति पुण्यकृत् ।
यस्य देवाधिदेवस्ते सान्निध्यं कुरुतेऽऽश्रमे ॥३५२॥

तुम्हारे आश्रम के निकट रहूंगा। हे पुत्र ! तुम सुख पूर्वक रहो, चिन्ता मत करना। तुम जब मेरा स्मरण करोगे तब मैं तुम्हें दर्शन दूंगा।

कोटि सूर्य के समान प्रकाश से युक्त भगवान् ईशान ऐसा कहकर वर देकर उसी स्थान में अन्तर्ध्यान हो गये। हे कृष्ण ! इसी प्रकार समाधि के बल से मैंने देवों के देव महादेव का दर्शन किया था। उन्होंने जो कुछ कहा था मुझे वह सब प्राप्त हो गया है। हे कृष्ण ! प्रत्यक्ष देखो, यहाँ सिद्ध, ऋषि, विद्याधर, यक्ष, गंधर्व और अप्सरायें रहती हैं। सब प्रकार के पुष्प और फल देनेवाले वृक्षों, लताओं और गुल्मों को देखो, वे सब ऋतुओं में सुन्दर पत्ते, पुष्प और सुगन्धि से युक्त रहते हैं। महानुभाव ! देवों के देव, ईश्वर की कृपा से ये सब दिव्य भाव से सम्पन्न हैं। श्रीकृष्ण बोले—मैं प्रत्यक्ष दर्शन के बाद उस महामुनि के वचन सुनकर अत्यन्त विस्मित होकर उनसे कहा, हे विप्रेन्द्र ! तुम धन्य हो, तुमसे बढ़कर पुण्यात्मा और कौन है, क्योंकि देवों के देव महादेव स्वयं तुम्हारे आश्रम में निवास करते हैं।

अपि तावन्मयाप्येवं दद्यात्स भगवान् शिवः ।
दर्शनं मुनिशार्दूल प्रसादश्चापि शङ्करः ॥३५३॥

उपमन्युरुवाच :—

द्रक्ष्यसे पुण्डरीकाक्ष महादेवं न संशयः ।
अचिरेणैव कालेन यथा दृष्टो मयानघ ॥३५४॥
चक्षुषा चैव दिव्येन पश्याम्यमितविक्रम् ।
षष्ठे मासि महादेवं द्रक्ष्यसे पुरुषोत्तम ॥३५५॥
षोडशाष्टौ वरांश्चापि प्राप्स्यसि त्वं महेश्वरात् ।
सपत्नीकाद्यदुश्रेष्ठ सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥३५६॥
अतीतानागतश्चैव वर्तमानश्च नित्यशः ।
विदितं मे महाबाहो प्रसादात्तस्य धीमतः ॥३५७॥
एतान् सहस्रशश्चान्यान् समनुध्यातवान् हरः ।
कस्मात् प्रसादं भगवान् न कुर्यात्तव माधव ॥
त्वादृशेन हि देवानां श्लाघनीयः समागमः ॥३५८॥
ब्रह्मण्येनानृशंसेन श्रद्दधानेन चाप्युत ।
जप्यन्तु ते प्रदास्यामि येन द्रक्ष्यसि शङ्करम् ॥३५९॥

श्रीभगवानुवाच—

अब्रवन्तमहं ब्रह्मंस्त्वत्प्रसादान्महामुने ।

हे मुनिपुङ्गव ! कल्याणदाता शकर क्या मुझे भी दर्शन देने की कृपा करेंगे ? उपमन्यु बोले—हे निष्पाप, पुण्डरीकाक्ष ! मैंने जिस प्रकार दर्शन किया था उसी प्रकार तुम भी थोडे ही समय में महादेव का दर्शन करोगे। हे पुरुषोत्तम ! मैं दिव्य नेत्र के सहारे देखता हूँ कि तुम छठे महीने महादेव का दर्शन करोगे। हे यदु श्रेष्ठ ! तुम पार्वती से सोलह और महादेव से आठ—इस प्रकार चौबीस वर पाओगे। यह मैं तुमसे सत्य कहता हू। हे महाबाहो ! उस महेश्वर के प्रसाद से भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों काल की बात मैं जान सकता हू। हे माधव ! भगवान् भवानीपति ने जब इन सब ऋषियों तथा दूसरे सहस्रों पुरुषों पर कृपा की है तब तुम पर कृपा क्यों न करेंगे ? विशेषकर तुम्हारे समान ब्रह्मनिष्ठ, अनृशंस और श्रद्धावान् पुरुषों के साथ समागम होना देवताओं में श्लाघनीय है। मैं तुमको एक मन्त्र बतलाता हू जिसके जप के प्रभाव से तुम्हें शीघ्र ही महादेव के दर्शन होंगे।

विष्णु बोले—मैंने उनसे कहा, हे ब्रह्मन् ! हे महामुनि ! मैं आपकी कृपा से

द्रक्ष्ये दितिज सङ्घानां मर्दनं त्रिदशेश्वरम् ॥३६०॥

एवं कथयतस्तस्य महादेवाश्रितां कथाम् ।
दिनान्यष्टौ ततो जग्मुर्मुहूर्तमिव भारत ॥३६१॥

दिनेऽष्टमे तु विप्रेण दीक्षितोऽहं यथा विधि ।
दण्डी मुण्डी कुशी चीरी घृताक्तो मेखली कृतः ॥३६२॥

मासमेकं फलाहारो द्वितीयं सलिलाशनः ।
तृतीयञ्च चतुर्थञ्च पञ्चमञ्चानिलाशनः ॥३६३॥

एकपादेन तिष्ठंश्च ऊर्ध्वबाहुरतन्द्रितः ।
तेजः सूर्य्य सहस्रस्य अपश्यं दिवि भारत ॥३६४॥

तस्य मध्यगतश्चापि तेजसः पाण्डुनन्दन ।
इन्द्रायुधपिनद्धाङ्गं विद्युन्मालागवाक्षकम् ।
नीलशैलचयप्रख्यं बलाकाभूषितांबरम् ॥३६५॥

तत्र स्थितश्च भगवान् देव्या सह महाद्युतिः ।
तपसा तेजसा कान्त्या दीप्तया सह भार्यया ॥३६६॥

रराज भगवांस्तत्र देव्या सह महेश्वरः ।
सोमेन सहितः सूर्यो यथा मेघस्थितस्तथा ॥३६७॥

संहृष्टरोमा कौन्तेय विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।

दैत्यों के दल का मर्दन करने वाले महेश्वर का दर्शन करूँगा। हे भारत ! इसी प्रकार महादेव विषयक कथा कहते-कहते एक पल के समान आठ दिन गये। आठवें दिन मैंने उन विप्र से विधिपूर्वक दीक्षा पाई। दण्डधारी, मुण्डित शिर, कुश चीरधारी और घृताक्त होकर मेखला धारण की। एक महीने तक फलाहार करके रहा। दूसरे महीने में जल पीकर रहा और तीसरे, चौथे तथा पाँचवें महीने तक वायु पीकर निवास किया। हे भारत ! मैं ऊर्ध्वबाहु और आलस्य रहित होकर एक पैर पर खड़ा रहा। तब मैंने आकाशमण्डल में हजारों सूर्य के समान एक तेज देखा। हे पाण्डुनन्दन !उस तेज के बीच में इन्द्रधनुष की शोभावाले, विद्युन्माला रूप गवाक्ष से युक्त, नील पर्वत के समान, बकपंक्ति से विभूषित एक विचित्र तेज दिखाई दिया।

महातेजस्वी भगवान् महेश्वर देवी उमा के सहित उसी तेजमण्डल में तप, तेज, कान्ति और दीप्ति के साथ मेघमण्डल में स्थित चन्द्रमा से युक्त सूर्य की भाँति विराजते थे। हे कुन्तीनन्दन ! मैंने रोमाञ्चित शरीर और विस्मयोत्फुल्ल

अपश्यं देवसंघानां गतिमार्तिहरं हरम् ॥३६८॥

किरीटिनं गदिनं शूलपाणिं व्याघ्राजिनं जटिलं दण्डपाणिम् ।
पिनाकिनं वज्रिणं तीक्ष्णदंष्ट्रं शुभांगदं व्यालयज्ञोपवीतम् ॥३६९॥

दिव्यां मालामुरसानेकवर्णां समुद्वहन्तं गुल्फदेशावलम्बनीं ।
चन्द्रं तथा परिविष्टंससन्ध्यं वर्षात्यये तद्वदपश्यमेनम् ॥३७०॥

प्रमथानां गणैश्चैव समन्तात् परिवारितम् ।
शरदीव सुदुष्प्रेक्ष्यं परिमिष्टं दिवाकरम् ॥३७१॥

एकादशशतान्येव रुद्राणां वृषवाहनम् ।
अस्तुवन्नियतात्मानं कर्मभिः शुभकर्मिणम् ॥३७२॥

आदित्या वसवः साध्या विश्वेदेवास्तथाऽश्विनौ ।
विश्वाभिस्तुतिभिर्देवं समस्तुवन् ॥३७३॥

शतक्रतुश्च भगवान् विष्णुश्चादितिनन्दनौ ।
ब्रह्मा रथन्तरं साम ईरयन्ति भवान्तिके ॥३७४॥

योगीश्वराः सुबहवो योगदं पितरं गुरुम् ।
ब्रह्मर्षयश्च ससुतास्तथा देवर्षयश्च वै ॥३७५॥

पृथिवीं चान्तरिक्षञ्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
मासार्द्धमासा ऋतवो रात्रिः संवत्सराः क्षणाः ॥३७६॥

नेत्रों से देवताओं की गति तथा दीनों का दुःख हरने वाले महादेव का दर्शन किया। मैंने देखा कि वे तीक्ष्णदन्त, किरीट, गदा, त्रिशूल, बाघाम्बर, जटा, दण्ड, पिनाक, वज्र, केयूर, सर्पों का यज्ञोपवीत और गुल्फ भाग तक लटकती हुई कई रङ्गों की मालाओं को धारण किये हुए वर्षा की समाप्ति में सन्ध्या के सहित चन्द्रमा के समान मालूम हो रहे हैं। वे शरदकाल में निर्मल और अदर्शनीय प्रकाशवाले सूर्य के समान जान पड़ते थे। भूतगणों से सब प्रकार घिरे हुए थे और ग्यारह सौ रुद्र, मन और कर्म से, सदा शुभ कर्म शील उस वृषवाहन महेश्वर की स्तुति करते थे।

आदित्यगण, वसु, साध्य, विश्वेदेव, और दोनों अश्विकुमार विश्वस्तुति के द्वारा उस विश्वेश्वर की आराधना करते थे। अदितिनन्दन, इन्द्र, विष्णु और ब्रह्मा महादेव के निकट रथन्तर सामगान करते थे। हे राजन्! बहुत से योगीन्द्र पुत्रों के सहित ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पृथ्वी, आकाश, नक्षत्र, ग्रह, मास, पक्ष, सब

मुहूर्ताश्च निमेषाश्च तथैव युगपर्ययाः ।
दिव्या राजन्नमस्यन्ति विद्याः सत्त्वविदस्तथा ॥३७७॥

सनत्कुमारो वेदाश्च इतिहासस्तथैव च ।
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥३७८॥

मनवः सप्त सोमश्च अथर्वा सबृहस्पतिः ।
भृगुर्दक्षः काश्यपश्च वशिष्ठः काश्य एव च ॥३७९॥

छन्दांसि दीक्षा यज्ञाश्च दक्षिणाः पावको हविः ।
यज्ञोपगानि द्रव्याणि मूर्तिमन्ति युधिष्ठिर ॥३८०॥

प्रजानां पालकाः सर्वे सरितः पन्नगा नगाः ।
देवानां मातरः सर्वा देवपत्न्यः सकन्यकाः ॥३८१॥

सहस्राणि मुनीनाञ्च अयुतान्यर्बुदानि च ।
नमस्यन्ति प्रभुं शान्तं पर्वताः सागरा दिशः ॥३८२॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव गीतवादित्रकोविदाः ।
दिव्यतानेषु गायन्तः स्तुवन्ति भवमद्भुतम् ।
विद्याधरा दानवाश्च गुह्यका राक्षसास्तथा ॥३८३॥
वर्षाणि चैव भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
नमस्यन्ति महाराज वाङ्मनःकर्मभिर्विभुम् ॥

ऋतुएँ, रात्रि, संवत्सर, क्षण, मुहूर्त्त, निमेष, युगपर्याय, दिव्यविद्या और सत्यवेत्ता सब प्राणी उस योगदाता पिता तथा गुरु को नमस्कार करते थे। सनत्कुमार, समस्त वेद, इतिहास, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, सातों मनु, सोम, अथर्वा, भृगु, दक्ष, काश्यप, वशिष्ठ, काश्य, समस्त छन्द, दीक्षा, यज्ञ, दक्षिणा, अग्नि, हवि, यज्ञ के मूर्तिमान् उपकरण तथा सब सामग्री, समस्त प्रजापालक, नदियाँ, पन्नग, नग, सब देवमातायें, देवपत्नियाँ, देवकन्यायें, सहस्र अयुत और अर्बुद संख्या में मुनि लोग, पर्वत, समुद्र, दिशायें, गीत और वाद्य के जाननेवाले गन्धर्व तथा अप्सरायें दिव्यतान में गान करती हुई शान्त और अद्भुत शिव को प्रणाम करके स्तुति कर रही थीं। हे महाराज! विद्याधर, दानव, गुह्यक, राक्षस और स्थावर तथा जंगम सब प्राणी मन, वचन और कर्म से उस महेश्वर को प्रणाम करते थे। देवेश्वर महादेव मेरे सामने खड़े थे। हे भारत! मेरे सामने महादेव को खड़े हुए देखकर ब्रह्मा और इन्द्र आदि सब देवता मुझे देखने लगे। उस समय महादेव की ओर देखने

पुरस्ताद्धिष्ठितः शर्वो ममासीत्त्रिदशेश्वरः ॥३८४॥
पुरस्ताद्धिष्ठितं दृष्ट्वा ममेशानञ्च भारत ।
सप्रजापतिशक्रान्तं जगन्मामभ्युदैक्षत ॥३८५॥
ईक्षितुञ्च महादेवं न मे शक्तिरभूत्तदा ।
ततो मामब्रवीद्देवः पश्य कृष्ण वदस्व च ॥३८६॥
त्वया ह्याराधितश्चाहं शतशोऽथ सहस्रशः ।
त्वत्समो नास्ति मे कश्चित्त्रिषु लोकेषु वै प्रियः ॥३८७॥
शिरसा वन्दिते देवे देवी प्रीता ह्युमाभवत् ।
ततोऽहमब्रुवं स्थाणुं स्तुतं ब्रह्मादिभिः सुरैः ॥३८८॥

श्रीविष्णुरुवाच—

नमोऽस्तु ते शाश्वत सर्वयोने ब्रह्माधिपं त्वां ऋषयो वदन्ति ।
तपश्च सत्त्वञ्च रजस्तमश्च त्वामेव सत्यञ्च वदन्ति सन्तः ॥३८९॥
त्वं वै ब्रह्मा च रुद्रश्च वरुणोऽग्निर्मनुर्भवः ।
धाता त्वष्टा विधाता च त्वं प्रभुः सर्वतोमुखः ॥३९०॥
त्वत्तो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
त्वया सृष्टमिदं कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥३९१॥
यानीन्द्रियाणीह मनश्च कृत्स्नं ये वायवः सप्त तथैव चाग्नयः ।
ये देवसंस्थास्तवदेवताश्च तस्मात्परं त्वां ऋषयो वदन्ति ॥३९२॥

की सामर्थ्य न हुई। तब महेश्वर मुझसे बोले, हे कृष्ण! तुम मेरा दर्शन करो और जो कुछ अभिलाषा हो मुझसे कहो।

तुमने सैकड़ों और सहस्रों बार मेरी आराधना की है। तीनों लोकों में तुम्हारे समान मेरा कोई प्रियपात्र नहीं है। मैंने जब शिर झुकाकर महादेव की वन्दना की तब उमादेवी प्रसन्न हुईं। इसके बाद मैंने ब्रह्मादि देवताओं के पूज्य महादेव से कहा :—

(विष्णु बोले)—हे सबके उत्पन्न करने वाले अविनाशी शंकर! तुम्हें प्रणाम है। ऋषि लोग तुम्हें सब वेदों के अधिपति कहते हैं। साधु लोग तुम्हीं को तप, सत्त्व, रज, तम और सत्य स्वरूप कहते हैं। तुम्हीं ब्रह्मा, रुद्र, वरुण, अग्नि, मनु, भव, धाता, त्वष्टा (रूप निर्माता), विधाता और सर्वतोमुख प्रभु हो। स्थावर जंगम सब प्राणी तुम्हीं से उत्पन्न हुए हैं। चराचरों के सहित तीनों लोकों को तुम्हीं ने रचा है। ऋषि लोग तुम्हें सब इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि पञ्चवायु; गार्हपत्य, आह्वनीय, दक्षिण, सभ्य आवसथ्य और स्मार्त्त

वेदाश्च यज्ञाः सोमश्च दक्षिणा पावको हविः ।
यज्ञोपगञ्च यत्किञ्चित् भगवांस्तदसंशयम् ॥३६३॥
इष्टं दत्तमधीतञ्च व्रतानि नियमाश्च ये ।
ह्रीः कीर्तिः श्रीर्द्युतिस्तुष्टिः सिद्धिश्चैव तदर्पणी ॥३६४॥
कामः क्रोधो भयं लोभो मदः स्तम्भोऽथ मत्सरः ।
आधयो व्याधयश्चैव भगवंस्तनवस्तव ॥३६५॥
कृतिर्विकारः प्रणयः प्रधानं बीजमव्ययम् ।
मनसः परमायोनिः प्रभावश्चापि शाश्वतः ॥३६६॥
अव्यक्तः पवनोऽचिन्त्यः सहस्रांशुर्हिरण्मयः ।
आदिर्गणानां सर्वेषां भवान् वै जीविताश्रयः ॥३६७॥
महानात्मा मतिर्ब्रह्मा विश्वः शम्भुः स्वयम्भुवः ।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च सम्वित् ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ॥३६८॥
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ।
त्वां बुध्वा ब्राह्मणो वेदात् प्रमोहं विनियच्छति ॥३६९॥
हृदयं सर्वभूतानां क्षेत्रज्ञस्त्वमृषिस्तुतः ।

और लौकिक—ये सात प्रकार की अग्नियाँ; और सूत्रात्मा में जिनकी समाप्ति हुई है ऐसे स्तुति के योग्य देवता—इन सब से परे, वाणी से अगोचर और रूपादि से रहित मानते हैं।

सब वेद, यज्ञ, सोम रस, दक्षिणा अग्नि, हवि तथा जो कुछ यज्ञ की सामग्री है वह सब साक्षात् भगवान् स्वरूप है। यज्ञ, दान, अध्ययन, व्रत, नियम, लज्जा, कीर्ति, श्री, द्युति, तुष्टि और सिद्धि—ये सभी तुम्हारे स्वरूप की प्राप्ति के साधन हैं। हे भगवन्! काम, क्रोध, भय, लोभ, मद, स्तम्भ, मत्सरता, आधि और व्याधि—ये सब तुम्हारे शरीर हैं। तुम क्रियारूप क्रियाफलभूत हर्ष आदि विकार, पुण्य, प्रबल वासनाबीज रूप प्रधान, मन के उत्पत्तिस्थान, शाश्वत, प्रधान, अव्यक्त, पवन, अचिन्त्य चित्त, ज्योतिरूप, सूर्य तथा अव्यक्त तत्त्वों के आदि तथा सबके जीविताश्रय अर्थात् नदियों के लिये समुद्र के समान प्राप्य-स्थान हो। महत् आत्मा, मति, ब्रह्मा, विष्णु, शम्भु, स्वयम्भू, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, संवित्ख्याति, धृति, स्मृति आदि पर्याय वाचक शब्दों के द्वारा वेदार्थ जानने वाले पुरुषों से तुम्हीं वेद मे महान् आत्मा कहे गये हो। विद्वान् ब्राह्मण लोग तुम्हें जानकर मोहजनक अज्ञान से छुटकारा पाते हैं।

तुम सब प्राणियों के हृदय में वास करने वाले क्षेत्रज्ञ और मन्त्रों द्वारा

सर्वतः पाणिपादस्त्वं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतः श्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि ॥४००॥
फलं त्वमसि तिग्मांशोर्निमेषादिषु कर्म्मसु ॥४०१॥

त्वं वै प्रभार्चिः पुरुषः सर्वस्य हृदि संश्रितः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥४०२॥

त्वयि बुद्धिर्मतिर्लोकाः प्रपन्नाः संश्रिताश्च ये ।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसत्त्वा जितेन्द्रियाः ॥४०३॥

यस्त्वां ध्रुवं वेदयते गुहाशयं प्रभुं पुराणं पुरुषञ्च विग्रहम् ।
हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं सबुद्धिमान्बुद्धिमतीत्य तिष्ठति ॥४०४॥

विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं त्वाञ्च मूर्तितः ।
प्रधानविधियोगस्थस्त्वामेव विशते बुधः ॥४०५॥

एवमुक्ते मया पार्थ भवे चार्तिविनाशने ।
चराचरं जगत्सर्वं सिंहनादं तदाकरोत् ॥४०६॥

तं विप्रसंघाश्च सुरासुराश्च नागाः पिशाचाः पितरो वयांसि ।

स्तुति के योग्य हो। तुम्हारे पाणि और पाद का अन्त सर्वत्र विराजमान है। तुम सर्वत्र श्रुतिमान होकर सारे जगत् को परिपूर्ण कर रहे हो। तुम्हीं सूर्य प्रभा तथा किरण और निमेष आदि स्वर्ग सुख रूप कर्मों के फल हो। तुम सबके हृदयस्थ पुरुष हो। तुम अणिमा (दुर्लभ तन्मात्र) हो, तुम लघिमा (त्रिविध परिच्छेद से रहित) हो, तुम प्राप्ति स्वरूप ईशान और अनन्य ज्योति हो। तुम में बुद्धि, मति और समस्त लोक स्थित हैं। जो लोग ध्याननिष्ठ नित्य योग में रत, सत्यसंकल्प और जितेन्द्रिय हैं वे तुम्हारी ही शरण में रहते हैं। जो तुम्हें निश्चय, गुहाशय प्रभु, पुराण पुरुष, विशिष्टानुभवस्वरूप, ज्योतिर्मय और बुद्धिमान पुरुषों की परम गति रूप जानते हैं, अथवा जानकर शिष्यों को जनाते हैं वे महाबुद्धिमान् पुरुष बुद्धि से परे निवास किया करते हैं। विद्वान् पुरुष सातों सूक्ष्म विषयों अर्थात् महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र और षडंगों अर्थात् सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्तशक्ति और अनन्तशक्तिसंयुक्त तुम्हें मूर्तिमान् रूप में जानकर और चित्त सत्त्व के आत्मा भिन्नत्व रूप में अज्ञानरूपी विधि के अनुसार योगयुक्त होकर तुम्हीं में प्रवेश करते हैं। हे पार्थ! आर्तिविनाशन महादेव से जब मैंने ऐसा कहा उस समय चराचरों से युक्त समस्त जगत् सिंहनाद करने लगा।

उस समय ब्राह्मण, देवता, असुर, सर्प, पिशाच, पितर, पक्षी, राक्षस,

रक्षोगणा भूतगणाश्च सर्वे महर्षयश्चैव तदा प्रणेमुः ॥४०७॥
मम मूर्ध्नि च दिव्यानां कुसुमानां सुगन्धिनाम् ।
राशयो निपतन्ति स्म वायुश्च सुसुखो ववौ ॥४०८॥

निरीक्ष्य भगवान्देवीं ह्युमां माञ्च जगद्धितः ।
शतक्रतुञ्चाभिवीक्ष्य स्वयं मामाह शंकरः ॥४०९॥

विद्मः कृष्णपरां भक्तिमस्मासु तव शत्रुहन् ।
क्रियतामात्मनः श्रेयः प्रीतिर्हि त्वयि मे परा ॥४१०॥

वृणीष्वाष्टौ वरान् कृष्ण दातास्मि तव सत्तम ।
ब्रूहि यादवशार्दूल यानिच्छिसि सुदुर्लभान् ॥४२३॥

इत्यनुशासनपर्वणि आनुशासनिकेपर्वणि मेघवाहनोपाख्याने
चतुर्दशोऽध्यायः ॥४॥

समस्त प्राणी तथा महर्षि आदि सबने उन्हें प्रणाम किया। मेरे सिर पर दिव्य सुगन्धियुक्त फूलों की वर्षा हुई और अत्यन्त सुख देनेवाली वायु बहने लगी।

संसार का हित करने वाले भगवान् शंकर उमादेवी, मुझे और इन्द्र को देख कर स्वयं मुझसे कहने लगे—हे शत्रुनाशन कृष्ण! यह मैं जानता हूँ कि मुझपर तुम्हारी परम भक्ति है, तुम अपने कल्याण के साधन के लिये वर मांगो मैं तुम्हें आठ वर दूंगा। हे यादव श्रेष्ठ! तुम जिन दुर्लभ वरों की इच्छा करते हो, उन्हें मांगो।

इत्यनुशासनपर्वणि आनुशासनिकेपर्वणि मेघवाहनोपाख्याने
चतुर्दशोऽध्यायः।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः ।

श्रीकृष्ण उवाच :—

मूर्ध्ना निपत्य नियतस्तेजः सन्निचये ततः ।
परमं हर्षमागत्य भगवन्तमथाब्रुवम् ॥१॥

धर्मे दृढत्वं युधि शत्रुघातं यशस्तथाग्र्यं परमं बलञ्च ।
योगप्रियत्वं तव सन्निकर्षं वृणे सुतानां च शतं शतानि ॥२॥

एवमस्त्विति तद्वाक्यं मयोक्तः प्राह शंकरः ।
ततो मां जगतो माता धारिणी सर्वपावनी ॥३॥

उवाचोमा प्रणिहिता शर्वाणी तपसां निधिः ।
दत्तो भगवता पुत्रः शाम्बो नाम तवानघ ॥४॥

मत्तोऽप्यष्टौ वरानिष्टान् गृहाण त्वं ददामि ते ।
प्रणम्य शिरसा सा च मयोक्ता पाण्डुनन्दन ॥५॥

द्विजेष्वकोपं पितृतः प्रसादं शतं सुतानां परमं च भोगम् ।
कुले प्रीतिं मातृतश्च प्रसादं समप्राप्तिं प्रवृणे चापि दाक्ष्यम् ॥६॥

उमोवाच :—

एवं भविष्यत्यमरप्रभाव नाहं मृषा जातु वदे कदाचित् ।
भार्यासहस्राणि च षोडशैव तासु प्रियत्वं च तथाक्षयं च ॥७॥

श्रीकृष्णजी बोले—इसके बाद मैंने बड़ी सावधानी से तेज पुंज में विराजमान शिवजी को मस्तक से प्रणाम करके बड़ी-प्रसन्नता पूर्वक यह वचन कहा—हे शिवजी ! धर्म में दृढ़ता, आपकी सन्निकटता, युद्ध में स्थिर होकर शत्रुओं को मारना, उत्तम कीर्ति, बल व योग समेत ऐश्वर्य्य और दशहजार पुत्रों की मैं आपसे याचना चाहता हूं। मेरे इस वचन के कहते ही शिवजी बोले कि ऐसा ही हो। फिर सबका पोषण करनेवाली, बंधन से निवृत्त करनेवाली, तपपुंज और शुद्ध रूपा जगत् की माता उमादेवी ने कहा कि हे निष्पाप ! भगवान् शिव ने साम्बनाम पुत्र तुमको दिया। मैं भी तुमको आठ अभीष्ट वर देती हूं, उनको लो। हे पाण्डुनन्दन ! तब मैंने दण्डवत करके उससे कहा—ब्राह्मणों पर क्रोध न करने वाले, पिता के आज्ञाकारी, कुल के लोगों से प्रीति पूर्वक रहने वाले माता को प्रसन्न करने वाले, शांत चित्त, बड़े बुद्धिमान् और चतुर सौ पुत्र मैं आपसे मांगता हूं।

उमा ने कहा—ऐसा ही होगा। साथ ही यह भी कहा कि 'हे दिव्य प्रभाव वाले ! मैं मिथ्या नहीं बोलती हूं। सोलह हजार स्त्रियां, उन स्त्रियों में प्रीति, अक्षय

प्रीतिं चाग्र्यां बांधवानां सकाशाद्ददामि तेऽहं वपुषः काम्यतां च।
भोक्ष्यन्ते वै सप्तति वै शतानि गृहे तुभ्यमतिथीनां च नित्यम् ॥८॥

वासुदेव उवाच :—

एवं दत्त्वा वरान् देवो मम देवी च भारत।
अंतर्हितः क्षणे तस्मिन् सगणो भीमपूर्वज ॥९॥
एतदत्यद्भुतं पूर्वं ब्राह्मणायातितेजसे।
उपमन्यवे मया कृत्स्नं व्याख्यातं पार्थिवोत्तम॥
नमस्कृत्वा तु स प्राह देवदेवाय सुव्रत ॥१०॥

उपमन्युरुवाच :—

नास्ति शर्वसमो देवो नास्ति शर्वसमा गतिः।
नास्ति शर्वसमो दाने नास्ति शर्वसमो रणे ॥११॥

इति श्रीमहाभारते अनुशा० आनुशासनिके पर्वणि
मेघवाहनोपाख्याने पञ्चदशोऽध्यायः ॥

धन, बान्धवों की ओर से उत्तम प्रीति और शरीर की मनोहरता तुमको देती हूं। तेरे घर में सदैव सात हजार अतिथि भोजन करेंगे'। वासुदेव जी बोले—हे भरतर्षभ युधिष्ठिर! इस रीति से वह देव और उमादेवी मुझको वरदान देकर गणों समेत उसी क्षण अन्तर्हित हो गये। हे राजाओं में श्रेष्ठ! सबसे पहले जब मैंने इस अद्भुत वृत्तान्त को बड़े तेजस्वी उपमन्यु ब्राह्मण के सम्मुख वर्णन किया तो उस उत्तम व्रती ब्राह्मण ने देवों के देव महेश्वर जी को नमस्कार करके कहा कि महादेव जी के समान कोई देवता नहीं, उनके समान कोई गति नहीं, उनके समान कोई दानी नहीं और युद्ध करने में भी शङ्कर जी के समान कोई नहीं है॥ ११॥ इति॥

अथ षोडशोऽध्यायः ।

उपमन्युरुवाच—

ऋषिरासीत्कृते तात तंडिरित्येव विश्रुतः ।
दशवर्षसहस्राणि तेन देवः समाधिना ॥१॥
आराधितोऽभूद्भक्तेन तस्योदर्कं निशामय ।
स दृष्टवान्महादेवमस्तौषीच्च स्तवैर्विभुम् ॥२॥
इति तंडिस्ततो योगात्परमात्मानमव्ययम् ।
चिंतयित्वा महात्मानमिदमाह सुविस्मितः ॥३।
यं पठन्ति सदा सांख्याश्चिन्तयंति च योगिनः
परं प्रधानं पुरुषमधिष्ठातारमीश्वरम् ॥४॥
उत्पत्तौ च विनाशे च कारणं यं विदुर्बुधाः ।
देवासुरमुनीनां च परं यस्मान्न विद्यते ॥५॥
अजं तमहमीशानमनादिनिधनं प्रभुम् ।
अत्यन्तसुखिनं देवमनघं शरणं व्रजे ॥६॥
एवं ब्रुवन्नेव तदा ददर्श तपसां निधिम् ।
तमव्ययमनौपम्यमचिन्त्यं शाश्वतं ध्रुवम् ॥७॥

उपमन्यु बोले—हे ! तात सतयुग में तण्डी नाम के ऋषि विख्यात थे। उन्होंने समाधि और भक्ति के द्वारा दश हजार वर्ष तक शिवजी की आराधना की ॥ १ ॥ उसके फल के उदय को सुनो ! उन्होंने महादेवजी का प्रत्यक्ष दर्शन करके स्तोत्रों में स्तुति की ॥ २ ॥ अर्थात् उस तण्डी ऋषि ने अपने तप और योग के द्वारा उस सदैव अखण्ड रूप परमात्मा का ध्यान करके बड़े आश्चर्य को प्राप्त होकर कहा कि सांख्य मतवाले और योगीजन जिस प्रधान पुरुष अधिष्ठाता ईश्वर का सदैव स्तुति पाठ करते हैं और ध्यान करते हैं ॥ २-४ ॥ ज्ञानियों ने जिसको उत्पत्ति-नाश का हेतु रूप वर्णन किया है और देवता, असुर व मुनियों में भी उससे श्रेष्ठ कोई नहीं है, उस अजन्मा, आदि-अन्त रहित और निष्पाप ईश्वर की शरण लेता हूँ ॥ ५-६ ॥ ऐसा कहते हुए उस ऋषि ने उस रूपान्तर रहित, तपोमूर्ति, अनुपम, अचिन्त्य और सब के आदि कूटस्थ पुरुष को देखा ॥ ७ ॥

निष्कलं सकलं ब्रह्म निर्गुणं गुणगोचरम् ।
योगिनां परमानन्दमक्षरं मोक्षसंज्ञितम् ॥८॥

मनोरिन्द्राग्निमरुतां विश्वस्य ब्रह्मणो गतिम् ।
अग्राह्यमचलं शुद्धं बुद्धिग्राह्यं मनोमयम् ॥९॥

दुर्विज्ञेयमसंख्येयं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ।
योनिं विश्वस्य जगतस्तमसः परतः परम् ॥१०॥

यः प्राणवन्तमात्मानं ज्योतिर्जीवस्थितं मनः ।
तं देवं दर्शनाकाङ्क्षी बहून्वर्षगणानृषिः ॥
तपस्युग्रे स्थितो भूत्वा दृष्ट्वा तुष्टाव चेश्वरम् ॥११॥

तण्डिरुवाच—

पवित्राणां पवित्रस्त्वं गतिर्गतिमतां वर ।
अत्युग्रं तेजसां तेजस्तपसां परमं तपः ॥१२॥

विश्वावसुहिरण्याक्षपुरुहूतनमस्कृत ।
भूरिकल्याणद विभो परं सत्यं नमोऽस्तु ते ॥१३॥

जातीमरणभीरूणां यतीनां यततां विभो ।
निर्वाणद सहस्रांशो नमस्तेऽस्तु सुखाश्रय ॥१४॥

वही योगियों का परम आनन्द, अविनाशी और मोक्ष स्वरूप है। वही मन, इन्द्र, अग्नि, वायु, जगत् और देवताओं का अवलम्बन है। वह अग्राह्य अचलरूप, शुद्ध बुद्धि से मालूम होने योग्य और मनोमय है। कठिनता से जाना जा सकता है, असंख्येय है और अकृतात्मा लोगों को दुष्प्राप्य है। वह समस्त जगत् का उत्पत्तिस्थान है। तमोगुण से परे, स्थित पुरुष, पुराण और श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ देवता है। जो आत्मा को प्राणविशिष्ट करके उसमें आवृत्त जीव में मनोरूप ज्योतिस्वरूप से स्थिति रहता है, उसी देव के दर्शन की इच्छा में तण्डी ऋषि अनेक वर्ष पर्यन्त उग्र तपस्या करने के अनन्तर ईश्वर का दर्शन करके स्तुति कर बोले—हे परमात्मन्! तुम गङ्गा आदि पवित्र पदार्थों से भी पवित्र और गतिमान् पुरुषों की परमगति हो, नेत्र आदि तेजस्वी पदार्थों के तेज; अर्थात् प्रकाशक और तपस्वियों की परम तपस्या हो। तुम विश्वावसु, हिरण्याक्ष और पुरुहूत द्वारा नमस्कृत हो। तुम मोक्ष देनेवाले हो। परम सत्य, जन्म-मरण और भीरु यतमान यतियों के निर्वाणदाता हो। हे सहस्रांशु! सब सुखों के आधार, तुम्हें नमस्कार है।

ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वेदेवा महर्षयः ।
न विदुस्त्वान्तु तत्त्वेन कुतो वेत्स्यामहे वयम् ॥१५॥

त्वत्तः प्रवर्तते सर्वं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
कालाख्यः पुरुषाख्यश्च ब्रह्माख्यश्च त्वमेव हि ॥
तनवस्ते स्मृतास्तिस्रः पुराणज्ञैः सुरर्षिभिः ॥१६॥

अधिपौरुषमध्यात्ममधिभूताधिदैवतम् ।
अधिलोकाधिविज्ञानमधियज्ञस्त्वमेव हि ॥१७॥

त्वां विदित्वात्मदेहस्थं दुर्विदं दैवतैरपि ।
विद्वांसो यान्ति निर्मुक्ताः परं भावमनामयम् ॥१८॥

अनिच्छतस्तव विभो जन्ममृत्युरनेकशः ।
द्वारं तु स्वर्गमोक्षाणामाक्षेप्ता त्वं ददासि च ॥१९॥

त्वं वै स्वर्गश्च मोक्षश्च कामः क्रोधस्त्वमेव च ।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव अधश्चोर्द्ध्वं त्वमेव हि ॥२०॥

ब्रह्मा भवश्च विष्णुश्च स्कन्द्रेन्द्रौ सविता यमः ।

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, विश्वेदेव और ऋषि लोग भी तुम्हें यथार्थ रूप से नहीं जानते तब मैं तुम्हें किस प्रकार से जान सकूंगा। तुम से ही जगत् उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर तुम्हीं मे स्थित रहता है। तुम्हीं काल, तुम्हीं पुरुष और तुम्हीं ब्रह्म हो। पुराण जानने वाले ब्रह्मर्षि लोग तुम्हारे कालाख्य, पुरुषाख्य और ब्रह्माख्य अथवा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—यह तीन रूप बतलाते हैं। शिर-चरणादिमान् देह सम्बन्धी जो लाभ है, वह आधिपौरुषरूप ज्ञान तुम्ही हो। देह में अधर होंठ अनुरूप वाग-संधि विषयक जो विवेक उत्पन्न होता है, वह अध्यात्मरूप विवेक तुम्हीं हो। देहारम्भक प्राण, रुधिर और नेत्रादि इन्द्रियों को अवलम्बन करके जो ज्ञान होता है, तुम्हीं वह अधिभूत और अधिदैवत हो। तुम्हीं अधिलोक में अधिविज्ञान और अधीश्वर हो। विद्वान् पुरुष तुम्हें शरीर में देवताओं से भी दुर्विज्ञेय जान कर निर्मोह होकर अनामय परम्भाव को प्राप्त होते हैं।

जो तुम्हें जानने का उद्योग नहीं करता, उसका बारम्बार जन्म और मरण होता है। तुम स्वर्ग और मोक्ष के द्वार स्वरूप हो। तुम्हारी ही कृपा से मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष पाते हैं। तुम स्वर्ग, मोक्ष, काम, क्रोध, सत्त्व, रज, तमोगुण रूप हो। तुम्हीं अधः और ऊर्ध्व स्वरूप हो। तुम ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु, कार्तिकेय, इन्द्र,

वरुणेन्दुर्मनुर्धाता विधाता त्वं धनेश्वरः ॥२१॥

भूर्वायुः सलिलोऽग्निश्च खं वाग्बुद्धिः स्थितिर्मतिः ।
कर्म सत्यानृते चोभे त्वमेवास्ति च नास्ति च ॥२२॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च प्रकृतिभ्यः परं ध्रुवम् ।
विश्वाविश्वपरोभावश्चिन्त्याचिन्त्यस्त्वमेव हि ॥२३॥

यच्चैतत् परमं ब्रह्म यच्चैतत् परमं पदम् ।
या गतिः साङ्ख्ययोगानां स भवान्नात्र संशयः ॥२४॥

नूनमद्य कृतार्थाःस्म नूनं प्राप्ताः सतां गतिम् ।
यां गतिं प्रार्थयन्तीह ज्ञाननिर्मलबुद्धयः ॥२५॥

अहो मूढाः स्म सुचिरमिमं कालमचेतसा ।
यन्न विद्मः परं देवं शाश्वतं यं विदुर्बुधाः ॥२६॥

सेयमासादिता साक्षात् त्वद्भक्तिर्जन्मभिर्मया ।
भक्तानुग्रहकृद्देवो यं ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ॥२७॥

देवासुरमुनीनां तु यच्च गुह्यं सनातनम् ।
गुहायां निहतं ब्रह्म दुर्विज्ञेयं मुनेरपि ॥२८॥

सूर्य, यम, वरुण, चन्द्रमा, मनु, धाता, विधाता और कुबेर हो। तुम्हीं पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, आकाश, वचन, बुद्धि, स्थिति, मति और कर्म स्वरूप हो। तुम्हीं सत्य और मिथ्या दोनों हो। तुम्हीं सत् और रज्जु सर्प की भांति असत् मालूम होते हो, परन्तु स्वयं जगत् के कारण अज्ञानरूप से विद्यमान नहीं हो।

तुम्हीं इन्द्रियाँ, रूप-रस आदि इन्द्रियों के विषय, प्रकृति से भी श्रेष्ठ और निश्चल हो, तुम कार्य कारण भिन्न सत्तामात्र स्वरूप हो; तुम सोपाधिक रूप से चिन्तनीय और निरुपाधि भाव से अचिन्तनीय हो। जिसे परब्रह्म तथा परंपद कहते हैं, वह तुम ही हो, साख्य मतावलम्बी और योगियों की परम गति हो, इसमें सन्देह नहीं है। ज्ञान के सहारे जिसकी बुद्धि निर्म्मल हुई है, वे जिस गति की अभिलाषा करते हैं, वही साधुओं की गति प्राप्त कर आज मैं निश्चय ही कृतार्थ हो गया। पंडित लोग जिसे शाश्वत कहते हैं, उस परम देव को अब तक न जान कर मैं अवश्य ही अचेतन और मूढ था। भक्तों पर कृपा करने वाले जिस देव के जानने से लोग अमृत लाभ करते हैं, मैंने अनेक जन्म में उस देव के विषय मे यह भक्ति लाभ की है। देवता, असुर और मुनियों के हृदय कन्दर मे स्थित जो गुह्य, सनातन ब्रह्म मुनियों का भी दुर्विज्ञेय है, यह

स एष भगवान् देवः सर्वकृद् सर्वतोमुखः ।
सर्वात्मा सर्वदर्शी च सर्वगः सर्ववेदिता ॥२९॥

देहकृद्देहभृद्देही देहभुग् देहिनां गतिः ।
प्राणकृत् प्राणभृत् प्राणी प्राणदः प्राणिनां गतिः ॥३०॥

अध्यात्मगतिरिष्टानां ध्यानिनामात्मवेदिनाम् ।
अपुनर्भवकामानां या गतिः सोऽयमीश्वरः ॥३१॥
अयं च सर्वभूतानां शुभाशुभगतिप्रदः ।
अयञ्च जन्ममरणे विदध्यात् सर्वजन्तुषु ॥३२॥
अयं संसिद्धिकामानामृषीणां सिद्धिदः प्रभुः ।
भूराद्यान् सर्वभुवनानुत्पाद्य सदिवौकसः ॥
दधाति देवस्तनुभिरष्टाभिर्यो बिभर्ति च ॥३३॥
अतः प्रवर्तते सर्वमस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
अस्मिंश्च प्रलयं याति अयमेकः सनातनः ॥३४॥
अयं स सत्यकामानां सत्यलोकः परं सताम् ।
अपवर्गश्च मुक्तानां कैवल्यं चात्मवेदिनाम् ॥३५॥
अयं ब्रह्मादिभिः सिद्धैर्गुहायां गोपितः प्रभुः ।

वही भगवान् है। यह देव सब पदार्थों को रचने वाला, सब प्राणियों की आत्मा, सर्वदर्शी, सर्वतोमुख, सर्वज्ञ और सर्वगामी है। यह देहकर्ता (यज्ञ आदि), देहपोषक (अन्नादि), देही (जीव), संहारकर्ता, देहधारियों की गति, प्राण की उत्पत्ति और पालन करने वाला, प्राणी, प्राणदाता और प्राणियों की गति है। यज्ञ करने वालों को अध्यात्मगति और ध्याननिष्ठ आत्मज्ञ तथा अपुनर्भव की इच्छा करने वाले जीवन्मुक्त मनुष्यों की जो गति है, वह यही ईश्वर है। यह सब प्राणियों को कर्म के अनुसार शुभाशुभ गति को देता है और यही सब जीवों के जन्म और मरण का विधान करता है। सिद्धिकाम मनुष्यों का गम्यस्थान और ऋषियों को सिद्धि देने वाला प्रभु देवताओं के सहित पृथ्वी आदि सब लोकों को उत्पन्न करके आठ मूर्ति के द्वारा उसका धारण और पालन करता है। इसी से सब जगत् उत्पन्न होता है, इसी में स्थिर रहता है और इसी में प्रलय के समय लीन होता है; केवल यह ईश्वर ही नित्य है। अव्यभिचारी सत्य अर्थात् वेदोक्त कर्मफल स्वरूप जो स्वर्ग है, उस स्वर्ग की इच्छा करने वाले साधुओं के ये ही केवल सत्य लोक हैं। यही योगियों के

देवासुरमनुष्याणामप्रकाशो भवेदिति ॥३६॥

तं त्वां देवासुरनरास्तत्त्वेन न विदुर्भवम् ।
मोहिताः खल्वनेनैव हृदिस्थेनाप्रकाशिना ॥३७॥

ये चैनं प्रतिपद्यन्ते भक्तियोगेन भाविताः ।
तेषामेवात्मनाऽऽत्मानं दर्शयत्येष हृच्छयः ॥३८॥

यं ज्ञात्वा न पुनर्जन्म मरणञ्चापि विद्यते ।
यं विदित्वा परं वेद्यं वेदितव्यं न विद्यते ॥३९॥

यं लब्ध्वा परमं लाभं नाधिकं मन्यते बुधः ।
यां सूक्ष्मां परमां प्राप्तिं गच्छन्नव्ययमक्षयम् ॥४०॥

यं सांख्या गुणतत्त्वज्ञाः सांख्यशास्त्रविशारदाः ।
सूक्ष्मज्ञानतराः सूक्ष्मं ज्ञात्वा मुच्यन्ति बन्धनैः ॥४१॥

यञ्च वेदविदो वेद्यं वेदान्ते च प्रतिष्ठितम् ।
प्राणायामपरा नित्यं यं विशन्ति जपन्ति च ॥४२॥

ओंकाररथमारुह्य ते विशन्ति महेश्वरम् ।
अयं स देवयानानामादित्यो द्वारमुच्यते ॥४३॥

मोक्ष हैं। आत्मविद पुरुषों के केवल स्वरूप हैं। वह प्रभु देवता और मनुष्यों में अप्रकाशित रूप से रहता है, इसी से ब्रह्मा आदि मन्त्र व्याख्याता सिद्धों के द्वारा शास्त्र स्वरूप गुहा में गुण भाव से रक्खा गया है। इसी कारण देवता दानव और मनुष्य अज्ञानरूपी अन्धकार में मोहित होकर इस प्रभु का यथार्थ तत्त्व नहीं समझ पाते। जो लोग भक्तिभाव से ध्यान करके इनके दर्शन करने की इच्छा करते हैं, यह हृदयरूपी गुहा में शयन करने वाला भगवान् उन्हें स्वयं ही दर्शन देता है। जिसे जानने से फिर जन्म वा मृत्यु नहीं होती, जिस परम-वेद्य परमेश्वर के जानने से फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, जिससे अव्यय और अविनाशी सूक्ष्म परममय श्री पाकर विद्वान पुरुष फिर किसी लाभ को अधिक नहीं समझते तथा ज्ञान से लिङ्ग अर्थात् प्रकृति को पार करने वाले, सांख्य शास्त्र के गुण तत्त्वों को जाननेवाले विद्वान् लोग उस सूक्ष्म ज्ञान को प्राप्तकर बन्धनों से छूट जाते हैं। वेद जानने वाले विद्वान् लोग जिसे वेद्य कहकर जानते हैं, जो वेदान्त शास्त्र के बीच प्रतिष्ठित हो रहा है। सदा प्राणायाम में रत रहने वाले मनुष्य इसी में प्रवेश करते हैं तथा इसका जप करते हैं और वे लोग ओंकार रूपी रथ में चढकर इसी परमेश्वर में प्रवेश किया करते हैं।

अयं च पितृयानानां चन्द्रमा द्वारमुच्यते ।
एष काष्ठा दिशश्चैव सम्वत्सरयुगादि च ।।४४।।
दिव्यादिव्यः परो लाभो अयने दक्षिणोत्तरे ।
एनं प्रजापतिः पूर्वमाराध्य बहुभिः स्तवैः ।
प्रजार्थं वरयामास नीललोहितसंज्ञितम् ।।४५।।
ऋग्भिर्यमनुशासन्ति तत्त्वे कर्मणि बह्वृचाः ।
यजुर्भिर्यंत्रिधा वेद्यं जुह्वत्यध्वर्य्यवोऽध्वरे ।।४६।।
सामभिर्यश्च गायन्ति सामगाः शुद्धबुद्धयः ।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म स्तुवन्त्याथर्वणा द्विजाः ।
यज्ञस्य परमा योनिः पतिश्चायं परः स्मृतः ।।४७।।
रात्र्यहः श्रोत्रनयनः पक्षमासशिरोभुजः ।
ऋतुर्वीर्यस्तपो धैर्यो ह्यब्दगुह्योरुपादवान् ।।४८।।
मृत्युर्यमो हुताशश्च कालः संहारवेगवान् ।
कालस्य परमा योनिः कालश्चायं सनातनः ।।४९।।
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रौ ग्रहाश्च सह वायुना ।
ध्रुवः सप्तर्षयश्चैव भुवनाः सप्त एव च ।।५०।।

यही देवयान पथ का आदित्य स्वरूप द्वार और पितृयान का चन्द्रमारूप द्वार कहा गया है। यही काष्ठा दिशा सवत्सर और युग आदि हैं।

यही दिव्यादिव्य अर्थात् इन्द्र और सार्वभौम लाभ तथा दक्षिणायन और उत्तरायण स्वरूप है। पहिले प्रजापति ने इसी नीललोहित की अनेक प्रकार स्तोत्रों से आराधना करके सृष्टि करने के लिये वर मांगा था। ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण लोग अनारोपितरूप तत्त्व का ऋक् मन्त्रों से वर्णन करते हैं। यजुर्वेद जानने वाले अध्वर्य्युगण, श्रौत, स्मार्त और ध्यान-इन त्रिविध यज्ञों से जानने योग्य यजुर्वेदमय महेश्वर को यजुर्मन्त्र द्वारा आहुति देते हैं। शुद्ध बुद्धिवाले सामवेदी ब्राह्मण सामवेद के मन्त्रों से उसका यश गाते हैं तथा अथर्ववेदी ब्राह्मण यज्ञ के फल सत् स्वरूप इस परब्रह्म की स्तुति किया करते हैं। वे ही यज्ञ के आदि कारण और ईश्वर कह कर स्मरण किये जाते हैं। दिन और रात इनकी आँखें और कान स्वरूप हैं। पक्ष और महीने उनके शिर तथा भुजाएँ हैं, ऋतु इनका वीर्य, तपस्या इनका धैर्य और वर्ष उनका गुह्य, जँघा और चरण है। ये ही मृत्यु, यम, अग्नि, संहार में भगवान् काल, काल के उत्पत्ति स्थान और सनातन काल स्वरूप हैं। ये ही नक्षत्र सहित चन्द्रमा, सूर्य और वायु के सहित समस्त ग्रह, ध्रुव, सप्तर्षि और सातों भुवन स्वरूप हैं।

प्रधानं महदव्यक्तं विशेषान्तं सवैकृतम् ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं भूतादिसदसच्च यत् ॥५१॥
अष्टौ प्रकृतयश्चैव प्रकृतिभ्यश्च यः परः ।
अस्य वेदस्य यद्भागं कृत्स्नं सम्परिवर्तते ॥५२॥
एतत् परममानन्दं यत्तच्छाश्वतमेव च ।
एषा गतिर्विरक्तानामेष भावः परः सताम् ॥५०॥
एतत् पदमनुद्विग्नमेतद् ब्रह्म सनातनम् ।
शास्त्रवेदाङ्गविदुषामेतद्ध्यानं परं पदम् ॥५४॥
इयं सा परमा काष्ठा इयं सा परमा कला ।
इयं सा परमा सिद्धिरियं सा परमा गतिः ॥५५॥
इयं सा परमा शान्तिरियं सा निर्वृतिः परा ।
यं प्राप्य कृतकृत्याः स्म इत्यमन्यन्त योगिनः ॥५६॥
इयं तुष्टिरियं सिद्धिरियं श्रुतिरियं स्मृतिः ।
अध्यात्मगतिरिष्टानां विदुषां प्राप्तिरव्यया ॥५७॥
यजतां कामयानानां मखैर्विपुलदक्षिणैः ।
या गतिर्यज्ञशीलानां सा गतिस्त्वं न संशयः ॥५८॥
सम्यग्योगजपैः शान्तिनियमैर्देहतापनैः ॥

ये ही प्रधान, महत्, अव्यक्त, सवैकृत, विशेषान्त ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सद्रूप भूमि, जल, अग्नि; और असद्रूप वायु, आकाश, तथा मन, बुद्धि, अहंकार—इन अष्ट प्रकृति स्वरूप और प्रकृति से भी परे मायावी हैं। इस मायावी देव के अंश से समस्त जगत् रूप प्रपंच उत्पन्न हुआ है। ये ही शाश्वत परमानन्द स्वरूप हैं तथा विरक्तों की गति और साधुओं के परम भाव हैं। ये ही शान्तप्रद स्वरूप तथा सनातन ब्रह्म हैं। शास्त्र और वेदाङ्ग जानने वाले पुरुषों के ये ही परमपद और उत्कृष्ट ध्यान स्वरूप हैं। ये ही श्रुति प्रसिद्ध परम काष्ठा हैं, ये ही परम कला हैं, ये ही परम सिद्धि और परम गति हैं, ये ही परम शांति तथा परम निर्वृत्ति हैं, योगी लोग इन्हीं को पाकर अपने को कृतकृत्य समझते हैं। ये ही तुष्टि, सिद्धि, श्रुति (अर्थात् श्रोत्रादि जनित अनुभूति) और स्मृति स्वरूप हैं। ये ही योगियों की अध्यात्मगति अर्थात् (प्रत्यक्प्रावण्य रूप वाली) गतिस्वरूप हैं और येही विद्वान पुरुषों की अपुनरावर्त्तिनी प्राप्ति स्वरूप हैं।

बहुत सी दक्षिणाओं के युक्त यज्ञ करने से यजनशील कामना वाले मनुष्यों

तप्यतां या गतिर्देव परमा सा गतिर्भवान् ॥५९॥
कर्मन्यासकृतानाञ्च विरक्तानां ततस्ततः ।
या गतिर्ब्रह्मसदने सा गतिस्त्वं सनातन ॥६०॥
अपुनर्भवकामानां वैराग्ये वर्तताञ्च या ।
प्रकृतीनां लयानाञ्च सा गतिस्त्वं सनातन ॥६१॥
ज्ञानविज्ञानयुक्तानां निरुपाख्या निरञ्जना ।
कैवल्या या गतिर्देव परमा सा गतिर्भवान् ॥६२॥
वेदशास्त्रपुराणोक्ताः पञ्चैता गतयः स्मृताः ।
त्वद्प्रसादाद्धि लभ्यन्ते न लभ्यन्तेऽन्यथा विभो ॥६३॥
इति तंडिस्तपोराशिस्तुष्टावेशानमात्मना ।
जगौ च परमं ब्रह्म यत् पुरा लोककृज्जगौ ॥७४॥

उपमन्युरुवाच :—

एवं स्तुतो महादेवस्तण्डिना ब्रह्मवादिना ।
उवाच भगवान्देव उमया सहितः प्रभुः ॥६५॥
ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वेदेवा महर्षयः ।
न विदुस्त्वामिति ततस्तुष्टः प्रोवाच तं शिवः ॥६६॥

को स्वर्गादि लोक रूप जो गति प्राप्त होती है, वह गति निःसन्देह तुम्हीं हो। हे देव ! पूरी रीति से जप, योग, शांति और देह को तपाने वाले कठोर नियमों को पालन करके तपस्या करने वाले मनुष्यों को जो गति प्राप्त होती है, वह परमगति तुम्हीं हो। हे सनातन ! निवृत्ति वाले विरक्त पुरुषों की ब्रह्मलोक रूप जो गति होती है, वह गति तुम्हीं हो। जो लोग पुनर्जन्म की कामना नहीं करते और सदा वैराग्य अवलम्बन किया करते हैं, उन मुमुक्षु जनों को अपुनरावृत्ति की गति प्राप्त होती है, हे सनातन ! वह गति तुम्हीं हो। हे देव ! ज्ञान विज्ञान से युक्त पुरुषों की निरूपाख्य निरञ्जन कैवल्य रूपी जो गति हुआ करती है, वह परम गति तुम्हीं हो। हे विभु ! वेद, शास्त्र और पुराणों में कही हुई जो पाँच प्रकार की गतियाँ निर्दिष्ट हैं, वे सब तुम्हारी कृपा से प्राप्त होती हैं; अन्यथा प्राप्त नहीं हो सकतीं। तपस्वी श्रेष्ठ तण्डी मुनि ने स्वयं इसी प्रकार ईशान देव की स्तुति की थी। पहिले समय में प्रजापति ने जिस प्रकार ब्रह्म का यश गाया था इन्होंने भी उनका उसी प्रकार यश गान किया।

उपमन्यु बोले—देव प्रभु ! ब्रह्मवादी तण्डिमुनि के इस प्रकार स्तुति करने पर ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, विश्वदेव और महर्षि लोग भी तुम्हें नहीं जानते। इसी वचन से प्रसन्न होकर उमा सहित भगवान् महादेव प्रभु उनसे कहने लगे।

श्रीभगवानुवाच :—

अक्षयश्चाव्ययश्चैव भविता दुःखवर्जितः ।
यशस्वी तेजसा युक्तो दिव्यज्ञानसमन्वितः ॥६७॥

ऋषीणामभिगम्यश्च सूत्रकर्ता सुतस्तव ।
मत्प्रसादाद् द्विजश्रेष्ठ भविष्यति न संशयः ॥६८॥

कं वा कामं ददाम्यद्य ब्रूहि यद्वत्स कांक्षसे ।
प्राञ्जलिः स उवाचेदं त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे ॥६९॥

उपमन्युरुवाच :—

एतान् दत्वा वरान् देवो वन्द्यमानः सुरर्षिभिः ।
स्तूयमानश्च विबुधैस्तत्रैवान्तरधीयत ॥७०॥

अन्तर्हिते भगवति सानुगे यादवेश्वर ।
ऋषिराश्रममागम्य ममैतत् प्रोक्तवानिह ॥७१॥

यानि च प्रथितान्यादौ तण्डिराख्यातवान् मम ।
नामानि मानवश्रेष्ठ तानि त्वं शृणु सिद्धये ॥७२॥

दशनामसहस्राणि देवेष्वाह पितामहः ।
शर्वस्य शास्त्रेषु तथा दशनाम शतानि च ॥७०॥

गुह्यानीमानि नामानि तण्डिर्भगवतोऽच्युत ।

भगवान् बोले—हे द्विजश्रेष्ठ ! तुम मेरे प्रसाद से अक्षय, अव्यय, दुःखरहित, यशस्वी और दिव्य ज्ञान से युक्त होगे और तुम्हारा पुत्र ऋषियों का अभिगम्य तथा सूत्रकार होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। हे तात ! कहो तुम्हें कौन सी अभिलाषा है ? मैं इस समय उन्हें पूर्ण करूँगा। तण्डिमुनि हाथ जोड़कर यह वचन बोले—हे देव ! तुममें मेरी दृढ़ भक्ति हो।

उपमन्यु बोले—देवर्षियों से वन्दनीय और देवताओं से स्तूयमान महादेव तण्डिमुनि को यह वर देकर उसी ही स्थान में अन्तर्द्धान हो गये। हे यादवेश्वर ! जब भगवान् अनुचरों सहित अन्तर्द्धान हो गए तब महर्षि तण्डि ने इस आश्रम में आकर मुझसे वह सब वृत्तान्त कहा था। पहिले जो कुछ विदित हुआ था, तण्डीमुनि ने सब मुझसे कहा। हे मनुजश्रेष्ठ ! उन्होंने भगवान् के जिन नामों का वर्णन किया था, तुम सिद्धि के निमित्त उन सबको सुनो ! पितामह ने देवताओं के समीप भगवान् के दश हजार नामों का वर्णन किया था, परन्तु

देवप्रसादाद्देवेशः पुरा प्राह महात्मने ॥७४॥

इत्यनुशासनपर्वणि आनुशासनिकपर्वणि मेघवाहनोपाख्याने षोडशोऽध्यायः

शास्त्र में महादेव के एक हजार नाम विख्यात हैं। हे अच्युत! हे देवेश! पूर्व समय में तण्डिमुनि ने इन गुप्त नामों को उन्हीं की कृपा से महानुभाव महेश्वर के निकट कहा था।

॥ इति षोडशोऽध्यायः ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः।

वासुदेव उवाच :—

ततः स प्रयतो भूत्वा मम तात युधिष्ठिरः।
प्रांजलिः प्राह विप्रर्षिर्नामसंग्रहमादितः ॥१॥

उपमन्युरुवाच :—

ब्रह्मप्रोक्तैर्ऋषिप्रोक्तैर्वेदवेदाङ्गसंभवैः।
सर्वलोकेषु विख्यातं स्तुत्यं स्तोष्यामि नामभिः ॥२॥

महद्भिर्विहितैः सत्यैः सिद्धैः सर्वार्थसाधकैः।
ऋषिणा तंडिना भक्त्या कृतैर्वेदकृतात्मना ॥३॥

यथोक्तैः साधुभिः ख्यातैर्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
प्रवरं प्रथमं स्वर्ग्यं सर्वभूतहितं शुभम् ॥४॥

श्रुतैः सर्वत्र जगति ब्रह्मलोकावतारितैः।
सत्यैस्तत्परमं ब्रह्म ब्रह्मप्रोक्तं सनातनम् ॥५॥

वक्ष्ये यदुकुलश्रेष्ठ शृणुष्वावहितो मम।
वरयैनं भवं देवं भक्तस्त्वं परमेश्वरम् ॥६॥

तेन तेश्रावयिष्यामि यत्तद् ब्रह्म सनातनम्।

वासुदेवजी बोले—हे तात युधिष्ठिर! इसके बाद ब्रह्मर्षि उपमन्यु सावधान हो हाथ जोड़ कर शिवजी के सहस्रनाम मेरे सम्मुख वर्णन किये। उपमन्यु ऋषि बोले—हे वासुदेव! मैं ब्रह्माजी और ऋषियों के कहे हुए वेद-वेदान्त के नामों से स्तुति के योग्य और सब लोकों मे विख्यात परमेश्वर की स्तुति करता हूँ। महर्षियों से विचार किये हुए सत्य, शुद्ध और सब मनोरथों को सिद्ध करने वाले, वेद मे मन लगाने वाले तंडीऋषि की भक्ति से वेद में से निकाले हुए, तत्त्वदर्शी मुनियों से प्रशंसा किये हुये, साधुओं के कहे हुए और ब्रह्मलोक से आये हुए सत्य नामों से उस अत्यन्त श्रेष्ठ, सबके आदि, स्वर्ग के दाता, सर्वजीत, हितकारी, शुद्ध, चैतन्यरूप, सर्वव्यापी और वेद मे कहे हुए सनातन ब्रह्मरूप देवता की स्तुति करता हूँ। हे यदुनन्दन, इस संसार के उत्पत्ति स्थान परमेश्वर के तुम परमभक्त हो, इससे तुमको सुनाता हूँ। सावधान होकर ध्यानपूर्वक श्रवण करो। शिवजी की विभूतियों का पूरा-पूरा वर्णन बड़े-बड़े योगियों द्वारा भी हजारों वर्षों मे भी नहीं हो सकता। हे माधवजी!

न शक्यं विस्तरात्कृत्स्नं वक्तुं सर्वस्य केनचिद् ॥७॥

युक्तेनापि विभूतीनामपि वर्षशतैरपि ।
यस्यादिर्मध्यमंतश्च सुरैरपि न गम्यते ॥८॥

कस्तस्य शक्नुयाद्वक्तुं गुणान् कार्त्स्न्येन माधव ।
किं तु देवस्य महतः संक्षिप्तार्थपदाक्षरम् ॥९॥
शक्तितश्चरितं वक्ष्ये प्रसादात्तस्य धीमतः ।
अप्राप्य तु ततोऽनुज्ञां न शक्यः स्तोतुमीश्वरः ॥१०॥
यदा तेनाभ्यनुज्ञातः स्तुतो वै स तदा मया ।
अनादिनिधनस्याहं जगद्योनेर्महात्मनः ॥११॥
नाम्नां कंचित्समुद्देशं वक्ष्याम्यव्यक्तयोनिनः ।
वरदस्य वरेण्यस्य विश्वरूपस्य धीमतः ॥१२॥

शृणु नाम्नां चयं कृष्ण तदुक्तं पद्मयोनिना ।
दशनाम सहस्राणि यान्याह प्रपितामहः ॥१३॥
तानि निर्मथ्य मनसा दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ।
गिरेः सारं यथा हेम पुष्पसारं यथा मधु ॥१४॥
घृतात्सारं यथामण्डस्तथैतत्सारमुद्धृतम् ।
सर्वपापापहमिदं चतुर्वेदसमन्वितम् ॥१५॥
प्रयत्नेनाधिगंतव्यं धार्यं च प्रयतात्मना ।

जिसका आदि, मध्य, अन्त देवताओं से भी नहीं जाना जा सकता, उनके सम्पूर्ण गुणों को दूसरा कौन व्यक्ति विस्तार के साथ कह सकेगा? उन्हीं देवेश्वर की कृपासे यथाशक्ति संक्षेप में महादेव जी के चरित्रों का वर्णन करता हूँ, उनकी कृपा और आज्ञा के बिना और कोई कहने को समर्थ नहीं है। संसार के उत्पत्ति स्थान, वरदायी, श्रेष्ठ, ज्ञानी और विश्वरूप के नामों का कुछ भाग वर्णन करता हू। हे श्रीकृष्ण! इन ब्रह्माजी से कहे हुए दश हजार नामों को मन से मथकर एक हजार आठ नामरूपी ऐसा सार निकाला है जैसा कि दही का सार घृत, पर्वत का सार सोना, फूल का सार शहद होता है और जैसे कि घृत का सार मण्ड होता है। यह सार सब पापों को दूर करने वाला, चारों वेदों से युक्त, बड़े उपाय से सिद्ध करने योग्य और बड़े सावधान बुद्धिवाले पुरुष से धारण करने योग्य है। यह मंगल का दाता, बुद्धिकर्ता, पौष्टिक, राक्षसों का नाशकर्ता

मांगल्यं पौष्टिकं चैव रक्षोघ्नं पावनं महत् ॥१६॥

इदं भक्ताय दातव्यं श्रद्धानास्तिकाय च ।
नाश्रद्धानरूपाय नास्तिकायाजितात्मने ॥१७॥

यश्चाभ्यसूयते देवं कारणात्मानमीश्वरम् ।
स कृष्ण नरकं याति सह पूर्वैः सहात्मजैः ॥१८॥

इदं ध्यानमिदं योगमिदं ध्येयमुत्तमम् ।
इदं जप्यमिदं ज्ञानं रहस्यमिदमुत्तमम् ॥१९॥

यं ज्ञात्वा अंतकालेपि गच्छेत परमां गतिम् ।
पवित्रं मंगलं मेध्यं कल्याणमिदमुत्तमम् ॥२०॥

इदं ब्रह्मा पुरा कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
सर्वस्तवानां राजत्वे दिव्यानां समकल्पयत् ॥२१॥

तदाप्रभृति चैवायमीश्वरस्य महात्मनः ।
स्तवराज इति ख्यातो जगत्यमरपूजितः ॥२२॥

ब्रह्मलोकादयं स्वर्गे स्तवराजोऽवतारितः ।
यतस्तंडिः पुरा प्राप तेन तंडि कृतोऽभवत् ॥२३॥

स्वर्गाच्चैवात्र भूर्लोकं तंडिना ह्यवतारितः ।
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वपाप प्रणाशनम् ॥२४॥

और परम पवित्र करने वाला है, इसे श्रद्धावान्, आस्तिक और भक्तों को सुनाना चाहिये और अश्रद्धावान्, नास्तिक और अजितेन्द्रिय को कभी न देना चाहिये ॥ १७ ॥ हे कृष्णजी! जो पुरुष इस कारण और आत्मारूप अविनाशी ईश्वर की निन्दा करता है, वह अपने पूर्वजों और संतान समेत नरकगामी होता है ॥ १८ ॥ यही उत्तम ध्यान, योग और ध्येय है, इससे अधिक दूसरा नहीं है। यही जप के योग्य, ज्ञान, उत्तम रहस्य, पापों का नाश करने वाला, मङ्गलरूप यज्ञादि का फलदेनेवाला, कल्याण रूप, सर्वोत्तम, अन्त समय पर भी जानने से परमगति को देनेवाला है ॥ १९-२० ॥ पूर्व समय में सब लोकों के पितामह ब्रह्माजी ने इसको निर्माण करके सब दिव्य स्तोत्रों के ऊपर राज पदवी दी है। तब से लेकर परमात्मा ईश्वर का यह स्तोत्र देवताओं से पूजित होकर स्तवराज नाम से प्रसिद्ध हुआ। स्तवराज पूर्व समय में ब्रह्म लोक से स्वर्ग में आया और स्वर्गलोक से तण्डीऋषि के द्वारा पृथ्वी पर लाया गया। इसी से यह स्तोत्र तण्डिकृत कहलाता है। यह मंगलों का भी मंगल करने वाला सर्वपापमोचन है। हे

निगदिष्ये महाबाहो स्तवानामुत्तमं स्तवम् ।
ब्रह्मणामपि यद्ब्रह्म पराणामपि यत्परम् ॥२५॥

तेजसामपि यत्तेजस्तपसामपि यत्तपः ।
शान्तानामपि यः शान्तो द्युतीनामपि या द्युतिः ॥२६॥

दान्तानामपि यो दांतो धीमतामपि या च धीः ।
देवानामपि यो देव ऋषीणामपि यस्त्वृषिः ॥२७॥

यज्ञानामपि यो यज्ञः शिवानामपि यः शिवः ।
रुद्राणामपि यो रुद्रः प्रभा प्रभवतामपि ॥२८॥

योगिनामपि यो योगी कारणानां च कारणम् ।
यतो लोकाः संभवन्ति न भवन्ति यतः पुनः ॥२९॥

सर्वभूतात्मभूतस्य हरस्यामिततेजसः ।
अष्टोत्तरसहस्रन्तु नाम्नां शर्वस्य मे शृणु ।
यच्छ्रुत्वा मनुजव्याघ्र सर्वान्कामानवाप्स्यसि ॥३०॥

स्थिरः स्थाणुः प्रभुर्भीमः प्रवरो वरदो वरः ।
सर्वात्मा सर्वविख्यातः सर्वः सर्वकरो भवः ॥३१॥

जटी चर्मी शिखण्डी च सर्वाङ्गः सर्वभावनः ।
हरश्च हरिणाक्षश्च सर्वभूतहरः प्रभुः ॥३२॥

महाबाहु ! सब स्तोत्रों में उत्तम इस स्तोत्रराज को वर्णन करता हूँ। यह वेदों का भी वेद, सर्वोत्तम, मन-वाणी से परे जो मनुष्य है उससे भी परे महापुरुष, नेत्रादि सब तेजों का भी तेज, तपों का भी तप, शांतों का भी शान्त अर्थात् मोक्ष-रूप, प्रकाश का भी पुरुष अर्थात् साक्षीरूप ज्ञान है। जितेन्द्रियों में भी महा-जितेन्द्रिय, ज्ञानों का भी ज्ञान अर्थात् अनुभव रूप आत्मा, देवताओं का भी देवता, ऋषियों का भी ऋषि, यज्ञों का भी यज्ञ, कल्याणों का भी कल्याण, रुद्रों का भी रुद्र, ऐश्वर्यों का भी ऐश्वर्य, योगियों और ब्रह्मा आदि का भी योग अर्थात् ध्यानयोग्य और अव्यक्तादि कारणों का भी कारण शुद्ध ब्रह्म है। इसीसे जीव उत्पन्न होते हैं और लय हो जाते हैं।

उस सब जीवमात्रों के आत्मा, बड़े तेजस्वी, नाशकर्त्ता हर के एक हजार आठ नामों को मैं कहता हूँ। हे पुरुषोत्तम ! जिसके सुनने से तुम सब अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त करोगे।

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च नियतः शाश्वतो ध्रुवः ।
श्मशानवासी भगवान् खचरो गोचरोऽर्दनः ॥३३॥

अभिवाद्यो महाकर्मा तपस्वी भूतभावनः ।
उन्मत्तवेषप्रच्छन्नः सर्वलोकप्रजापतिः ॥३४॥

महारूपो महाकायो वृषरूपो महायशाः ।
महात्मा सर्वभूतात्मा विश्वरूपो महाहनुः ॥३५॥
लोकपालोऽन्तर्हितात्मा प्रसादो हयगर्दभिः ।
पवित्रं च महांश्चैव नियमो नियमाश्रितः ॥३६॥

सर्वकर्मा स्वयंभूत आदिरादिकरो निधिः ।
सहस्राक्षो विशालाक्षः सोमो नक्षत्रसाधकः ॥३७॥
चन्द्रः सूर्यः शनिः केतुर्ग्रहो ग्रहपतिर्वरः ।
अत्रिरत्र्या नमस्कर्ता मृगबाणार्पणोऽनघः ॥३८॥
महातपा घोरतपा अदीनो दीनसाधकः ।
संवत्सरकरो मंत्रः प्रमाणं परमं तपः ॥३९॥
योगी योज्यो महाबीजो महारेता महाबलः ।
सुवर्णरेताः सर्वज्ञः सुबीजो बीजवाहनः ॥४०॥

दशबाहुस्त्वनिमिषो नीलकण्ठ उमापतिः ।
विश्वरूपः स्वयं श्रेष्ठो बलवीरोऽबलो गणः ॥४१॥
गणकर्ता गणपतिर्दिग्वासाः काम एव च ।
मंत्रवित्परमो मंत्रः सर्वभावकरो हरः ॥४२॥

कमण्डलुधरो धन्वी बाणहस्तः कपालवान् ।
अशनी शतघ्नी खड्गी पट्टिशी चायुधी महान् ॥४३॥
स्रुवहस्तः सुरूपश्च तेजस्तेजस्करो निधिः ।
उष्णीषी च सुवक्त्रश्च उदग्रो विनतस्तथा ॥४४॥
दीर्घश्च हरिकेशश्च सुतीर्थः कृष्ण एव च ।
शृगालरूपः सिद्धार्थो मुण्डः सर्वशुभंकरः ॥४५॥
अजश्च बहुरूपश्च गंधधारी कपर्द्यपि ।
ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वलिंग ऊर्ध्वशायी नभःस्थलः ॥४६॥

त्रिजटी चीरवासाश्च रुद्रः सेनापतिर्विभुः ।
अहश्चरो नक्तंचरस्तिग्ममन्युः सुवर्चसः ॥४७॥
गजहा दैत्यहा कालो लोकधाता गुणाकरः ।
सिंहशार्दूलरूपश्च आर्द्रचर्माम्बरावृतः ॥४८॥
कालयोगी महानादः सर्वकामश्चतुष्पथः ।
निशाचरः प्रेतचारी भूतचारी महेश्वरः ॥४९॥
बहुभूतो बहुधरः स्वर्भानुरमितो गतिः ।
नृत्यप्रियो नृत्यनर्तो नर्तकः सर्वलालसः ॥५०॥
घोरो महातपाः पाशो नित्यो गिरिरुहो नभः ।
सहस्रहस्तो विजयो व्यवसायो ह्यतंद्रितः ॥५१॥
अधर्षणो धर्षणात्मा यज्ञहा कामनाशकः ।
दक्षयागापहारीच सुसहो मध्यमस्तथा ॥५२॥
तेजोपहारी बलहा मुदितोऽर्थोऽजितोऽवरः ।
गम्भीरघोषो गम्भीरो गम्भीरबलवाहनः ॥५३॥
न्यग्रोधरूपो न्यग्रोधो वृक्षकर्णस्थितिर्विभुः ।
सुतीक्ष्णदशनश्चैव महाकायो महाननः ॥५४॥
विष्वक्सेनो हरिर्यज्ञः संयुगापीडवाहनः ।
तीक्ष्णतापश्च हर्यश्वः सहायः कर्मकालवित् ॥५५॥
विष्णुप्रसादितो यज्ञः समुद्रो वडवामुखः ।
हुताशनसहायश्च प्रशांतात्मा हुताशनः ॥५६॥
उग्रतेजा महातेजा जन्यो विजयकालवित् ।
ज्योतिषामयनं सिद्धिः सर्वविग्रह एव च ॥५७॥
शिखी मुंडी जटी ज्वाली मूर्तिजो मूर्द्धगो बली ।
वेणवी पणवी ताली खली कालकटंकटः ॥५८॥
नक्षत्रविग्रहमतिर्गुणबुद्धिर्लयोऽगमः ।
प्रजापतिर्विश्वबाहुर्विभागः सर्वगोऽमुखः ॥५९॥
विमोचनः सुसरणो हिरण्यकवचोद्भवः ।
मेढ्जो बलचारी च महीचारी स्रुतस्तथा ॥६०॥

सर्वतूर्यनिनादी च सर्वातोद्यपरिग्रहः ।
व्यालरूपो गुहावासी गुहो माली तरङ्गवित् ॥६१॥
त्रिदशस्त्रिकालधृक्कर्म सर्वबन्धविमोचनः ।
बन्धनस्त्वसुरेन्द्राणां युधि शत्रुविनाशनः ॥६२॥
सांख्यप्रसादो दुर्वासाः सर्वसाधुनिषेवितः ।
प्रस्कन्दनो विभागज्ञोऽतुल्यो यज्ञविभागवित् ॥६३॥
सर्ववासः सर्वचारी दुर्वासा वासवोऽमरः ।
हैमो हेमकरोऽयज्ञः सर्वधारी धरोत्तमः ॥६४॥
लोहिताक्षो महाक्षश्च विजयाक्षो विशारदः ।
संग्रहो निग्रहः कर्ता सर्पचीरनिवासनः ॥६५॥
मुख्योऽमुख्यश्च देहश्च काहलिः सर्वकामदः ।
सर्वकालप्रसादश्च सुबलो बलरूपधृक् ॥६६॥
सर्वकामवरश्चैव सर्वदः सर्वतोमुखः ।
आकाशनिर्विरूपश्च निपाती ह्यवशः खगः ॥६७॥
रौद्ररूपोंऽशुरादित्यो बहुरश्मिः सुवर्चसी ।
वसुवेगो महावेगो मनोवेगो निशाचरः ॥६८॥
सर्ववासी श्रियावासी उपदेशकरोऽकरः ।
मुनिरात्मनिरालोकः संभग्नश्च सहस्रदः ॥६९॥
पक्षी च पक्षरूपश्च अतिदीप्तो विशांपतिः ।
उन्मादो मदनः कामो ह्यश्वत्थोऽर्थकरो यशः ॥७०॥
वामदेवश्च वामश्च प्राग्दक्षिणश्च वामनः ।
सिद्धयोगी महर्षिश्च सिद्धार्थः सिद्धसाधकः ॥७१॥
भिक्षुश्च भिक्षुरूपश्च विपणो मृदुरव्ययः ।
महासेनो विशाखश्च षष्टिभागो गवां पतिः ॥७२॥
वज्रहस्तश्च विष्कंभी चमूस्तंभन एव च ।
वृत्तावृत्तकरस्तालो मधुर्मधुकलोचनः ॥७३॥
वाचस्पत्यो वाजसनो नित्यमाश्रमपूजितः ।
ब्रह्मचारी लोकचारी सर्वचारी विचारवित् ॥७४॥

ईशान ईश्वरः कालो निशाचारी पिनाकवान् ।
निमित्तस्थो निमित्तं च नन्दिर्नन्दिकरो हरिः ॥७५॥
नंदीश्वरश्च नंदी च नंदनो नंदवर्द्धनः ।
भगहारी निहंता च कालो ब्रह्मा पितामहः ॥७६॥
चतुर्मुखो महालिंगश्चारुलिंगस्तथैव च ।
लिंगाध्यक्षः सुराध्यक्षो योगाध्यक्षो युगावहः ॥७७॥
बीजाध्यक्षो बीजकर्ता अध्यात्मानुगतो बलः ।
इतिहासः संकल्पश्च गौतमोऽथ निशाकरः ॥७८॥
दंभो ह्यदंभो वैदंभो वश्यो वशकरः कलिः ।
लोककर्ता पशुपतिर्महाकर्ता ह्यनौषधः ॥७९॥
अक्षरं परमं ब्रह्म बलवच्छक्र एव च ।
नीतिर्ह्यनीतिः शुद्धात्मा शुद्धो मान्यो गतागतः ॥८०॥
बहुप्रसादः सुस्वप्नो दर्पणोऽथ त्वमित्रजित् ।
वेदकारो मंत्रकारो विद्वान् समरमर्दनः ॥८१॥
महामेघनिवासी च महाघोरो वशी करः ।
अग्निज्वालो महाज्वालो अतिधूम्रो हुतो हविः ॥८२॥
वृषणः शंकरो नित्यं वर्चस्वी धूम्रकेतनः ।
नीलस्तथांगलुब्धश्च शोभनो निरवग्रहः ॥८३॥
स्वस्तिदः स्वस्तिभावश्च भागी भागकरो लघुः ।
उत्संगश्च महांगश्च महागर्भपरायणः ॥८४॥
कृष्णवर्णः सुवर्णश्च इन्द्रियं सर्वदेहिनाम् ।
महापादो महाहस्तो महाकायो महायशाः ॥८५॥
महामूर्धा महामात्रो महानेत्रो निशालयः ।
महांतको महाकर्णो महोष्ठश्च महाहनुः ॥८६॥
महानासो महाकम्बुर्महाग्रीवः श्मशानभाक् ।
महावक्षा महोरस्को ह्यंतरात्मा मृगालयः ॥८७॥
लंबनो लंबितोष्ठश्च महामायः पयोनिधिः ।
महादंतो महादंष्ट्रो महाजिह्वो महामुखः ॥८८॥

महानखो महारोमा महाकेशो महाजटः ।
प्रसन्नश्च प्रसादश्च प्रत्ययो गिरिसाधनः ॥८९॥
स्नेहनोऽस्नेहनश्चैव अजितश्च महामुनिः ।
वृक्षाकारो वृक्षकेतुरनलो वायुवाहनः ॥९०॥
गंडली मेरुधामा च देवाधिपतिरेव च ।
अथर्वशीर्षः सामास्य ऋक्सहस्रामितेक्षणः ॥९१॥
यजुःपादभुजो गुह्यः प्रकाशो जंगमस्तथा ।
अमोघार्थः प्रसादश्च अभिगम्यः सुदर्शनः ॥९२॥
उपकारः प्रियः सर्वः कनकः कांचनच्छविः ।
नाभिर्नंदिकरो भावः पुष्करस्थपतिः स्थिरः ॥९३॥
द्वादशस्त्रासनश्चाद्यो यज्ञो यज्ञसमाहितः ।
नक्तं कलिश्च कालश्च मकरः कालपूजितः ॥९४॥
सगणो गणकारश्च भूतवाहनसारथिः ।
भस्मशयो भस्मगोप्ता भस्मभूतस्तरुर्गणः ॥९५॥
लोकपालस्तथालोको महात्मा सर्वपूजितः ।
शुक्लस्त्रिशुक्लः संपन्नः शुचिर्भूतनिषेवितः ॥९६॥
आश्रमस्थः क्रियावस्थो विश्वकर्ममतिर्वरः ।
विशालशाखस्ताम्रोष्ठो ह्यम्बुजालः सुनिश्चलः ॥९७॥
कपिलः कपिशः शुक्ल आयुश्चैव परोऽपरः ।
गन्धर्वो ह्यदितिस्तार्क्ष्यः सुविज्ञेयः सुशारदः ॥९८॥
परश्वधायुधो देवो अनुकारी सुबांधवः ।
तुम्बवीणो महाक्रोध ऊर्ध्वरेता जलेशयः ॥९९॥
उग्रो वंशकरो वंशो वंशनादो ह्यनिन्दितः ।
सर्वाङ्गरूपो मायावी सुहृदो ह्यनिलोऽनलः ॥१००॥
बन्धनो बन्धकर्ता च सुबन्धनविमोचनः ।
सयज्ञारिः सकामारिर्महादंष्ट्रो महायुधः ॥१०१॥
बहुधा निंदितः शर्वः शङ्करः शङ्करोऽधनः ।
अमरेशो महादेवो विश्वदेवः सुरारिहा ॥१०२॥

अहिर्बुन्ध्योऽनिलाभश्च चेकितानो हविस्तथा ।
अजैकपाच्च कापाली त्रिशंकुरजितः शिवः ॥१०३॥

धन्वन्तरिर्धूमकेतुः स्कन्दो वैश्रवणस्तथा ।
धाता शक्रश्च विष्णुश्च मित्रस्त्वष्टा ध्रुवो धरः ॥१०४॥

प्रभावः सर्वगो वायुरर्यमा सविता रविः ।
उषङ्गुश्च विधाता च मांधाता भूतभावनः ॥१०५॥

विभुर्वर्णविभावी च सर्वकामगुणावहः ।
पद्मनाभो महागर्भश्चन्द्रवक्त्रोऽनिलोऽनलः ॥१०६॥

बलवांश्चोपशान्तश्च पुराणः पुण्यचंचुरी ।
कुरुकर्त्ता कुरुवासी कुरुभूतो गुणौषधः ॥१०७॥

सर्वाशयो दर्भचारी सर्वेषां प्राणिनां पतिः ।
देवदेवः सुखासक्तः सदसत्सर्वरत्नवित् ॥१०८॥

कैलासगिरिवासी च हिमवद्गिरिसंश्रयः ।
कूलहारी कूलकर्त्ता बहुविद्यो बहुप्रदः ॥१०९॥

वणिजो वर्धकी वृक्षो बकुलश्चन्दनच्छदः ।
सारग्रीवो महाजत्रुरलोलश्च महौषधः ॥११०॥

सिद्धार्थकारी सिद्धार्थश्छन्दोव्याकरणोत्तरः ।
सिंहनादः सिंहदंष्ट्रः सिंहगः सिंहवाहनः ॥१११॥

प्रभावात्मा जगत्कालस्थालो लोकहितस्तरुः ।
सारङ्गो नवचक्रांगः केतुमाली सभावनः ॥११२॥

भूतालयो भूतपतिरहोमात्रमनिन्दितः ॥११३॥

वाहिता सर्वभूतानां निलयश्च विभुर्भवः ।
अमोघः संयतो ह्यश्वो भोजनः प्राणधारणः ॥११४॥

धृतिमान् मतिमान् दक्षः सत्कृतश्च युगाधिपः ।
गोपालिर्गोपतिर्ग्रामो गोचर्मवसनो हरिः ॥११५॥

हिरण्यबाहुश्च तथा गुहापालः प्रवेशिनाम् ।
प्रकृष्टारिर्महाहर्षो जितकामो जितेन्द्रियः ॥११६॥

गांधारश्च सुवासश्च तपःसक्तो रतिर्नरः ।
महागीतो महानृत्यो ह्यप्सरोगणसेवितः ॥११७॥

महाकेतुर्महाधातुर्नैकसानुचरश्चलः ।
आवेदनीय आदेशः सर्वगन्धसुखावहः ॥११८॥
तोरणस्तारणो वातः परिधी पतिखेचरः ।
संयोगो वर्धनो वृद्धो अतिवृद्धो गुणाधिकः ॥११९॥

नित्य आत्मसहायश्च देवासुरपतिः पतिः ।
युक्तश्च युक्तबाहुश्च देवो दिविसुपर्वणः ॥१२०॥
आषाढश्च सुषाढश्च ध्रुवोऽथ हरिणो हरः ।
वपुरावर्तमानेभ्यो वसुश्रेष्ठो महापथः ॥१२१॥

शिरोहारी विमर्शश्च सर्वलक्षणलक्षितः ।
अक्षश्च रथयोगी च सर्वयोगी महाबलः ॥१२२॥
समाम्नायोऽसमाम्नायस्तीर्थदेवो महारथः ।
निर्जीवो जीवनो मन्त्रः शुभाक्षो बहुकर्कशः ॥१२३॥

रत्नप्रभूतो रत्नांगो महार्णवनिपानवित् ।
मूलं विशालो ह्यमृतो व्यक्ताव्यक्तस्तपोनिधिः ॥१२४॥
आरोहणोऽधिरोहश्च शीलधारी महायशाः ।
सेनाकल्पो महाकल्पो योगो युगकरो हरिः ॥१२५॥

युगरूपो महारूपो महानागहनोऽवधः ।
न्यायनिर्वपणः पादः पण्डितो ह्यचलोपमः ॥१२६॥
बहुमालो महामालः शशी हरसुलोचनः ।
विस्तारो लवणः कूपस्त्रियुगः सफलोदयः ॥१२७॥

त्रिलोचनो विषण्णांगो मणिविद्धो जटाधरः ।
बिन्दुर्विसर्गः सुमुखः शरः सर्वायुधः सहः ॥१२८॥
निवेदनः सुखाजातः सुगन्धारो महाधनुः ।
गंधपाली च भगवानुत्थानः सर्वकर्मणाम् ॥१२९॥
मन्थानो बहुलो वायुः सकलः सर्वलोचनः ।
तलस्तालः करस्थाली ऊर्ध्वसंहननो महान् ॥१३०॥

छत्रं सुच्छत्रो विख्यातो लोकः सर्वाश्रयः क्रमः ।
मुण्डो विरूपो विकृतो दंडी कुंडी विकुर्वणः ॥१३१॥
हर्यक्षः ककुभो वज्री शतजिह्वः सहस्रपात् ।
सहस्रमूर्धा देवेन्द्रः सर्वदेवमयो गुरुः ॥१३२॥
सहस्रबाहुः सर्वांगः शरण्यः सर्वलोककृत् ।
पवित्रं त्रिककुन्मन्त्रः कनिष्ठः कृष्णपिंगलः ॥१३३॥
ब्रह्मदण्डविनिर्माता शतघ्नीपाशशक्तिमान् ।
पद्मगर्भो महागर्भो ब्रह्मगर्भो जलोद्भवः ॥१३४॥
गभस्तिर्ब्रह्मकृद् ब्रह्मी ब्रह्मविद् ब्राह्मणो गतिः ।
अनन्तरूपो नैकात्मा तिग्मतेजाः स्वयंभुवः ॥१३५॥
ऊर्ध्वगात्मा पशुपतिर्वातरंहा मनोजवः ।
चन्दनी पद्मनालाग्रः सुरभ्युत्तरणो नरः ॥१३६॥
कर्णिकारमहास्रग्वी नीलमौलिः पिनाकधृत् ।
उमापतिरुमाकांतो जाह्नवीधृदुमाधवः ॥१३७॥
वरो वराहो वरदो वरेण्यः सुमहास्वनः ।
महाप्रसादो दमनः शत्रुहा श्वेतपिंगलः ॥१३८॥
पीतात्मा परमात्मा च प्रयतात्मा प्रधानधृत् ।
सर्वपार्श्वमुखस्त्र्यक्षो धर्मसाधारणो वरः ॥१३९॥
चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा अमृतो गोवृषेश्वरः ।
साध्यर्षिर्वसुरादित्यो विवस्वान्सवितामृतः ॥१४०॥
व्यासः सर्गः सुसंक्षेपो विस्तरः पर्ययो नरः ।
ऋतुः संवत्सरो मासः पक्षः संख्यासमापनः ॥१४१॥
कलाः काष्ठा लवा मात्रा मुहूर्ताहः क्षपाः क्षणाः ।
विश्वक्षेत्रं प्रजाबीजं लिंगमाद्यस्तु निर्गमः ॥१४२॥
सदसद् व्यक्तमव्यक्तं पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ॥१४३॥
निर्वाणं ह्लादनश्चैव ब्रह्मलोकः परा गतिः ।
देवासुरविनिर्माता देवासुरपरायणः ॥१४४॥

देवासुरगुरुर्देवो देवासुरनमस्कृतः ।
देवासुरमहामात्रो देवासुरगणाश्रयः ॥१४५॥

देवासुरगणाध्यक्षो देवासुरगणाग्रणीः ।
देवातिदेवो देवर्पिर्देवासुरवरप्रदः ॥१४६॥

देवासुरेश्वरो विश्वो देवासुरमहेश्वरः ।
सर्वदेवमयोऽचिन्त्यो देवतात्माऽऽत्मसंभवः ॥१४७॥

उद्भिद् त्रिविक्रमो वैद्यो विरजो निरजोऽमरः ।
ईड्यो हस्तीश्वरो व्याघ्रो देवसिंहो नरर्पभः ॥१४८॥

विबुधोऽग्रवरः सूक्ष्मः सर्वदेवस्तपोमयः ।
सुयुक्तः शोभनो व्रजी प्रासानां प्रभवोऽव्ययः ॥१४९॥

गुहः कान्तो निजः सर्गः पवित्रं सर्वपावनः ।
शृंगी शृंगप्रियो बभ्रू राजराजो निरामयः ॥१५०॥

अभिरामः सुरगणो विरामः सर्वसाधनः ।
ललाटाक्षो विश्वदेवो हरिणो ब्रह्मवर्चसः ॥१५१॥

स्थावराणां पतिश्चैव नियमेन्द्रियवर्धनः ।
सिद्धार्थः सिद्धभूतार्थोऽचिंत्यः सत्यव्रतः शुचिः ॥१५२॥

व्रताधिपः परं ब्रह्म भक्तानां परमा गतिः ।
विमुक्तो मुक्ततेजाश्च श्रीमान् श्रीवर्धनो जगत् ॥१५३॥

यथाप्रधानं भगवानिति भक्त्या स्तुतो मया ।
यन्न ब्रह्मादयो देवा विदुस्तत्त्वेन नर्पयः ॥१५४॥

स्तोतव्यमर्च्यं वन्द्यं च कः स्तोष्यति जगत्पतिम् ।
भक्त्या त्वेवं पुरस्कृत्य मयायज्ञपतिर्विभुः ॥१५५॥

हे वासुदेव ! इस प्रकार बहुत नामों मे से मुख्य नामों के द्वारा मैंने भगवान् की स्तुति की थी, जिनको ब्रह्मादि देव तथा ऋषि वास्तविक रूप से नहीं जान सकते ।

स्तुत्यर्ह, पूजनीय और नमस्करणीय उस जगदीश्वर की स्तुति कौन कर सकता है ? इस प्रकार यज्ञपति उस विभु परमात्मा को मैंने भक्ति के आगे करके आज्ञा पाकर बुद्धिमानों मे श्रेष्ठ उस भगवान् की स्तुति की। सावधान एवं

ततोऽभ्यनुज्ञां संप्राप्य स्तुतो मतिमतां वरः
शिवमेभिः स्तुवंदेवं नामभिः पुष्टिवर्धनैः ॥१५६॥

नित्ययुक्तः शुचिर्भक्तः प्राप्नोत्यात्मानमात्मना ॥१५७॥

एतद्धि परमं ब्रह्म परं ब्रह्माधिगच्छति ।
ऋषयश्चैव देवाश्च स्तुवन्त्येतेन तत्परम् ॥१५८॥

स्तूयमानो महादेवस्तुष्यते नियतात्मभिः ।
भक्तानुकंपी भगवानात्मसंस्थाकरो विभुः ॥१५६॥

तथैवच मनुष्येषु ये मनुष्याः प्रधानतः ।
आस्तिकाः श्रद्दधानाश्च बहुभिर्जन्मभिः स्तवैः ॥१६०॥

भक्त्या ह्यनन्यमीशानं परं देवं सनातनम् ।
कर्मणा मनसा वाचा भावेनामिततेजसः ॥१६१॥

शयाना जाग्रमाणाश्च व्रजन्नुपविशंस्तथा ।
उन्मिषन्निमिषंश्चैव चिन्तयन्तः पुनःपुनः ॥१६२॥

शृण्वन्तः श्रावयंतश्च कथयंतश्च ते भवम् ।
स्तुवंतः स्तूयमानाश्च तुष्यंति च रमंति च ॥१६३॥

पवित्रता तथा भक्ति से युक्त जो मनुष्य आयुरारोग्यादि रूप पुष्टि को देने वाले इन सहस्र नामों से भगवान् शंकर की स्तुति करता है वह अपनी बुद्धि से आत्मा को प्राप्त करता है। १५७।

यह ब्रह्मप्राप्ति की सर्वोत्तम विद्या है, इसको जपता हुआ मनुष्य परब्रह्म को प्राप्त करता है; इसी से ऋषि तथा देवता लोग उस परब्रह्म की स्तुति करते हैं॥ १५८॥

स्थिर बुद्धिवाले देवता और ऋषियों से स्तुति किये गए भक्तानुकम्पी, मोक्षद और व्यापक शंकर भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं।

इसी प्रकार विशेष करके मनुष्यों में जो श्रेष्ठ श्रद्धालु और आस्तिक मनुष्य बहुत जन्मों तक अनन्य भक्ति से इन स्तोत्रों द्वारा मन, वचन और कर्म एवं सोते, जागते, चलते, फिरते, बैठते, पलक मारते या पलक खोलते प्रत्येक समय अमित तेजस्वी सनातन उस परमेश्वर की स्तुति करते हैं; बारम्बार उसका चिन्तन करते हैं; एवं उस परमेश्वर की कथा को सुनते और सुनाते रहते हैं, इस प्रकार स्तुति करने वाले वे लोग संसार की अनेक योनि में करोड़ों जन्म पर्यन्त प्रसन्न और आनन्द करते रहते हैं एवं संसार उनकी स्तुति करता रहता है।

जन्मकोटिसहस्रेषु नानासंसारयोनिषु ।
जंतोर्विगतपापस्य भवे भक्तिः प्रजायते ॥१६४॥

उत्पन्ना च भवे भक्तिरनन्या सर्वभावतः ।
भाविनः कारणे चास्य सर्वयुक्तस्य सर्वथा ॥१६५॥

एतद्देवेषु दुष्प्रापं मनुष्येषु न लभ्यते ।
निर्विघ्ना निर्मला रुद्रे भक्तिरव्यभिचारिणी ॥१६६॥

तस्यैव च प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ।
येन यांति परां सिद्धिं तद्भागवतचेतसः ॥१६७॥

ये सर्वभावानुगताः प्रपद्यन्ते महेश्वरम् ।
प्रपन्नवत्सलो देवः संसारात्तान् समुद्धरेत् ॥१६८॥

एवमन्ये विकुर्वन्ति देवाः संसारमोचनम् ।
मनुष्याणामृते देवं नान्या शक्तिस्तपोबलम् ॥१६९॥

इति तेनेंद्रकल्पेन भगवान्सदसत्पतिः ।
कृत्तिवासाः स्तुतः कृष्ण तंडिना शुभबुद्धिना ॥१७०॥

करोड़ों जन्म-जन्मान्तर के बाद निष्पाप प्राणी के हृदय में पुण्यवशात् भगवान् की भक्ति पैदा होती है ।

'श्रद्धादि सब भावों से ही मैं शिव हूँ', इस प्रकार की अभेदरूप अनन्य भगवद्भक्ति उत्पन्न होती है, किन्तु सर्वसाधन सम्पन्न भेद दृष्टिवाले मनुष्य में हर तरह भाग्य से ही शिव मे भक्ति होती है । नामों में प्रधान ब्रह्मविद्यारूप यह सहस्रनाम देवताओं में भी दुष्प्राप्य है, मनुष्यों में तो मिल नहीं सकता है । विघ्न बाधा-रहित अव्यभिचरित और निर्मल रुद्रभक्ति मनुष्यों में उस देव की ही प्रसन्नता से हो सकती है, जिसे भगवान् के ऊपर चित्त लगानेवाला मनुष्य मोक्षरूप परम गति को पहुँच जाता है ॥ १६७ ॥

जो मनुष्य श्रद्धाभक्ति प्रभृति भावों का अनुयायी होकर महेश्वर की शरण में जाते हैं, उन्हें शरणागत प्रेमी भवानीपति भगवान् इस संसार से तार देते हैं ।

इस प्रकार संसार से सम्बन्ध छुड़ाने वाले महादेव को छोड़कर और सभी देवता लोग भगवान् प्रेमी मनुष्यों के तपोमार्ग में बाधा किया करते हैं क्योंकि उन देवताओं में और कोई शक्ति नहीं रहती है ॥ १६९ ॥

इसी कारण इन्द्र के तुल्य तथा सुन्दर बुद्धिवाले उस तण्डीमुनि ने दृश्या-दृश्य पदार्थों के प्रभु तथा चर्मधारी भगवान् महादेव की स्तुति की । ब्रह्माजी

स्तवमेतं भगवतो ब्रह्मा स्वयमधारयत् ।
गीयते च स बुद्धयेत ब्रह्मा शंकरसंनिधौ ॥१७१॥
इदं पुण्यं पवित्रं च सर्वदा पापनाशनम् ।
योगदं मोक्षदं चैव स्वर्गदं तोषदं तथा ॥१७२॥
एवमेतत्पठंते य एकभक्त्या तु शंकरम् ।
या गतिः सांख्ययोगानां व्रजन्त्येतां गतिं तदा ॥१७३॥
स्तवमेतं प्रयत्नेन सदा रुद्रस्य सन्निधौ ।
अब्दमेकं चरेद्भक्तः प्राप्नुयादीप्सितं फलम् ॥१७४॥
एतद्रहस्यं परमं ब्रह्मणो हृदि संस्थितम् ।
ब्रह्मा प्रोवाच शक्राय शक्रः प्रोवाच मृत्यवे ॥१७५॥
मृत्युः प्रोवाच रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्तंडिमागमत् ।
महता तपसा प्राप्तस्तंडिना ब्रह्मसद्मनि ॥१७६॥
तंडिः प्रोवाच शुक्राय गौतमाय च भार्गवः ।
वैवस्वताय मनवे गौतमः प्राह माधव ॥१७७
नारायणाय साध्याय समाधिष्टाय धीमते ।
यमाय प्राह भगवान् साध्यो नारायणोऽच्युतः ॥१७८॥
नाचिकेताय भगवानाह वैवस्वतो यमः ।
मार्कंडेयाय वार्ष्णेय नाचिकेतोऽभ्यभाषत ॥१८९॥

ने इस स्तुति का धारण भगवान् महादेव से किया। अतः यह स्तोत्र ब्रह्मा से शंकर के समीप गाया जाता है इसलिये ब्राह्मण इस स्तोत्र को जाने।

यह शिव सहस्र स्तोत्र पुण्य है, पवित्र है और सदा पापविनाशक है; एवं योग, मोक्ष, स्वर्ग तथा सन्तोष को देने वाला है। इस प्रकार समझ कर अद्वितीय भक्ति के साथ जो मनुष्य कल्याणकारी इस पवित्र स्तोत्र को पढते हैं, वे उस गति को जाते हैं जहां कि सांख्य (ज्ञान) और योगमार्ग वाले पहुँचते हैं। जो शिव-भक्त सावधान होकर शिवजी के पास एक सालतक इस स्तोत्र को पढ़ता है, उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। यह स्तोत्र रूप गूढ़ रहस्य पहले ब्रह्माजी के हृदय में था, उन्होंने इसका उपदेश इन्द्र को दिया, इन्द्र ने यमराज को दिया। यमराज ने रुद्रों से कहा और रुद्रों के द्वारा तंडी मुनि को मिला। इस प्रकार तंडी मुनि ने बड़ी तपस्या के साथ ब्रह्माजी की सभा में इस स्तोत्र को पाया। तंडीपरम्परा के अनुसार सहस्रनामात्मक ब्रह्मविद्यारूप यह स्तोत्र शुक, गौतम और वैवस्वत मनु को मिला एवं अच्युत भगवान् ने समाधिस्थ नारायणरूप

मार्कंडेयान्मया प्राप्तो नियमेन जनार्दन ।
तवाप्यहममित्रघ्न स्तवं दद्यां ह्यविश्रुतम् ॥१८०॥

स्वर्ग्यमारोग्यमायुष्यं धन्यं वेदेन संमितम् ।
नास्य विघ्नं विकुर्वंति दानवा यक्षराक्षसाः ॥१८१॥

पिशाचा यातुधाना वा गुह्यका भुजगा अपि ।
यः पठेत शुचिः पार्थ ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
अभग्नयोगो वर्षं तु सोऽश्वमेघफलं लभेत् ॥१८२॥

यम को दिया। यम ने अपने शिष्य नचिकेता को दिया। नचिकेता ने मार्कण्डेय मुनि को दिया। हे जनार्दन! मार्कण्डेय से मैंने प्राप्त किया है।

हे शत्रुघ्न भगवन्! वेदसम्मत अश्रुतपूर्व स्वर्ग, आयु, आरोग्य तथा धन देने वाले इस स्तोत्र को मैं तुम्हें देता हू। जो इसे पा जाता है, उसे यक्ष, राक्षस, पिशाच, सर्प और यातुधान प्रभृति स्वल्पयोनियां कुछ भी विघ्न-बाधा नहीं पहुंचा सकती हैं।

इस प्रकार जो पवित्र जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी एक साल पर्यन्त इस स्तोत्र का पाठ करता है, वह अखण्डित योगी अश्वमेघ के फलको पाता है॥१८२॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि अनुशासनिकेप० दानधर्मे
महादेवसहस्रनामस्तोत्रे सप्तदशोऽध्यायः ।

अष्टादशोऽध्यायः ।

वैशम्पायन उवाच—

महायोगी ततः प्राह कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
पठस्व पुत्र भद्रं ते प्रीयतां ते महेश्वरः ॥१॥

पुरा पुत्र मया मेरौ तप्यता परमं तपः ।
पुत्रहेतोर्महाराज स्तव एषोऽनुकीर्तितः ॥२॥

लब्धवानीप्सितान्कामानहं वै पाण्डुनन्दन ।
तथा त्वमपि शर्वाद्धि सर्वान्कामानवाप्स्यसि ॥३॥

कपिलश्च ततः प्राह सांख्यर्षिर्देवसंमतः ।
मया जन्मान्यनेकानि भक्त्या चाराधितो भवः ॥४॥
प्रीतश्च भगवान् ज्ञानं ददौ मम भवान्तकम् ।
चारुशीर्षस्ततः प्राह शक्रस्य दयितः सखा ॥५॥

आलंबायन इत्येवं विश्रुतः करुणात्मकः ।
मया गोकर्णमासाद्य तपस्तप्त्वा शतं समाः ॥६॥
अयोनिजानां दान्तानां धर्मज्ञानां सुवर्चसाम् ।
अजराणामदुःखानां शतवर्षसहस्रिणाम् ॥७॥

वैशम्पायन बोले कि इसके अनन्तर महायोगी व्यास मुनि ने कहा कि हे पुत्र युधिष्ठिर! तेरा कल्याण हो, तू स्तोत्र का पाठ कर, तेरे ऊपर महादेवजी प्रसन्न होंगे। पूर्वकाल में मेरुपर्वत पर पुत्र की कामना से कठिन तपस्या करके मैंने भी इसी स्तोत्र का पाठ किया था। हे पाण्डुनन्दन! इसी के प्रताप से मैंने वांछित फल को पाया और इसी प्रकार तुम भी शिवजी से सब मनोरथों को पावोगे। तदनन्तर सांख्यशास्त्र के बनाने वाले देवताओं के मान्य कपिल-ऋषि ने कहा कि मैंने अनेक जन्मों तक सबके उत्पत्तिस्थान परमेश्वर का बड़ी भक्तिपूर्वक पूजनादि किया। तब प्रसन्न होकर भगवान् ने मुझको संसार के बन्धनों को नष्ट करने वाला ज्ञान दिया। इसके बाद इन्द्र के प्यारे मित्र आलम्ब गोत्री महादयावान् चारुशीर्ष ने कहा—हे राजन्! मैंने भी गोकर्ण तीर्थ में सौ वर्ष तक शिवजी की तपस्या करके अयोनिज (जो योनि से न उत्पन्न हुए हों) धर्मज्ञ, महातेजस्वी, जरा रहित, दुःख से विहीन और एक लाख वर्ष की अवस्था वाले सौ पुत्रों को प्राप्त किया था।

वाल्मीकिश्चाह भगवान्युधिष्ठिरमिदं वचः ।
विवादे साग्निमुनिभिर्ब्रह्मघ्नो वै भवानिति ॥८॥
उक्तः क्षणेन चाविष्टस्तेनाधर्मेण भारत ।
सोऽहमीशानमनघममोघं शरणं गतः ॥९॥

मुक्तश्चास्मि ततः पापैस्ततो दुःखविनाशनः ।
आह मां त्रिपुरघ्नो वै यशस्तेऽग्र्यं भविष्यति ॥१०॥
जामदग्न्यश्च कौन्तेयमिदं धर्मभृतां वरः ।
ऋषिमध्ये स्थितः प्राह ज्वलन्निव दिवाकरः ॥११॥
पितृविप्रवधेनाहमार्तो वै पांडवाग्रज ।
शुचिर्भूत्वा महादेवं गतोऽस्मि शरणं नृप ॥१२॥
नामभिश्चास्तुवं देवं ततस्तुष्टोऽभवद्भवः ।
परशुं च ततो देवो दिव्यान्यस्त्राणि चैव मे ॥१३॥
पापं च तेन भविता अजेयश्च भविष्यसि ।
न ते प्रभविता मृत्युरजरश्च भविष्यसि ॥१४॥
आह मां भगवानेवं शिखंडी शिवविग्रहः ।
तदवाप्तं च मे सर्वं प्रसादात्तस्य धीमतः ॥१५॥
विश्वामित्रस्तदोवाच क्षत्रियोऽहं तदाभवम् ।
ब्राह्मणोऽहं भवानीति मया चाराधितो भवः ॥१६॥
तत्प्रसादान्मया प्राप्तं ब्राह्मण्यं दुर्लभं महत् ।
असितो देवलश्चैव प्राह पांडुसुतं नृपम् ॥१७॥
शापाच्छक्रस्य कौन्तेय विभो धर्मोऽनशत्तदा ।
तन्मे धर्मं यशश्चाग्र्यमायुश्चैवाददत्प्रभुः ॥१८॥
ऋषिर्गृत्समदो नाम शक्रस्य दयितः सखा ।
प्राहाजमीढं भगवान् बृहस्पतिसमद्युतिः ॥१९॥
वरिष्ठो नाम भगवांश्चाक्षुषस्य मनोः सुतः ।
शतक्रतोरचिन्त्यस्य सत्रे वर्षसहस्रिके ॥२०॥
वर्तमानेऽब्रवीद्वाक्यं साम्नि ह्युच्चारिते मया ।
रथंतरे द्विजश्रेष्ठ न सम्यगिति वर्तते ॥२१॥

समीक्षस्व पुनर्बुद्धया पापं त्यक्त्वा द्विजोत्तम ।
अयज्ञवाहिनं पापमकार्षीस्त्वं सुदुर्मते ॥२२॥
एवमुक्त्वा महाक्रोधः प्राह शंभुं पुनर्वचः ।
प्रज्ञया रहितो दुःखी नित्यभीतो वनेचरः ॥२३॥

दशवर्षसहस्राणि दशाष्टौ च शतानि च ।
नष्टपानीयपवने मृगैरन्यैश्च वर्जिते ॥२४॥
अयज्ञीयद्रुमे देशे रुरुसिंहनिषेविते ।
भविता त्वं मृगः क्रूरो महादुःखसमन्वितः ॥२५॥

तस्य वाक्यस्य निधने पार्थ जातो ह्यहं मृगः ।
ततो मां शरणं प्राप्तं प्राह योगी महेश्वरः ॥२६॥

अजरश्चामरश्चैव भविता दुःखवर्जितः ।
साम्यं ममास्तु ते सौख्यं युवयोर्वर्धतां क्रतुः ॥२७॥
अनुग्रहानेवमेष करोति भगवान् विभुः ।
परं धाता विधाता च सुखदुःखे च सर्वदा ॥२८॥

अचिन्त्य एष भगवान्कर्मणा मनसा गिरा ।
न मे तात युधिश्रेष्ठ विद्यया पंडितः समः ॥२९॥
वासुदेवस्तदोवाच पुनर्मतिमतां वरः ।
सुवर्णाक्षो महादेवस्तपसा तोषितो मया ॥३०॥
ततोऽथ भगवानाह प्रीतो मां वै युधिष्ठिर ।
अर्थात्प्रियतरः कृष्ण मत्प्रसादाद्भविष्यसि ॥३१॥
अपराजितश्च युद्धेषु तेजश्चैवानलोपमम् ।
एवं सहस्रशश्चान्यान्महादेवो वरं ददौ ॥३२॥

मणिमन्थेऽथ शैले वै पुरा संपूजितो मया ।
वर्षायुतसहस्राणां सहस्रं शतमेव च ॥३३॥
ततो मां भगवान्प्रीत इदं वचनमब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते यस्ते मनसि वर्तते ॥३४॥
ततः प्रणम्य शिरसा इदं वचनमब्रुवम् ।
यदि प्रीतो महादेवो भक्त्या परमया प्रभुः ॥३५॥

नित्यकालं तवेशान भक्तिर्भवतु मे स्थिरा ।
एवमस्त्विति भगवांस्तत्रोक्त्वान्तरधीयत ॥३६॥

जैगीषव्य उवाच—

ममाष्टगुणमैश्वर्यं दत्तं भगवता पुरा ।
यत्नेनान्येन बलिना वाराणस्यां युधिष्ठिर ॥३७॥

गर्ग उवाच—

चतुःषष्ट्यंगमददत्कलाज्ञानं ममाद्भुतम् ।
सरस्वत्यास्तटे तुष्टो मनोयज्ञेन पांडव ॥३८॥
तुल्यं मम सहस्रं तु सुतानां ब्रह्मवादिनाम् ।
आयुश्चैव सपुत्रस्य संवत्सरशतायुतम् ॥३९॥

पराशर उवाच—

प्रसाद्येह पुरा सर्वं मनसाचिन्तयन्नृप ।
महातपा महातेजा महायोगी महायशाः ॥४०॥
वेदव्यासः श्रियावासो ब्राह्मणः करुणान्वितः ।
अप्यसावीप्सितः पुत्रो मम स्याद्वै महेश्वरात् ॥४१॥
इति मत्वा हृदि मतं प्राह मां सुरसत्तमः ।
मयि संभावना यास्याःफलात्कृष्णो भविष्यति ॥४२॥
सावर्णस्य मनोः सर्गे सप्तर्षिश्च भविष्यति ।
वेदानां च स वै वक्ता कुरुवंशकरस्तथा ॥४३॥
इतिहासस्य कर्ता च पुत्रस्ते जगतो हितः ।
भविष्यति महेन्द्रस्य दयितः स महामुनिः ॥४४॥
अजरश्चामरश्चैव पराशर सुतस्तव ।
एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥४५॥
युधिष्ठिर महायोगी वीर्यवानक्षयोऽव्ययः ।

मांडव्य उवाच—

अचौरश्चौरशंकायां शूले भिन्नो ह्यहं तदा ॥४६॥
तत्रस्थेन स्तुतो देवः प्राह मां वै नरेश्वर ।
मोक्षं प्राप्स्यसि शूलाच्च जीविष्यसि समार्बुदम् ॥४७॥

रुजा शूलकृता चैव न ते विप्र भविष्यति ।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव वर्जितस्त्वं भविष्यसि ॥४८॥

पादाच्चतुर्थात्संभूत आत्मा यस्मान् मुने तव ।
त्वं भविष्यस्यनुपमो जंन्म वै सफलं कुरु ॥४६॥
तीर्थाभिषेकं सकलं त्वमविघ्नेन चाप्स्यसि ।
स्वर्गं चैवाक्षयं विप्र विदधामि तवोर्जितम् ॥५०॥
एवमुक्त्वा तु भगवान् वरेण्यो वृषवाहनः ।
महेश्वरो महाराज कृत्तिवासा महाद्युतिः ॥५१॥
सगणो दैवतश्रेष्ठस्तत्रैवान्तरधीयत ।

गालव उवाच :—

विश्वामित्राभ्यनुज्ञातो ह्यहं पितरमागतः ॥५२॥
अब्रवीन्मां ततो माता दुःखिता रुदती भृशम् ।
कौशिकेनाभ्यनुज्ञातं पुत्रं वेदविभूषितम् ॥५३॥

न तात तरुणं दांतं पिता त्वां पश्यतेऽनघ ।
श्रुत्वा जनन्या वचनं निराशो गुरुदर्शने ॥५४॥
नियतात्मा महादेवमपश्यं सोऽब्रवीच्च माम् ।
पिता माता च ते त्वं च पुत्र मृत्युविवर्जिताः ॥५५
भविष्यथ विश क्षिप्रं द्रष्टासि पितरं क्षये ।
अनुज्ञातो भगवता गृहं गत्वा युधिष्ठिर ॥५६॥

अपश्यं पितरं तात इष्टिं कृत्वा विनिःसृतम् ।
उपस्पृश्य गृहीत्वेध्मं कुशांश्च शरणाद्गुरून् ॥५७॥
तान्विसृज्य च मां प्राह पिता सास्राविलेक्षणः ।
प्रणमंतं परिष्वज्य मूर्ध्न्युपाघ्राय पांडव ॥५८॥
दिष्ट्या दृष्टोऽसि मे पुत्र कृतविद्य इहागतः ।

वैशम्पायन उवाच :—

एतान्यत्यद्भुतान्येव कर्माण्यथ महात्मनः ॥५६॥
प्रोक्तानि मुनिभिः श्रुत्वा विस्मयामास पांडवः ।
ततः कृष्णोऽब्रवीद्वाक्यं पुनर्मतिमतां वरः ॥६०॥
युधिष्ठिरं धर्मनिधिं पुरुहूतमिवेश्वरः ।

ासुदेव उवाच :—

उपमन्युर्मयि प्राह तपन्निव दिवाकरः ॥६१॥
अशुभैः पापकर्माणो ये नराः कलुषीकृता ।
ईशानं न प्रपद्यन्ते तमोराजसवृत्तयः ॥६२॥
ईश्वरं संप्रपद्यन्ते द्विजा भावितभावनाः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि यो भक्तः परमेश्वरे ॥६३॥
सदृशोऽरण्यवासीनां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
ब्रह्मत्वं केशवत्वं वा शक्रत्वं वा सुरैः सह ॥६४॥
त्रैलोक्यस्याधिपत्यं वा तुष्टो रुद्रः प्रयच्छति ।
मनसापि शिवं तात ये प्रपद्यंति मानवाः ॥६५॥
विधूय सर्वपापानि देवैः सह वसंति ते ।
सर्वलक्षणहीनोऽपि युक्तो वा सर्वपातकैः ॥६६॥
सर्वं नुदति तत्पापं भावयञ्छिवमात्मना ।
कीटपक्षिपतंगानां तिरश्चामपि केशव ॥६७॥
महादेवप्रपन्नानां न भयं विद्यते क्वचित् ।
एवमेव महादेवं भक्ता ये मानवा भुवि ॥६८॥
न ते संसारवशगा इति मे निश्चिता मतिः ।
ततः कृष्णोऽब्रवीद्वाक्यं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥६९॥

विष्णुरुवाच :—

आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च द्यौर्भूमिरापो वसवोऽथ विश्वे ।
धातार्यमा शुक्रबृहस्पती च रुद्राः ससाध्या वरुणोऽथ गोपः ॥७०
ब्रह्मा शक्रो मारुतो ब्रह्म सत्यं वेदा यज्ञा दक्षिणा वेदवाहाः ।
सोमो यष्टा यच्च हव्यं हविश्च रक्षादीक्षा संयमा ये च केचित् ॥७१
स्वाहा वौषट् ब्राह्मणाः सौरभेयी धर्मं चाग्र्यं कालचक्रं बलं च ।
यशो दमो बुद्धिमतां स्थितिश्च शुभाशुभं ये मुनयश्च सप्त ॥७२
अग्र्या बुद्धिर्मनसा दर्शने च स्पर्शश्चाग्र्यः कर्मणां या च सिद्धिः ।
गणा देवानामूष्मपाः सोमपाश्च लेखाः सुयामास्तुपिता ब्रह्मकायाः ॥७३॥

आभासुरा गन्धपा दृष्टिपाश्च वाचा विरुद्धाश्च मनोविरुद्धाः ।
शुद्धाश्च निर्माणरताश्च देवाः स्पर्शाशिना दर्शपा आज्यपाश्च ॥७४॥

चिन्त्यद्योता ये च देवेषु मुख्या ये चाप्यन्ये देवताश्चाजमीढ ।
सुपर्णगन्धर्वपिशाचदानवा यक्षास्तथा चारणपन्नगाश्च ॥७५॥

स्थूलं सूक्ष्मं मृदु चाप्यसूक्ष्मं दुःखं सुखं दुःखमनन्तरं च ।
सांख्यं योगं तत्पराणां परं च शर्वाज्जातं विद्धि यत्कीर्तितं मे ॥७६॥

तत्संभूता भूतकृतो वरेण्याः सर्वे देवा भुवनस्यास्य गोपाः ।
आविश्येमां धरणीं येऽभ्यरक्षन्पुरातनीं तस्य देवस्य सृष्टिम् ॥७७॥

विचिन्वन्तस्तपसा 'तत्स्थवीयः किंचित्तत्त्वं प्राणहेतोर्नतोऽस्मि ।
ददातु देवः स वरानिहेष्टानाभिष्टुतो नः प्रभुरव्ययः सदा ॥७८॥

इमं स्तवं संनियतेन्द्रियश्च भूत्वा शुचिर्यः पुरुषः पठेत ।
अभग्नयोगो नियतो मासमेकं संप्राप्नुयादश्वमेधे फलं यत् ॥७९॥

वेदान् कृत्स्नान् ब्राह्मणः प्राप्नुयात्तु जयेन्नृपः पार्थ महीं च कृत्स्नाम् ।
वैश्यो लाभं प्राप्नुयान्नैपुणं च शूद्रो गतिं प्रेत्य तथा सुखं च ॥८०॥

स्तवराजमिमं कृत्वा रुद्राय दधिरे मनः ।
सर्वदोषापहं पुण्यं पवित्रं च यशस्विनः ॥८१॥

यावंत्यस्य शरीरेषु रोमकूपाणि भारत ।
तावंत्यब्दसहस्राणि स्वर्गे वसति मानवः ॥८२॥

इत्यनुशासनपर्वणि आनुशासनिकपर्वणि मेघवाहनोपाख्याने
अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

भगवन्नाम स्मरण की महिमा

आजकल नाम जपने पर बहुत जोर दिया जाता है। आप सब लोग भी भगवन्नाम के जप और कीर्तन में ही लगे हुए हैं; किन्तु आप यह तो बतलाइए कि नाम जप क्यों करना चाहिये ? इससे क्या लाभ ? लोग कहते हैं, भगवान् का नाम लेने से पाप कटते हैं परन्तु इसमें युक्ति क्या है ? आप में से कोई भी इसका उत्तर दें ? बात यह है कि हम जिस समय किसी वस्तु का नाम लेते हैं तो तत्काल हमें उसकी आकृति और गुण आदि का स्मरण हो आता है। जब हम कसाई शब्द का उच्चारण करते हैं तो हमारे मानसिक नेत्रों के सामने एक ऐसे व्यक्ति का चित्र अङ्कित हो जाता है जिसकी लाल-लाल आँखें हैं, काला शरीर है, हाथ में छुरा है और बड़ा क्रूर स्वभाव है। वेश्या कहते ही हमारे हृदय पटल पर वेश्या की मूर्ति अंकित हो जाती है। इसी प्रकार जब हम भगवान् का नाम लेते हैं तो सहसा हमारे चित्त में भगवान् के दिव्य रूप और गुणों की स्मृति जागृत हो जाती है। भगवन्नाम स्मरण से चित्त अनायास ही भगवदाकार हो जाता है। भगवदाकार चित्त में भला पाप-ताप के लिये गुंजाइश ही कहाँ है ? इसीलिये नाम स्मरण पापनाश की अमोघ औषधि है।

बिना जाने भगवान् का नाम लेने से भी किस प्रकार पाप नष्ट हो जाते हैं, इसके विषय में श्रीमद्भागवत के छठे स्कंध में एक बड़ी अद्भुत कथा है। अजामिल नाम का एक बड़ा ही दुराचारी और दुष्ट प्रवृत्ति का ब्राह्मण था। उसके सबसे छोटे पुत्र का नाम नारायण था। जब उस अजामिल का अन्तकाल आया तब उसे लेने के लिये यमदूत आये। उनके भयंकर रूप को देखकर अजामिल डर गया और उसने नारायण कहकर अपने छोटे पुत्र को पुकारा। उसके मुख से नारायण शब्द निकलते ही वहाँ विष्णु भगवान् के पार्षद उपस्थित हो गये। उन्होंने तुरन्त ही उसे यमदूतों के पाश से छुड़ा लिया। जब यमदूतों ने उसके पापमय जीवन का वर्णन करते हुए यमदंड का पात्र बतलाया तब भगवान् के पार्षदों ने उनके कथन का विरोध करते हुए कहा :—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि ।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ॥
एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् ।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् ॥

(गीतावाटिका, गोरखपुर में महाराज पधारे, अखण्डकीर्तन हुआ, उसके पश्चात् यह उपदेश दिया गया था)

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥

श्रीमद्भागवत ६।२।९,८,१०

इसने तो अपने करोड़ों जन्मों के पापों का प्रायश्चित कर दिया क्योंकि इस समय इसने विवश होकर भगवान् का मंगलमय नाम उच्चारण किया है। इसने जो 'नारायण' यह चार अक्षरों का नाम उच्चारण किया है, इतने से ही इस पापी के समस्त पापों का प्रायश्चित्त हो गया। समस्त पापियों के लिये भगवान् विष्णु का नाम लेना ही सबसे अच्छा प्रायश्चित्त है; क्योंकि ऐसा करने से भगवद्विषयक बुद्धि होती है।

विष्णु दूतों के इस प्रकार समझाने पर यमराज के सेवक यमलोक को चले गये और वहाँ ये सब बातें धर्मराज को सुनाकर, उन्होंने उनसे पूछा— महाराज! इस लोक में धर्माधर्म का शासन करने वाले कितने अधिकारी हैं और हमें किसकी आज्ञा में रहना चाहिये। भला ये दिव्य पुरुष कौन थे और उस महापापी को हमारे पाश से छुड़ाकर क्यों ले गये? तब यमराज ने कहा— "परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम्" इत्यादि अर्थात् मेरे भी ऊपर एक और स्वामी है जो समस्त स्थावर जंगम का शासक है और उससे यह संपूर्ण जगत् ओतप्रोत है। उस सर्वतंत्र स्वतंत्र श्रीहरि के दूत जो उन्हीं के समान रूप और गुणवाले हैं, लोक में विचरते रहते हैं और श्रीहरि के भक्तों को, उनके शत्रु और मृत्यु आदि सब प्रकार की आपत्तियों से बचाते रहते हैं। संसार में मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म यही है कि नाम जपादि द्वारा भगवान् के चरणों में भक्ति करे। देखो यह भगवन्नामोच्चारण का ही माहात्म्य है कि अजामिल जैसा पापी भी मृत्यु के पाश से मुक्त हो गया।

महाभारत, शान्तिपर्व की कथा है कि जिस समय शरशय्या पर पड़े हुए भीष्मपितामह से युधिष्ठिर ने पूछा :—

को धर्मः सर्व धर्माणां भवतः परमो मतः ।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ॥

संपूर्ण धर्मों में आपके विचार से कौन-सा धर्म सर्वश्रेष्ठ है और मनुष्य किसका जप करने से जन्ममरण रूपी संसार से मुक्त हो जाता है। तब पितामह ने कहा :—

जगत्प्रभं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नामसहस्त्रेण पुरुषः सततोत्थितः ॥
तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम् ।
ध्यायंस्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च ॥

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्व दुःखातिगो भवेत् ॥

ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥

एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्तया पुंडरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥

परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद् ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥

पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलं ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिताः ॥

विष्णुसहस्र ४,१० ।

जो संपूर्ण संसार के स्वामी, देवों के देव, अनन्त एवं पुरुषोत्तम हैं, उन आदि-अंत से रहित संपूर्ण लोकों के महान् ईश्वर और सब के साक्षी भगवान् अच्युत की नित्य प्रति उठकर हजार नामों से स्तुति करने से तथा उन अविनाशो पुरुषोत्तम का ही भक्तिपूर्वक पूजन, ध्यान, स्तवन और वन्दन करने से मनुष्य संपूर्ण दुःखों से पार हो जाता है। वे श्री विष्णु ब्राह्मणों के हितकारी, समस्त धर्मों के ज्ञाता, लोकों की कीर्ति को बढ़ाने वाले, लोकों के स्वामी, महद्भूत और संपूर्ण भूतों के उत्पत्तिस्थान हैं। मेरे विचार से मनुष्य के संपूर्ण धर्मों में सबसे बड़ा धर्म यही है कि जो अत्युत्कृष्ट तेज, अतिमहान् तप, परमोत्कृष्ट ब्रह्म और बड़े से बड़े आश्रय हैं; तथा जो पवित्रों में पवित्र, मंगलों में मंगल, देवों में महान् देव और समस्त भूतों के अविनाशी पिता हैं, उन कमलनयन भगवान् का मनुष्य सर्वदा भक्तिपूर्वक स्तवन करे।

इस प्रकार भीष्म जी ने भगवान् को ही सबसे अधिक पूजनीय देव और भगवन्नाम स्मरण को ही सबसे बड़ा धर्म और तप बतलाया है। भगवन्नाम की महिमा ऐसी ही विचित्र है। इसके उच्चारणमात्र से ग्रह-नक्षत्र एवं दिक्शूलादि के दोष निवृत्त हो जाते हैं। मैंने अपनी माता से यह वर मांगा था कि मुझे प्रायः नित्य ही बाहर आना जाना होता है इसलिये ऐसा आशीर्वाद दो जिससे ग्रहदोपजनित विघ्न उपस्थित न हों। तो मेरी माता ने मुझसे कहा—तू यात्रा आरंभ करने से पूर्व 'नारायण' इस नाम का उच्चारण कर लिया कर फिर कोई विघ्न नहीं होगा। माता जी के इस आशीर्वाद से मुझे इसका प्रत्यक्ष अनुभव है, मैं जिस समय 'नारायण' इस प्रकार का उच्चारण करके यात्रा आरंभ करता हूँ तो सारे विघ्न दूर हो जाते हैं।

यही बात श्रीमद्भागवत के नारायणकवच नामक प्रसिद्ध स्तोत्र में भी बतलायी गई है। यह स्तोत्र भी भागवत के छठे स्कन्ध में ही है। वहाँ कहा है—

> यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च।
> सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योऽंहोभ्य एव च॥
> सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपास्त्र गीर्तनात्।
> प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयः प्रतीपकाः॥

ग्रह, नक्षत्र, मनुष्य, सरीसृप, हिंस्र जीव अथवा पापों से हमें जो भय प्राप्त हो सकते हैं तथा हमारे श्रेय मार्ग के जो-जो प्रतिबन्ध हैं, वे इस भगवन्नामरूप अस्त्र (कवच) का कीर्तन करने से क्षीण हो जाँय।

भगवन्नाम लेने से मनुष्य के सारे पाप उसी प्रकार कट जाते हैं जैसे दूध डालने से चीनी का मैल कट जाता है। नाम का प्रभाव हमारे चित्त को सर्वथा व्याप्त कर लेता है। जिस प्रकार जल में तेल की एक बूंद डालने पर भी वह सारे जल के ऊपर फैलकर उसे ढक लेती है उसी प्रकार अर्थानुसंधान पूर्वक किया हुआ थोड़ा-सा भी नाम जप मनुष्य के सारे पापों को नष्ट कर देता है। अतः भगवन्नाम जप से तथा स्मरण से समस्त पापों का नाश होकर दिव्य शान्ति प्राप्त होती है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

गीता प्रवचन

(१)

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो ।
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ॥
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः ।
सोऽयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥
नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
अखंडमंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥
यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥

काशी विश्वविद्यालय के इस मास में खुलने के उपरान्त आप लोगों से मिलने का यह पहला अवसर मिला है। इसके लिये परमात्मा को धन्यवाद है। मेरा विश्वास है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कार्यक्रम में साप्ताहिक गीता प्रवचन का प्रबन्ध अन्य विषयों के पठन-पाठन से कम गौरव का नहीं है, बल्कि सबसे अधिक गौरव का है। यह हमारे कल्याण का साधन है। जिन विद्यार्थी और अध्यापकों का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बन्ध हो उनके लिये यह आवश्यक है कि इसमें सम्मिलित होकर इसका पुण्यफल पावें।

गीता संसार का एक अनमोल रत्न है और उसके एक-एक अध्याय में कितने-कितने रत्न भरे पड़े हैं। इसके पद-पद और अक्षर-अक्षर से अमृत की धारा बहती है। गीता पढ़ने का बड़ा माहात्म्य कहा गया है।

गीता शास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागंगोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

जो मनुष्य इस पवित्र गीता शास्त्र को शुद्ध और पवित्र होकर पढ़ता है; वह भय और शोकरहित विष्णु लोक को प्राप्त होता है।

गीताध्ययन करनेवाले तथा प्राणायाम करनेवाले को पूर्व जन्म में किये हुए पापों का फल नहीं लगता है। प्रतिदिन जल स्नान करनेवाले मनुष्य का बाहरी मल धुल जाता है; किन्तु गीतारूपी जल मे एक बार के ही स्नानमात्र से संसार रूपी मल नष्ट हो जाता है। सब शास्त्रों को छोड़कर गीता का ही भलीभाँति गायन करना चाहिए जो कि स्वयं भगवान् के मुँह से निकली हुई है।

महाभारत रूपी अमृत का सार विष्णु भगवान् के मुँह से निकला है, वह गीता रूपी अमृत पीने से फिर जन्म नहीं लेना पड़ता है।
गीता के लिये कहा है :—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत् ॥

अर्थात् सब उनिषद् तो गौ हैं, उनको दुहनेवाले गोपालनन्दन कृष्ण हैं, अर्जुन बछड़े हैं, बुद्धिमान् लोग दूध पीनेवाले हैं और गीता ही अमृतमय दुग्ध है। इसके अध्ययन और पठनका भी बड़ा महत्व बताया है।

योऽष्टादश जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम् ॥
पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे ततोर्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥
एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥
अध्यायं श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः ।
स याति नरतां यावन्मन्वन्तरं वसुन्धरे ॥
गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पंच चतुष्टयम् ।
द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ॥

चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् ।
गीतापाठ समायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ॥

अर्थात् जो मनुष्य एक चित्त होकर अठारह अध्याय नित्य जपता है, वह ज्ञान सिद्धि प्राप्त करता है और उसे परमपद मिल जाता है।

जो पूरा पाठ न कर सके वह आधा ही पाठ करे, उसको भी निःसन्देह गो-दान का पुण्य प्राप्त होता है। जो नित्य भक्ति के साथ एक अध्याय भी पढ़ता है, वह चिरकाल तक गण होकर रुद्रलोक में वास करता है।

जो मनुष्य एक अध्याय या गीता के श्लोक के एक टुकड़े को भी पढ़ता है, वह पृथिवी पर मन्वन्तर पर्यन्त मनुष्य शरीर धारण करता है। गीता के दश, सात, पाँच, चार, दो, तीन, एक अथवा आधा श्लोक भी जो पढ़ता है; वह निश्चय दश हजार वर्ष तक चन्द्रलोक में निवास करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जितना भी बन सके उतना गीता का पाठ करना चाहिए। प्रातः स्नान करके गीता का पाठ कर चुकने पर यह विचार करो कि हमें क्या करना चाहिये ? जैसे अँधेरे में लालटेन हमें प्रकाश देती है और हमें ठीक मार्ग बताती है; ठीक उसी प्रकार गीता भी हमें कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान कराती है। यह हमें आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों का ऊँचे से ऊँचा उपदेश देती है।

संसार में जितने नगर और गाँव हैं, वहाँ प्रति सप्ताह सब लोगों को मिलकर गीतापाठ करना चाहिए। मैं समझता हूं कि आप लोग इसमें अवश्य सहयोग देंगे; क्योंकि इस गीता-प्रचार की भावना का मूल हिन्दू विश्वविद्यालय है। यहाँ अनेक साधु, महात्मा और विद्वान् रहते हैं। यहाँ देशभर के विद्यार्थी पढ़ने के लिये आते हैं। इनका कर्तव्य है कि ये लोग गीता का अध्ययन करके देशभर में उसका प्रचार करें। उसका एक सरल उपाय यह है कि प्रति रविवार को जो समय निश्चित है, उस समय यहाँ आकर अध्ययन करें या सुनें।

मैं आपको बताता हूँ कि गीता सुनाने का क्या कारण था और यह कहाँ कही गई ? यह उस रणक्षेत्र में कही गई जहाँ एक ओर ग्यारह अक्षौहिणी सेना खड़ी थी और दूसरी ओर सात अक्षौहिणी। उस युद्ध के पहले स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण दूत बनकर दुर्योधन के पास पाँचों पाण्डवों के लिए पाँच गाँव माँगने गए। किन्तु दुर्योधन ने साफ कह दिया कि बिना युद्ध के सुई की नोक के बराबर भी जमीन नहीं दूँगा। यह सन्देश कृष्ण जी ने अपनी बुआ कुन्ती को जाकर सुनाया। उसने उत्तर दिया कि जाकर पाण्डवों को कह दो कि जिस दिन के लिये क्षत्राणी ने जन्म दिया था, वह समय आ गया और साथ-साथ

कुन्ती ने विदुला की कथा सुना दी। यह उपदेश लेकर कृष्ण पाण्डवों के पास गए और युद्ध की तैयारी हो गई। जब दोनों फौज सजकर खड़ी हो गई तो दोनों ओर से गम्भीर शंखनाद हुआ। उस समय दोनों सेना के बीच में खड़ा हुआ अर्जुन अपने विपक्ष में अपने सम्बन्धियों को देखकर अत्यन्त दुखी हुआ। उस दशा में कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया। अर्जुन की दुर्बलता देखकर भगवान् कृष्ण डाँटकर बोले :—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

अर्थात्, यह कैसे बेमौके तेरे मन में दुर्बलता आ गई है? यह तो अनार्यों के योग्य, नरक में ले जानेवाला तथा अपयश देनेवाला कार्य है। हे अर्जुन! यह नपुंसकता मत दिखाओ और यह तुच्छ हृदय की दुर्बलता को छोड़कर युद्ध के लिये तैयार हो जाओ। यह वचन मृदङ्ग की थाप के समान कृष्ण के मुँह से निकले। अर्जुन की जब सब शंकाएँ निवृत्त हो गईं, तब वह बोला :—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

आप लोगों को स्मरण रखना चाहिए कि उस गीता को सुननेवाला था अर्जुन, जिसके समान कृष्ण को छोड़कर और दूसरा संसार में कोई वीर न था। जिसके विषय में चित्ररथ गंधर्व ने कहा था :—

ब्रह्मचर्यस्थितो धर्मः स चापि नियतस्त्वयि ।
तेनाहं निर्जितः पार्थ रणेऽस्मिन्निहतस्त्वया ॥

अर्थात्, हे अर्जुन! ब्रह्मचर्य के कारण ही तुमने मुझे हराया। ऐसे अर्जुन को भगवान् ने गीता सुनाई। संसार में श्रीकृष्ण के समान कोई भी पुरुष नहीं है। उनके वर्णन के लिये भी बहुत विद्या और बुद्धि चाहिए। उनके लिये कहा है कि उनके समान सुन्दर और वीर त्रिलोक मे कोई नहीं है। वे बड़े सत्य-प्रतिज्ञ थे। जिस समय द्रौपदी ने कृष्ण को दूत रूप मे जाते हुए देखा तो उसने कहा—भैया! याद रखना—एक स्त्री थी, बहुत से दुष्ट उसके बाल खींचकर सभा में लाये थे। तुम उन्हीं से सन्धि करने जा रहे हो। मेरे बालों को न भूलना।

तब कृष्ण बोले :—

चलेद्धि हिमवान् शैलो मेदिनी शतधा भवेत् ।
द्यौः पतेच सनक्षत्रा न मेऽमोघो वचो भवेत् ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे वाष्पो निगृह्यताम् ।
हतामित्रान् श्रियायुक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन् ॥

हे द्रौपदी ! चाहे हिमालय पर्वत चलने लगे, पृथिवी सौ टुकड़े हो जाय; आकाश भी नक्षत्रों सहित गिर पड़े, किन्तु मेरा वचन असत्य नहीं हो सकता है।

हे द्रौपदी ! मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूं कि तेरे पति के सब शत्रु मारे जायेंगे और तेरे पति श्रीयुक्त हो जायेंगे। तू अपने आसुओं को रोक।

इसके अतिरिक्त श्री कृष्ण भगवान् ने अपने विषय में कहा है :—

नाहं कामान्न संरम्भान्नद्वेषान्नार्थकारणात् ।
न हेतुवादाल्लोभाद्वा धर्मं जह्यां कथंचन ॥

अर्थात्, मैं धर्म को क्रोध, इच्छा, द्वेष, धन, लोभ और तर्कवाद से भी कभी नहीं छोड़ना चाहता हूँ।

आज मैं आप लोगों को इतना ही ध्यान दिलाना चाहता हूँ। 'अगले सप्ताह में आपको दूसरे अध्याय का बड़ा उपदेश मिलेगा। गीता को सारे संसार ने अनमोल रत्न माना है।

अब तो संसार में सब जगह इसका प्रचार हो गया है। आप लोगों का धर्म है कि इसकी रक्षा और प्रचार करें। बस यही प्रार्थना है।

---

(२)

हिन्दू विश्वविद्यालय का नया वर्ष आरंभ हो रहा है। आज प्रातःकाल का समय है, कैसा अच्छा मुहूर्त है। अभी गायनाचार्य जी ने भैरव राग सुनाया है। इस शुभ मुहूर्त में पहला मगल कार्य गीताप्रवचन से आरंभ हो रहा है। इस विश्वविद्यालय की यही विशेषता है कि यहाँ (दूसरे विश्वविद्यालयों की अपेक्षा) धर्म का विचार भी किया जाता है। दूसरे विश्वविद्यालयों में जो विषय पढ़ाये जाते हैं, उनका भी पठन-पाठन यहाँ होता है; किन्तु धर्म की ओर उनका ध्यान नहीं, यह विशेषता सिर्फ इस विश्वविद्यालय में है। हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों ने अमूल्य निधि हमें सौंप दी है। उसके द्वारा अपना जीवन हम उज्ज्वल बना सकते हैं। उनकी संपत्ति से हम इस लोक में आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

दूसरे कालेजों के छात्रों को ऐसा उपदेश नहीं मिलता कि संसार में हम कैसा व्यवहार करें, कैसा आचरण बनावें ? यह शिक्षा पाठ्य विषयों के अति-

सनातनधर्म, साप्ताहिक मुखपत्र, वर्ष ३, अंक ५१, पृ० ३-४, १२ जुलाई १९३६ (पूज्य मालवीय जी का गीताप्रवचन)।

रिक (खास लेक्चरों को छोड़कर) दी जाती है। यह आदर्श कार्य हिन्दू विश्वविद्यालय में है। हम लोग सांसारिक काम करते हैं। नियम करो कि प्रत्येक सप्ताह में डेढ़ घंटा धर्म के लिये छोड़ दोगे। मैं यही गुरु-दक्षिणा मांगता हूँ, इसके बदले में मुझसे सर्वस्व ले लो। जैसे कोई वैश्वदेव को बलि देता है, प्यासे को पानी देता है, उसी तरह मुझे डेढ़ घंटा दे दो (किसी तरह डेढ़ घंटा निकाल दो) और उस श्रद्धापूर्ण अवसर का अनंत लाभ उठा लो। मैं नहीं चाहता कि हाजिरी के डर से गीताप्रवचन में आओ या किसी के दबाव से आओ किन्तु प्रेम से इस शुभ अवसर पर लाभ उठाओ। जिससे आजीवन आनंद प्राप्त करते रहो। डेढ़ घटा बहुत कम है, इसे कई व्यक्ति व्यर्थ की बातें करने में उठा देते हैं। उस समय मे मैं अमूल्य निधि देना चाहता हूँ।

हम नियम से नित्य भोजन करते हैं। दो तीन बार भोजन का ध्यान रखते हैं, इसी तरह हमे उचित है कि धर्म का भी ध्यान रहे। हिन्दू विश्वविद्यालय का कानून (एक्ट) है कि यहाँ धार्मिक शिक्षा से छात्र लाभ उठावें। वे भय से नहीं किन्तु प्रेम से धर्म काम करें। हिन्दू विश्वविद्यालय माता है। इस माता को डेढ़ घटा भेंट कर दो और इस संस्था के धार्मिक उत्सवों से, गीता प्रवचन से शिक्षा लो और देख लो कि इससे जीवन में कितना परिवर्तन हो जाता है। केवल इस विश्वविद्यालय में विद्या पढ़ना ही नहीं है, इसी के साथ-साथ चरित्र बनाना है। ज्ञान और चरित्र दोनों का मेल कर देने से ससार में मान होगा, गौरव प्राप्त होगा।

प्रह्लाद ने अपने साथी बालकों को बचपन में धर्म पालन की शिक्षा दी थी इसका पालन जवानी मे नहीं, वृद्ध होंगे तब पालन कर लेंगे—ऐसा विचार त्याग दें और कौमार अवस्था में धार्मिक शिक्षा की नींव पर जीवन की भित्ति खड़ी कर दें। "कौमारे आचरेत् धर्मम्" और धर्म भावना आजीवन बनालें। मनुष्य जीवन अन्य जीवों से विशेषता रखता है। दूसरे प्राणी, (पशु, पक्षी, हाथी, घोड़ा, कुत्ते आदि) भी इन्द्रियों का सुख पाते हैं। उनमें और मनुष्य में सब गुण समान होते हैं, वे हम लोगों की तरह भोजन प्रेमी हैं, वे सोते हैं, आराम करते हैं, किन्तु उनमें विवेक बुद्धि या धर्म भावना नहीं है, (मछली मछली को खाती है, एक पशु दूसरे का शिकार करता है। उन प्राणियों में विचार नहीं) मनुष्य का विवेक उसे उच्च बना देता है।

देखा जाता है कि चोरी कम होती है, पाप कम होता है। हजारों मकान खुले रहते हें, हजारों झोपड़ी हैं, जहाँ धर्म के काम न्याय, सत्य, दयाभाव और शान्ति की मात्रा पाई जाती है। बुराई कम और भलाई अधिक होती है। पाप थोड़ा और पुण्य अधिक पाया जाता है। दुर्गुणों की अपेक्षा शुभ गुणों की गणना ससार मे अधिक मिलती है। देखा जाय तो ससार भर के मानव समुदाय मे न्याय, शान्ति (भरोसा), विश्वास अधिक मात्रा में मिलेगा।

किसान का कितना बड़ा खेत (लगा) रहता है, उसमें से बहुत कम चोरी होती है। बहुत कम धान्य की खराबी होती है और अधिक अन्न प्राप्ति से कितने मनुष्यों का पालन होता है। गाँव का मेहतर यदि सत्य बोलता है तो उसका आदर होता है और यदि कोई पंडित है पर झूठ बोलता है तो उसकी निन्दा होती है। (९८° गर्मी अधिक मनुष्यों में रहती है और इससे ज्यादा थोड़े व्यक्तियों में पाई जाती है।) घरों में स्त्रियाँ अकेली रहती हैं, उनके साथ न्याय सब करते हैं। थोड़े घर होंगे जहाँ कोई दुष्ट अन्याय करता हो। मनुष्यों में आहार-निद्रा आदि विषय सब प्राणियों की तरह होते हैं किंतु धर्म की विशेषता मनुष्य में अधिक है। मनुष्य में विवेक है जो उसे उच्च बना देता है। थोड़े व्यक्ति हैं जिन्हें देखा जाता है कि अधर्म से सांसारिक सुख पा रहे हैं परन्तु उनका परिणाम अच्छा नहीं होता। उन्हें अधर्म से शांति नहीं मिलती। उनका अन्तःकरण मलीन हो जाता है और आत्मग्लानि से उन्हें पीड़ित होना पड़ता है। (आत्मा टूट जाती है) वे पाप का बुरा फल अवश्य पाते हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय में शरीर शिक्षा और धर्म शिक्षा दोनों अनिवार्य हैं। इन दोनों का मेल गङ्गा-यमुना की तरह होना जरूरी है। ब्रह्मचर्य का पालन कर शरीर दृढ़ (बनाओ) और चरित्र रक्षा करो पर स्त्री पर कभी कुदृष्टि न डालो।

परनारी पैनी छुरी ताहि न दीजै दीठ।

मातृवत् परदारेषु

दूसरी स्त्री पर माता का भाव रखना चाहिए। जो स्त्री अवस्था में बड़ी हो वह मातावत् है, जो बराबरी की है वह बहन तुल्य है और जो छोटी है उसे पुत्रीवत् मानो। शारीरिक बल की शक्ति ब्रह्मचर्य व्रत पालने से प्राप्त होती है। गंधर्व ने अर्जुन से कहा था कि तुम ब्रह्मचारी हो इससे मैं जीत न सका। गाड़ी में दो बैलों के आगे (ब्रह्मचारी) नटवा रहता है जो चढ़ाव पर अपनी शक्ति से गाड़ी को खींच ले जाता है।

जो छात्र विवाहित हैं वे यहाँ ब्रह्मचारी बनें। उनका रहन-सहन, आचार-व्यवहार लक्ष्मण की तरह हो। लक्ष्मण ने चौदह वर्ष ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया उसी से वे मेघनाद का वध कर सके। उसी तरह विवाहित छात्र अपनी धर्मपत्नी को छोड़कर अन्य स्त्रियों को मातावत् देखें। इसी ब्रह्मचर्य-व्रत पालन से मनुष्य ऊपर उठता है। ऐसा न करे कि अपना जीवन नीचे गिरे।

वेदव्यास जी का अवतार चौबीस अवतारों में से एक है। अवतार का तात्पर्य है कि परमात्मा का विशेष तेज जिस व्यक्ति में अधिक हो। वेदव्यासजी ने गीता की रचना की है। (उन्होंने इसका विस्तार से वर्णन कर दिया है)। और उसमें महाभारत का सारांश (गीता में) रख अमृत भर दिया है। उन्हीं व्यासजी ने गीता के आरम्भ में धर्म क्षेत्र और अन्त में धर्म की पुट दी है।

ससार मे सब पदार्थ बदलते रहते हैं, सुख-दुःख होते रहते हैं, किन्तु धर्म नित्य है, धर्म कभी नहीं बदलता। यदि प्राण भी जाता है तो भी धर्म न त्यागे। धर्म की महिमा हमारे प्राचीन ग्रन्थों मे भरी हुई है। पुराणों में अनेक धर्म-कथाएँ हैं। वाल्मीकि रामायण और महाभारत मे धर्म का स्वरूप खींच दिया है। इन दो ग्रन्थों को जिसने पढ़ा है, उसने जीवन का लाभ उठाया है। ससार में इन दो ग्रन्थों से बढ़कर कोई ग्रन्थ नहीं है। व्यासजी ने महाभारत मे अमृत भर दिया है। व्यासजी ने यह अमृत मनुष्य मात्र के लिये सौंप दिया है, जैसे माता बच्चों को दूध दे देती है।

महाभारत की क्या महिमा है, इसे वर्णन करना कठिन है। इसे पचम वेद कहा है। जो महाभारत का पाठ करता है, वह वेद पाठ का लाभ उठाता है। यदि एक श्लोक भी पढ़ लेता है तो भी उसे कुछ न कुछ आनन्द अवश्य मिलता है। मनुष्य का धर्म है कि गगा स्नान, हर या हरि की पूजा और महाभारत का पाठ करे। इन तीन कामों को जो करता है वह अपने जीवन को सफल करता है। पूरा ज्ञान या मोक्षज्ञान महाभारत मे भर दिया है अध्यात्म शक्ति के साथ-साथ सांसारिक व्यवहार महाभारत से मिलता है। शान्ति पर्व, वनपर्व आदि मे सांसारिक व्यवहार देखो।

भीष्मपितामह शरशय्या पर पड़े थे। उन्होंने ब्रह्मचर्य और पितृभक्ति के कारण मृत्यु जीत ली थी। उनके पास भगवान् कृष्ण ने युधिष्ठिर को भेजा कि धर्म सीख आओ। यदि भीष्म से शिक्षा न ली तो फिर ससार मे कोई व्यक्ति नहीं जो धर्म शिक्षा दे सके। युधिष्ठिर भीष्म के सम्मुख जाने मे सकोच करते थे, किन्तु भगवान् ने ले जाकर भीष्म पितामह से कहा कि युधिष्ठिर धर्म शिक्षा पूछना चाहते हैं। भीष्म ने भगवान् से कहा कि मुझमे अब शक्ति नहीं, मृत्यु शय्या पर पड़ा हूँ। आपके रहते मैं क्या शिक्षा दूँ? तब कृष्ण भगवान् की कृपा से भीष्म शक्तिशाली हो गए। उनका चित्त प्रसन्न हो गया और भगवान् ने कहा कि मुझे उपदेश देने की जरूरत नहीं मुझे यश नहीं चाहिए, मैं तो सबमे व्याप्त हूँ। तुम्हारा यश ससार मे फैले और ससार तुम्हारा अनुकरण करे। तुम्हारे वचन वेदवत् माने जावें। भगवान् कृष्ण की आज्ञा से भीष्म पितामह ने राजधर्म का पहला उपदेश दिया। राजधर्म पर सब धर्म अवलम्बित हैं।

महाभारत मे गांधारी की वीरता, कुन्ती की धीरता, विदुर की नीति, वासुदेव का माहात्म्य, पाण्डवों की सत्यता आदि अनेक उपदेश भरे हैं। गांधारी कैसी पतिव्रता थी जिसने पति के अन्धे होने से आजन्म आखों पर पट्टी बाँधी। एक बार अपने पुत्र को देखा। दुर्योधन से कहा कि मेरे सामने नच्चे की तरह खड़ा हो जाय तो मेरी दृष्टि जिस जिस अग पर पड़ेगी उस-उस अग पर शस्त्र का भय न रहेगा। किन्तु दुर्योधन लगोटी लगाकर माता के

सामने आया इसीसे भीम ने गदा कमर में मारी और दुर्योधन की मृत्यु हुई। हर एक छात्र महाभारत के अध्यायों को पढ़े और उसके अमूल्य उपदेशों का लाभ उठावें। वे अधिक न पढ़ सकें तो उस महाभारत का सारांश गीता का पाठ करें। गीता में उन्हीं कृष्ण भगवान् ने उपदेश दिया जिन्होंने सत्य का, धर्म का पक्ष लिया। सब जानते हैं कि राज्य के कारण कौरव-पाण्डवों का झगड़ा हुआ। यद्यपि अन्धे धृतराष्ट्र के पुत्रों को राज्य करने का अधिकार न था पर उन्होंने अन्याय किया। पाण्डवों को राज्य से निकाल दिया। कृष्ण भगवान् ने पांच गाँव माँगे पर दुर्योधन ने सुई की नोक बराबर जगह न दी।

ऐसी स्थिति में कृष्ण भगवान् ने कुन्ती से पूछा कि तुम्हारे पुत्र क्या करें? माता कुन्ती ने कृष्ण भगवान् से कहा कि मेरे पुत्रों को वही उपदेश दो जो विदुला ने अपने पुत्र को दिया था। विदुला का पुत्र उत्तर था जो अधिक शत्रु सेना देख युद्ध से भाग आया था। माता ने कहा तूने मेरी कोख में दाग लगाया, कुल को कलंकित किया। तू मर जाता तो अच्छा था। अन्त में, उत्तर युद्ध में गया और माता के उपदेश से विजयी हुआ। जिस व्यक्ति ने दान, तपस्या, सत्य, विद्या और अर्थ लाभ न किया तो उसका जन्म व्यर्थ है। माता कुन्ती का उपदेश पाकर पाण्डवों ने विजय पाई और अर्जुन के कारण गीता का उपदेश आज भी सहस्रों मनुष्यों को शांति और सुख दे रहा है।

महाभारत में अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हुआ। सात अक्षौहिणी सेना पांडवों की थी और ग्यारह अक्षौहिणी सेना कौरवों की थी। एक-एक दिन में दस-दस हजार वीर मारे जाते थे। शक्तिशाली शत्रु अधर्म के पक्ष में हो तो थोड़े से धर्म पक्षवाले विजय पाते हैं। पाण्डवों में चार गुण थे। ये गुण प्रत्येक व्यक्ति हृदय में धारण करे। सत्य, दया, धर्म और उद्यम—इनके बल से विजय होती है। केवल धर्म को लिये हुए न बैठा रहे, उद्यम करे। तीन अहीरों ने दिल्ली में पाँच-छै सौ व्यक्तियों को मार भगाया था। उद्यम और धर्म को साथ-साथ हाथ में लेवे। उत्तम धर्म श्रेष्ठ है इसको लेकर अहंकार छोड़ दे। शारीरिक और मानसिक बल के मेल से धर्म की जय होती है।

जो कृष्ण भगवान् पांच गांव मांग रहे थे उन्होंने पाण्डवों को युद्ध करने को बाध्य किया। अन्याय देख शांत बैठना ठीक नहीं। धर्म और उद्यम दोनों को लेकर अधर्म का, अन्याय का नाश करना जरूरी है। हिम्मत न छोड़ो। भगवान् का वचन है कि दुष्टों का दमन करो और धर्म की स्थापना करो। भगवान् ने छुटपन में अनेक राक्षस मारे। सोलह वर्ष की अवस्था में कंस को मारा। उन्होंने जरासंध का संहार कराया। जरासंध के पास तीन स्नातक गए, उसने स्नातकों का आदर किया। विद्याव्रत स्नातक का आदर सब करते हैं। उसने युद्ध दान देते हुए कहा कि अर्जुन छोटा है, कृष्ण भाग गए किंतु भीम बराबरी का है, इसलिये भीम से युद्ध किया। भगवान् ने भीम द्वारा उस दुष्ट का नाश किया। उन्हीं कृष्ण ने सौ कुसूर माफ कर शिशुपाल का वध किया।

धर्म का पक्ष लेकर कृष्ण भगवान् ने अर्जुन का रथ चलाया। निःशस्त्र कृष्ण ने हमेशा उत्साहित किया। वीर पांडव, कुंतीपुत्र, शत्रुनाशक कहा किंतु दुर्योधन के रथवाहक ने उसे हतोत्साहित किया। जिसका मित्र उत्साह बढ़ानेवाला हो, जिसको धर्म का बल हो, उसे विजय प्राप्त होती है। गीतापाठ करनेवाला चार बातों का ध्यान रक्खे। किस अवसर पर गीता का उपदेश दिया गया, किसने और किससे गीता कही और इसका क्या फल हुआ। इन बातोंको समझे कि कैसे युधिष्ठिर थे, उनमें कैसे उच्च गुण थे। वे सत्यव्रती, शास्त्राज्ञापालन करनेवाले थे। उनमें धर्म का महाबल था।

अर्जुन किस मौके पर युद्ध से हटा जब कि सब तरह की तैयारी हो चुकी थी। दोनों ओर शंखनाद हो चुके थे। सब सामग्री एकत्र हो चुकी थी। उस समय अर्जुन अपने संबंधी और कुटुम्बी देख दुखी होता है। वह क्लीवता के कारण युद्ध छोड़ रहा था। तब कृष्ण भगवान ने कहा।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

कृष्ण भगवान् ने कहा, हे अर्जुन! हे परंतप! शत्रुओं को तपाने वाले, आज तुम में कश्मल कहां से आया, आज आर्य-धर्म को कैसे छोड़ने लगे, यह दुर्बलता कहां से आई? उठो, यह पौरुषहीनता छोड़ दो, मारो और मरो! भगवान् ने अर्जुन को वीर रस से भर दिया। ऐसे कृष्ण भगवान् की गीता का माहात्म्य समझने के पहले कृष्ण भगवान् और अर्जुन के गुण समझे, तब गीता-पाठ करे। हर एक विद्यार्थी और अध्यापक गीता प्रवचन की कथा को नोट करे और उससे आजीवन लाभ उठावे। बावन व्याख्यान होंगे, उन सब भाषणों को लिख ले। उनसे अपना जीवन ढाल ले। संसार में झगड़े होते हैं; उपद्रव होंगे और होते हैं। ऐसे संसार में, ऐसी स्थिति में जीवन लाभ देनेवाला अमूल्य ग्रंथ गीता ही है। इसमें धर्म और राजनीति का मेल है। पृथ्वी मंडल पर ऐसी पुस्तक नहीं है, जब आपत्ति हो तब गीता से उत्तर पूछे और अनुकूल उपाय करे।

गीता जयन्ती

गीता-जयन्ती के उत्सव मे पंडित श्री कृष्ण जोशी जी का भाषण हुआ फिर महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण का भाषण हुआ। पूज्य मालवीय जी ने अन्त मे संक्षेप भाषण दिया कि श्रीकृष्ण जी ने मक्खन दिया उसमें पंडित जी ने मिश्री मिला दी। भगवद्स्वरूप में 'सोऽहमस्मि' का भाव देखना चाहिए। जब यह भाव आ जाता है तब उनका दर्शन हो जाता है। मन उज्वल हो जाता है। *आत्म-अन्धकार और अपवित्रता दूर हो जाती है। उसी का वास्तविक* ज्ञान होने से यह मालूम हो जाता है कि वही तो हम हैं। यह बड़े कुलीन घर का बेटा है। इसे अपने कुल, अपनी मर्यादा, अपने वंश का अभिमान है। वह अपने को श्रेष्ठ जानने लगता है। तब उसे डर नहीं रहता। भय जिसका, किसी से ईर्ष्या नहीं। हम भी वही परमात्मा की ज्योति हैं,' तब हम आनन्द-स्वरूप हो जाते हैं।

गीता-जयन्ती को प्रार्थना करनी चाहिए। प्रतिवर्ष उत्सव मनावें। रविवार को जहाँ जिस-जिस जगह देश मे भारतवासी हिन्दू, सिक्ख, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान कोई भी हो, जो भारतवर्ष की सन्तान हैं या भारतवर्ष के दिव्य संदेश के प्रेमी हैं, वे सब प्रत्येक रविवार को ८ से ९ बजे सवेरे गीता-पाठ करें। संसार मे अनेक ग्रन्थ हैं पर इसकी समानता का एक भी नहीं है। वेदों का उत्तम भाग उपनिषद् है। उपनिषद् रूपी गौओं का दुग्धरूपी अमृत गीता है। इस सर्व उपनिषदों का सार श्रीकृष्ण भगवान् ने दुहा था और उसी अमृत का पान अर्जुन-रूपी बछड़े ने किया था। अभी इस गीता का उपदेश दूसरे देशवासियों को मालूम नहीं हुआ है, अभी उन्होंने समझा नहीं है। योरप अभी इसका अधिकारी नहीं हो पाया। हमारे ऋषि-मुनि यहाँ तक पहुँचे थे। अभी दूसरे देशवासी इसका गौरव नहीं समझ सके। उसका महत्त्व समझें और 'सब तज, हरि भज' यह लक्ष्य बनावें। मनुष्य-जीवन इससे सफल करें।

सनातनधर्म, साप्ताहिक मुखपत्र, वर्ष ३, अक २१, पृ० १५, १५ दिसम्बर १९३५ ई० (पूज्य मालवीय जी का शिवा जी हाल में संक्षिप्त भाषण)।

अर्जुन और भगवान्

गीता के वक्ता और श्रोता कौन थे ? इन बातों को पहले स्मरण करके तब गीता का पाठ आरंभ करें। गीता-प्रवचन में विद्वान् चुने-चुने फूल भगवान् को अर्पण करने लगते हैं। उन उपदेशों को नोट कर लें जो मौके पर काम देंगे। क्योंकि आपत्ति, दुःख और संकट के समय इसी का सहारा मिलेगा। मनुष्य मरणासन्न हो जाता है, तब अन्तिम समय में भी इससे कल्याण होता है। जैसे कोई धनी अपनी इमारत बनाता है उसी तरह जीवन की इमारत कल्याणप्रद उपदेशों से बनती रहे जिससे इस लोक में आनन्द मिले और परलोक सुधरे।

मनुष्य को पग-पग पर आपत्ति का सामना करना पड़ता है। जो अर्जुन अपने युग के अद्वितीय योद्धा थे, जो शुभगुणों से संपन्न थे, जिनके मित्र भगवान् कृष्ण थे, वे भी जब अपने कर्तव्य से विमुख होने लगे और एक साधारण कायर की तरह विषाद करने लगे और विमोह में पड़कर अपने लक्ष्य को भूल गए तब मनुष्य की क्या गणना हो सकती है।

अर्जुन को पहले समझ लीजिए कि उनमें क्या विशेषता थी ? अर्जुन कोई मामूली आदमी नहीं थे। वे अपने युग के महापुरुष थे। अर्जुन की वीरता का गुण-गान भीष्म पितामह ने किया है। गुरु द्रोणाचार्य जी ने दुर्योधन आदि कौरवों के सम्मुख परीक्षा लेते हुए कहा था कि धनुर्विद्या आदि में अर्जुन के बराबर कोई नहीं है। अर्जुन की शक्ति और ब्रह्मचर्य की महिमा इन्द्र और उर्वशी ने बतलाई है। अर्धरात्रि के एकान्त में रूपवती तरुणी उर्वशी अर्जुन से मिलती है, उस समय अर्जुन उसे माता कहते हुए प्रार्थना करते हैं कि आप पूज्या हैं, आप श्रेष्ठ हैं, मेरी रक्षा करो। नवयुवकों को अर्जुन के दमन से शिक्षा लेकर बली ब्रह्मचारी बनना चाहिए।

उस अर्जुन के स्वरूप का वर्णन महाभारत में इस तरह दिया गया है—

"यस्तु देवमनुष्येषु प्रख्यातः सहजैर्गुणैः।
श्रिया शीलेन रूपेण व्रतेन च दमेन च ॥
प्रख्यातो बलवीर्येण सम्मतः प्रतिभानवान्।
वर्च्चस्वी तेजसा युक्तः क्षमावान् वीतमत्सरः ॥
साङ्गोपनिषदान् वेदान् चतुराख्यानपंचमान्।
योऽधीते गुरुशुश्रूषां मेधां चाष्टगुणाश्रयाम् ॥

सनातनधर्म, साप्ताहिक, वर्ष ४, अंक १, पृष्ठ ५, ६।

ब्रह्मचर्येण दाक्ष्येण प्रसवैर्वयसापि च ।
एको वै रक्षिता चैव त्रिदिवं मघवानिव ॥
अकत्थनो मानयिता स्थूललक्ष्यः प्रियंवदः ।
सुहृदश्चान्नपानेन विविधेनाभिवर्षति ॥
सत्यवाक् पूजितो वक्ता रूपवाननहंकृतः ।
भक्तानुकम्पी कान्तश्च प्रियश्च स्थितसंगरः ॥
प्रार्थनीयैर्गुणगणैर्महेन्द्रवरुणोपमः

—वनपर्व, अध्याय ४५ ।

आपमें वे सब श्रेष्ठ गुण थे जो स्वभावतः मनुष्य और देवयोनि को प्राप्त होते हैं। वे रूपवान्, व्रती, पवित्र आचरण वाले, बल-बुद्धि से युक्त, तेजवान, प्रतिभावान्, चतुर, विद्याव्रतस्नातक, सुहृद्, अभिमानरहित, स्थिर संकल्पी, सत्यवादी और गुरु-भक्त थे।

ऐसे अर्जुन गीता में प्रश्न पूछनेवाले थे। उस व्यक्ति की शंकायें सिवाय कृष्ण भगवान् के और कौन दूर कर सकता था ? अर्जुन की सब शंकाओं का उत्तर देना और अपने कर्तव्य में लगाना बड़ा कठिन था। मानव-जीवन में जो कठिनाइयाँ आती हैं, मनुष्य कर्म कैसी-कैसी विषम परिस्थितियों के कारण अपने कर्तव्य से मोहवश सब किये हुए कर्म फल को नष्ट कर देता है। उसे गीता के उपदेश से ही परम लाभ प्राप्त होता है। भगवान् कृष्ण का उपदेश कैसे प्राप्त हुआ ? कितने वीरों का संहार होकर इस अमूल्य निधि की प्राप्ति हुई। वेदव्यास जी तथा भीष्म पितामह दोनों महापुरुषों ने, इन दो सत्यवक्ताओं ने भगवान् कृष्ण को साक्षात् विष्णु कहा है। व्यास जी ने महाभारत में गुण-गान करते हुए अन्त में श्रीमद्भागवत् की रचना कर परम शान्ति प्राप्त की है।

भगवान् कृष्ण के स्वरूप का वर्णन वेदव्यास जी ने कैसा अपूर्व बताया है कि तीन लोकों में ऐसी सुन्दरता कभी किसी को प्राप्त नहीं हुई।

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥

आपके अपूर्व गुण महाभारत के शान्ति पर्व में कैसे विस्तार से कहे गये हैं, उनका वर्णन करना असंभव है। केवल विद्वान् ही उनका आनन्द ले सकते हैं। मैं तो छात्रों को संक्षेप में कह देता हूँ।

दानं दाक्ष्यं श्रुतं वीर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिसत्तमा ।
सन्ततिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥

तमिमं लोकसंपन्नमाचार्यं पितरं गुरुम् ।
आद्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संमन्तुमर्हथ ॥
ऋत्विग् गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिप्रियः ।
सर्वमेतद् हृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितो च्युतः ॥

ये अपूर्व गुण वासुदेव मे थे जिनके बराबर तीन लोक में कोई हुआ ही नहीं। युधिष्ठिर की सभा मे बड़े-बड़े राजा, महाराजा, ऋषि, महर्षि थे किन्तु जब कृष्ण भगवान् सभा मे पधारे तभी सभा सुशोभित हुई। सभा में उपस्थित सभी लोगों ने कहा कि इनकी पूजा हम लोग ही नहीं करते वरन् तीन लोक इनकी उपासना करते हैं, इस बात पर शिशुपाल को बुरा लगा। उसने गाली देना शुरू किया। भगवान् ने उसके सौ अपराध क्षमा किये। अन्त में उसका नाश हुआ। सर्वसम्मति से तथा भीष्म पितामह आदि की हार्दिक इच्छा से कृष्ण भगवान् की सबसे पहले पूजा हुई। कृष्ण भगवान्—बल, विद्या, पौरुष, शस्त्रशास्त्र सभी मे अद्वितीय थे। उस सभा में इस प्रकार दीख रहे थे जैसे आकाश में तारागणों के मध्य चन्द्र सुशोभित होता है। दुर्दिन में मेघों में से शाम को सूर्य दीखने से जो प्रसन्नता होती है, जब रुकी हुई हवा बहने लगती है और मनुष्यों को प्राण से मिल जाते हैं; वैसी प्रसन्नता सभा को हुई।

वैशम्पायन उवाच—

धृतराष्ट्राय तद्राज्यं गान्धार्यै विदुराय च ।
निवेद्य सुखवद् राजा सुखमास्ते युधिष्ठिरः ॥
तथा सर्वं सनगरं प्रसाद्य भरतर्षभः ।
वासुदेवं महात्मानमभ्यगच्छत् कृतांजलिः ॥
ततो महति पर्य्यङ्के मणिकाञ्चनभूषिते ।
ददर्श कृष्णमासीनं नीलमेघसमद्युतिम् ॥
जाज्वल्यमानं वपुषा दिव्याभरणभूषितम् ।
पीतकौशेयवसनं हेम्नेवोपगतं मणिम् ॥
कौस्तुभनोरसिस्थेन मणिनाभिविराजितम् ।
उद्यतेवोदयं शैलं सूर्येणाभिविराजितम् ॥
नौपम्यं विद्यते तस्य त्रिषु लोकेषु किंचन ।
सोऽभिगम्य महात्मानं विष्णुं पुरुषविग्रहम् ॥
उवाच मधुरं राजा स्मितपूर्वमिदं तदा ॥

भगवान् की कैसी अलौकिक छवि इन श्लोकों में दिखा दी गई है। इससे बढ़कर संसार में, विश्व में किसकी शोभा हो सकती है।

वयं राज्यमनुप्राप्ताः पृथिवी च वशे स्थिता।
तव प्रसादाद्भगवंस्त्रिलोकगतिविक्रम।
जयं प्राप्ता यशश्चाग्र्यं न च धर्मच्युता वयम्॥

वासुदेव उवाच—

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः।
मांध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः॥
अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम्।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम्॥

ब्राह्मण ज्ञान में वृद्ध हो, क्षत्रिय बल में अधिक हो, वैश्य धन सम्पत्ति में बड़ा हो और शूद्र आयु में बड़ा हो तो श्रेष्ठ कहलाता है।

ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकं।
वैश्यानां धान्यधनवान् शूद्राणामेव जन्मतः॥

किन्तु कृष्ण—

"पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ।
वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा॥
नृणां लोके हि कोन्योस्ति विशिष्टः केशवादृते।"

—सब तरह से सर्वश्रेष्ठ थे।

भीष्म पितामह और वेदव्यास जी आपका गुणगान करते-करते थक गये। इन दोनों सत्यवादी महापुरुषों की कीर्ति जगत् प्रसिद्ध है। इन्होंने कहा है कि "तमेव शरणं गच्छ" वासुदेव की शरण जाने से प्राणिमात्र का कल्याण है। अतः कृष्ण भगवान् को जानने के लिए सबसे पहले भीष्म और वेदव्यास जी को जानें। उन कृष्ण भगवान् ने गीता का अमृतपान अर्जुन को कराया है। उस अर्जुन के हृदय में गहरा मैल जम गया था जिसके निकालने में १८ अध्याय गीता के कहने पड़े। उसका सब विकार धो दिया और उसकी कायरता दूर कर कर्तव्य में लगा दिया। भगवान् ने ज्ञान, भक्ति, कर्म, संन्यास, त्याग सभी बातों का निचोड़ बता दिया। अर्जुन से कह दिया कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

कैसी मृदङ्ग की थाप लगाई कि तप, व्रत, आदि धर्मों का भरोसा छोड़कर मेरी शरण आ जाओ, रंज मत करो, मत दुःखी हो, मैं सब तरह रक्षक हूँ। गीता का उपदेश देकर अर्जुन को ही नहीं वरन् मानव-मात्र का कर्तव्य बता दिया कि धर्मयुद्ध में प्राण निछावर कर दे। यूरोप में अनर्थ हो रहा है। शक्तिशाली कमजोर को पीस रहा है। अतः धर्म और न्याय-भावना का पक्ष ले अन्याय न देखे। अत्याचार दूर करने को तत्पर रहे। १८ अक्षौहिणी सेना का संहार होने के बाद गीता का उपदेश संसार के कल्याणार्थ मिला है। धर्म के लिए सब कुछ अर्पण कर दे, प्राण तक दे दे, पर अधर्म और अनर्थ न होने दे। जहाँ धर्म है, वहाँ परमात्मा का भरोसा है।

यत्र योगश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

जहाँ धर्म है वहाँ कृष्ण हैं, जहाँ उद्यमी अर्जुन हैं, जहाँ इन दोनों का मेल है वहाँ लक्ष्मी, विजय, नीति सब कुछ है।

शिवरात्रि पर्व के भाषण का सारांश

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै ।
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ॥
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो ।
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः ॥

यं प्रव्रजंतमनपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥

अखण्डमंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि चौरासी लाख योनियों में घूम-घूमकर प्राणी मनुष्य का चोला पाता है। इन चौरासी लाख योनियों में क्या सुख और क्या दुःख मिला, यह हमे स्मरण नहीं रहता। यदि यह स्मरण रहे तो मनुष्य अपना चरित्र बदल ले। मनुष्य शरीर पाना अत्यन्त दुर्लभ है। भागवत् में कहा है :—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसंभवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन् निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥

बहुत जन्मों के अन्त में मनुष्य का दुर्लभ तन पाकर मनुष्य को ऐसा यत्न करना चाहिए कि वह फिर नीचे न जाय। मनुष्यों में और दूसरे जीवधारियों में आहार, नींद, भय, मैथुन समान होते हैं, मनुष्यों में केवल धर्म ही एक विशेषता है। जिनमें धर्म की भावना नहीं है, वे मनुष्य पशु के समान है। तुलसीदासजी ने इसी भाव को एक बड़े सुन्दर पद में प्रकट किया है :—

प्रभु तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।
साधन धाम विबुध दुर्लभ तनु मोहिं कृपा करि दीन्हों ॥

अर्थात् हे प्रभु ! तुमने मेरे साथ बड़ा उपकार किया कि मुझे सब साधन करने का आधार तथा देवताओं को भी दुर्लभ यह मनुष्य का शरीर दिया है।

कोटिन मुख कहि सकौं न प्रभु के एक एक उपकार ।

सनातनधर्म, अंक ३२, वर्ष १।

करोड़ों मुखों से भी आपके एक-एक उपकार का वर्णन नहीं हो सकता। बच्चा जब माता के गर्भ में होता है तो उसके भोजन का सब सामान वहाँ उपस्थित रहता है। पैदा होने पर माता का दुग्धरूपी अमृत पान करने के लिये तैयार मिलता है। उसके उपरांत गो माता का दुग्ध मिलता है। बड़े होने पर संसार में छप्पन प्रकार की भोजन सामग्री बनी रहती है। इसके अतिरिक्त स्त्री, संतान, धन, धान्य, यश, सुख जो पदार्थ मिलता है, वह सब उन्हीं भगवान् का दिया है।

केशव कहि न जाय का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए।

माता के गर्भ में अंधी कोठरी में ही भोजन मिलता है, वहीं शरीर के अवयव बनते चले जाते हैं। हमें ये सब असंख्य लाभ पहुँचे और पहुँच रहे हैं। तब भी ऐसे कितने लोग हैं जो इस बात को सोचते और समझते हैं कि वह कौन पुरुष वा शक्ति है जिसकी कृपा से ये सब लाभ प्राप्त होते हैं। पचीस, तीस, चालीस, साठ वर्ष की अवस्था पहुँचने पर भी कितने लोगों ने यह जाना है कि उस शक्ति का क्या रूप है? कितनों ने यह ज्ञान पाया है कि उनका उससे क्या सम्बन्ध है?

यदि हमको ईश्वर का ज्ञान नहीं हुआ, यदि हमने ईश्वर की महिमा नहीं समझी, यदि उनके चरणों में भक्ति न की, तो पशु में और हम में क्या भेद रहा? अब प्रश्न यह है कि ईश्वर है या नहीं? मनुष्य के मुख से जो शब्द निकलता है वही इस बात की घोषणा करता है कि ईश्वर है। लोग कहते हैं कि नाक सूँघती है, त्वचा स्पर्श करती है। किन्तु कौन सूँघता है, कौन स्पर्श करता है, कौन देखता है, कौन सुनता है? जबतक देह में प्राण हैं तभी तक ये इन्द्रियाँ काम करती हैं। प्राण निकल जाने पर ये इन्द्रियाँ एक छिन भी अपना काम नहीं कर सकती हैं। जिस मुख को देखने के लिए पुरुष, स्त्री, माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र सम्बन्धी आकुल रहते थे, प्राण के निकलते ही उस मुख से लोग मुँह फेर लेते हैं। मरते ही अपने प्रिय प्राणी उस मुख को ढाँक देते हैं। क्यों? इसलिये कि प्राण ही आत्मा था, वह निकल गया तो शरीर निःसत्त्व हो गया। वही प्राण, वही आत्मा ईश्वर का अंश है, वह अविनाशी है।

यह आत्मा सबके शरीर में रहता है और फिर भी शरीर से अन्य है। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी प्राणियों में वह विद्यमान है।

अब उस पूर्ण परमात्मा की प्राप्ति कैसे हो? जब पाँचों इन्द्रियाँ और मन एक स्थान पर हों तब बुद्धि की आंख से उस परमात्मा का दर्शन हो।

वेदव्यास जी कहते हैं :—

यदा तैः पंचभिः पंच युक्तानि मनसा सह ।
अथ तद्द्रक्ष्यते ब्रह्म मणौ सूत्रमिवार्पितम् ॥
तदेव च यथा सूत्रं सुवर्णे वर्तते पुनः ।
मुक्तास्वथ प्रवालेषु मृण्मये राजते तथा ॥
तद्वद् गोऽश्वमनुष्येषु तद्वद्धस्तिमृगादिषु ।
तद्वत्कीटपतंगेषु प्रसक्तात्मा स्वकर्मभिः ॥

जैसे एक ही प्रकार के सूत में सोने की, मोती की, मूँगे की, चाँदी की, मट्टी की गुरियाँ पिरोई जाती हैं, वैसे ही गौ में, घोड़े में, मनुष्यों में, वैसे ही हाथियों में, हरिणों में, वैसे ही चिड़ियों में और कीड़ों में अपने कर्म के अनुसार आत्मा रम रहा है। जैसे इन गुरियों की भिन्न-भिन्न मालाओं में उनका धारण करने वाला एक ही सूत्र होता है, वैसे ही इन सब प्राणियों में एक ही परमात्मा रम रहा है।

वह सब देहियों की देहों में रहता है। वह समस्त प्राणियों के हृदय में बसा है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषः मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥

अंगूठे के बराबर धूम रहित ज्योति का स्वरूप आत्मा मनुष्य के हृदय के बीच बैठा है। उसके जानने का उपाय सरल है :—

मनो मनसि संधाय पश्यन्नात्मानमात्मनि ।
सर्ववित् सर्वभूतेषु विन्दत्यात्मानमात्मनि ॥
एकधा बहुधा चैव विकुर्वाणस्ततस्ततः ।
ध्रुवं पश्यति रूपाणि दीपाद्दीपशतं यथा ॥

"मन को मन में धारण करके और अपने भीतर बुद्धि रूपी आँखों से आत्मा को देखता हुआ मनुष्य सब प्राणियों में एक आत्मा को रमता देखता है। उसको एक-एक में अलग-अलग और सबों में मिला हुआ देखते हुए सब रूपवान पदार्थों में उसको ऐसा दीखता है जैसे एक दीप से सौ दीप बने हों।

स वै विष्णुश्च मित्रश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ।
स हि धाता विधाता च स प्रभुः सर्वतोमुखः ॥
हृदयं सर्वभूतानां महानात्मा प्रकाशते ।

उसी को विष्णु कहते हैं, उसी को मित्र, उसी को वरुण, उसी को प्रजापति, उसी को धाता, उसी को विधाता कहते हैं। सब प्राणियों का हृदय—वह महात्मा बुद्धि की आँखों से देखा जाता है। वह न जन्म लेता है, न मरता है; वह न घटता है, न बढ़ता है।

जैसे विश्वनाथ जी जहाँ विराजमान हैं वह उनका मंदिर है, वैसे ही जहाँ मनुष्य के हृदय में भगवान् विराजमान हैं वह भी उनका मंदिर है। जैसे मंदिर को हम लोग शुद्ध रखते हैं और अपवित्र नहीं करते उसी प्रकार हमको अपने हृदय मंदिर को सदा पवित्र रखना चाहिए। अन्य मंदिरों के समान इस हृदय मंदिर को स्वच्छ और पवित्र रखना हमारा धर्म है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर की मलिनता से उसको मैला न होने देना हमारा कर्त्तव्य है। किसी स्त्री को कुदृष्टि से देखने, किसी निर्दोष पुरुष पर क्रोध करने, किसी की वस्तु चुराने की इच्छा करने, किसी प्रकार के पाप का विचार करने से वह हृदय मंदिर—हमारे भीतर स्थित भगवान् का मंदिर—मैला हो जाता है। इसलिये हमको उचित है कि इस मंदिर के भीतर काम, क्रोध और लोभ की मैल को न पैठने दें और पैठ जाय तो जहाँ तक हो सके शीघ्र से शीघ्र भगवान् के नाम रूपी पावन जल से उसको धोकर साफ कर लें।

इस कर्त्तव्य के साधन में सहायता करने के लिये माता पार्वती से पूछे जाने पर शिव जी ने पंचाक्षर मंत्र 'ॐ नमः शिवाय' का उपदेश दिया। लिंगपुराण, स्कन्दपुराण और शिवपुराण में इसका विस्तृत वर्णन है। इस मंत्र के जप करने से पाप से विमुक्ति और भगवान् के चरण कमलों में भक्ति प्राप्त होती है। इस मंत्र का जप चाहे 'ॐ नमः शिवाय' इन छः अक्षरों से करें या 'नमः शिवाय' इन पांच अक्षरों से। दोनों प्रकार से जप करने वाले का कल्याण होता है।

जैसे किसी अंधकारमय सघन जंगल में चलने के समय एक लालटेन की आवश्यकता होती है वैसे ही इस संसार रूपी अंधकारमय जंगल में चलने के लिये एक धर्म की लालटेन की आवश्यकता है। ऐसी एक लालटेन भगवान् वेदव्यास जी ने महाभारत में बताई है :—

सत्याधारस्तपस्तैलं दया वर्त्तिः क्षमा शिखा।
अन्धकारे प्रवेष्टव्ये दीपो यत्नेन धार्यताम् ॥

"सत्य का दीपक, तप का तेल, दयारूपी बत्ती और क्षमा रूपी शिखा, अंधकार में चलने में इस धर्म के दीपक को यत्न के साथ रक्षित रखना चाहिए।" जैसे गंगा जी अपनी शीतल निर्मल धारा से जाति भेद तथा ऊँच-नीच का विचार न करके सब प्राणियों का पाप काटती हैं, उसी प्रकार 'ॐ नमः शिवाय' प्राणि-

मात्र को निर्मल करनेवाला और उनके कल्याण को बढ़ाने वाला मंत्र है। प्रातःकाल सूर्य मण्डल में स्थित परमात्मा को अर्घ्य देकर 'ॐ नमोनारायणाय' इस अष्टाक्षर मंत्र का जप करना चाहिए और सायंकाल रुद्र की वेला में 'ॐ नमः शिवाय' या 'नमः शिवाय' इस मंत्र का जप करना चाहिए। जो लोग गायत्री मंत्र का जप करते हैं उनको चाहिए कि गायत्री मंत्र का जप करने के पीछे, इस पंचाक्षर मंत्र का भी जप करें। इसके अतिरिक्त किसी समय भी इसका जप करने से पाप दूर होता है और मन में एक अद्भुत शक्ति और प्रकाश प्राप्त होता है जो ईश्वर का निदर्शन है।

सम्पूर्ण मानव समाज को इस कल्याणकारी मंत्र का जप करना चाहिए। मुक्ति और भगवद्भक्ति का इससे उत्तम और सरल उपाय कोई नहीं है।

•

शिवरात्रि व्रत और मंत्रदीक्षा

शास्त्र कहते हैं कि शिवरात्रि व्रत सब व्रतों में उत्तम है। इस व्रत के करने से मनुष्य के वर्ष भर के पाप धुल जाते हैं। पद्मपुराण में लिखा है कि यह व्रत चारों वर्ण और चारों आश्रम के प्राणियों का, स्त्रियों का, बच्चों का, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े का परमहित साधन करनेवाला है और इस लोक में सब सुख-भोग और परलोक में मोक्ष देनेवाला है। इस व्रत का हिन्दू जाति में सब प्रान्तों में बड़ा प्रचार है। इस व्रत का पालन केवल शैव ही नहीं किन्तु वैष्णवादि सभी सम्प्रदाय के लोग करते हैं। मनुष्य को पाप से छुड़ाने और पुण्य कार्य में लगाने के लिये यह व्रत बहुत प्रबल साधन है। यदि किसी प्राणी को साल में एक दिन भी अपने किए हुए पापों का पछतावा हो और उसके चित्त में यह भावना उठे कि वह भविष्य में पाप नहीं करेगा तो उसके पाप का प्रायश्चित हो जाता है और उसका पुण्य मार्ग में प्रवेश हो जाता है। यद्यपि इस व्रत का देश में बहुत प्रचार है तो भी हिन्दू जाति के परम हित के लिये यह आवश्यक है कि यह प्रबन्ध किया जाय कि हिन्दू जाति में प्रत्येक धनी और निर्धन पुरुष-स्त्री इस व्रत का पालन करे। इस वर्ष यह व्रत २१ फरवरी को पड़ेगा। इस व्रत का दिन मंत्रदीक्षा देने के लिये भी अत्यन्त उपकारी है। तीर्थराज प्रयाग में अर्धकुम्भ के अवसर पर श्रीमान् महाराजाधिराज दरभंगा के सभापतित्व में अखिल भारतवर्षीय सनातनधर्म महासभा में एकत्रित विद्वानों की मंडली ने यह निर्णय किया है कि सनातनधर्मानुयायी समस्त प्राणी शिवरात्रि के व्रत को जातीय व्रत की रीति से मनावें।

महासभा ने यह भी निश्चय किया है कि जिन हिन्दू सन्तानों ने अब तक किसी मन्त्र की दीक्षा नहीं पाई है उनको परमपावन शैव पंचाक्षर मंत्र की दीक्षा दी जाय और समस्त सनातनधर्मानुयायी शिवरात्रि के दिन उसी मन्त्र से सब कल्याण के देनेवाले, जगत् की सृष्टि, स्थिति और पालन करनेवाले सदाशिव भगवान् की उपासना करें। इस मन्त्र की बड़ी महिमा है। इसको शिवपुराण में मन्त्र राजाधिराज और वेदसार अर्थात् सब वेदों का सार करके वर्णन किया है। यह वह मन्त्र है जिसको ब्राह्मण से लेकर अन्त्यजपर्यन्त सब वर्ण के सनातनधर्मी को जपने का अधिकार है। पुरुष हो या स्त्री, जो प्राणी इस मन्त्र की दीक्षा पावेगा और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इसका नित्य नियम से जप करेगा, यह मन्त्र उसको ज्ञान, भक्ति, सुख, सम्पत्ति और धार्मिक बल देनेवाला होगा तथा परमात्मा से मिला देगा। इसलिये मैं समस्त सनातनधर्मानुयायी सज्जनों से निवेदन करता हूँ कि जहाँ-जहाँ जिसका प्रभाव हो वहाँ-वहाँ वे इस बात

'सनातनधर्म' साप्ताहिक मुखपत्र, वर्ष ३, अंक ३०, १६ फरवरी, सन् १९३६ ई०।

का प्रबन्ध करने में सहायता दें कि शिवरात्रि का व्रत सब लोग करें और शिवरात्रि के दिन 'नमः शिवाय' मंत्र की दीक्षा प्राप्त करें। मैं आशा करता हूँ कि समस्त सनातनधर्म सभा, हिन्दू सभा तथा अन्य धार्मिक संस्थाएँ तथा अन्त्यजोद्धार की संस्थाएँ मिलकर इस बात का प्रबन्ध करेंगी कि शिवरात्रि के दिन अधिक से अधिक भाई और बहनों को और विशेषकर अन्त्यज भाइयों को सनातनधर्म महासभा के निर्णय के अनुसार मन्त्र-दीक्षा मिल जाय।

शास्त्र के अनुसार एक शिवरात्रि का व्रत ही मनुष्य को पाप से छुड़ाने और ऊपर उठाने के लिए पर्याप्त है। उसके साथ ऐसे पवित्र दिन जो कोई दीक्षा भी लेगा तो वह अधिक से अधिक पुण्यका भागी होगा। शास्त्र कहते हैं कि :—

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात्कुर्यात्पापक्षयं ततः।
तस्माद्दीक्षेति संप्रोक्ता सर्वे तन्त्रस्य संमता॥

दीक्षा दिव्य ज्ञान देती है और उससे मनुष्य का पाप नाश हो जाता है; इसीलिये तन्त्र के जाननेवाले सब लोग इसे दीक्षा कहते हैं। दीक्षा लेने के अधिकारी ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज पर्यन्त सभी हैं। बिना दीक्षा के मोक्ष नहीं होता।

मन्त्र मुक्तावली में लिखा है—"जपोदेवार्चनविधिः कार्यो दीक्षितान्वि-तैर्नरैः" कि मनुष्य को चाहिए कि दीक्षा लेकर ही जप, देवता की पूजादि कार्य करे। वैष्णव तन्त्र में लिखा है :—

यथा कांचनतां याति कांस्यं रस विधानतः।
तथा दीक्षा विधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम्॥

कि जैसे कांसे पर रसका प्रयोग करने से वह सोना बन जाता है वैसे ही दीक्षा के लेने से मनुष्य द्विजके समान आदरणीय हो जाता है। हमारे पुनीत और उदार सनातनधर्म ने हमारे अन्त्यज भाइयों के उद्धार के लिये यह सरल और सुनिश्चित उपाय बता दिया है। यह खेद की बात है कि हम लोगों ने इतने दिनों तक इस उपाय पर पूरा ध्यान नहीं दिया; और हमारे धर्म के इस उपदेश पर ध्यान न देने के कारण हमारे असंख्य अन्त्यज भाई अपने पवित्र धर्म को छोड़कर अन्य मतों में मिल गए हैं। किन्तु बीती घटनाओं को सोचकर अब हमें हृदय को दुर्बल नहीं करना चाहिए, परमात्मा का स्मरण कर अब बिना विलम्ब शास्त्र के उपदेश के अनुसार अपने दीन अन्त्यज भाइयों को दीक्षारूपी अमृत पिलाकर उनको संसार में सुख, सम्मान और आध्यात्मिक ज्ञान का भाजन बनाकर सारे जगत् को सनातनधर्म की उदारता और पवित्रता का परिचय देना चाहिए।

संसार में जितने धर्म या मत प्रचलित हैं उनमें सब में किसी न किसी रूप में दीक्षा दी जाती है। बौद्धों में स्त्री और पुरुष दोनों को दीक्षा दी जाती है। ईसाइयों में बपतिस्मा के रूप में मंत्र दिया जाता है और मुसलमानों में कलमा पढ़ाया जाता है। हमारे सबसे प्राचीन धर्म के अनुसार जो मंत्र-दीक्षा दी जाती है उसका फल अन्य मतावलम्बियों की दीक्षा से कम नहीं किन्तु बहुत अधिक है। इस बात को व्यवहार से सिद्ध कर देना सनातनधर्मियों का सनातनधर्म के प्रति परम कर्तव्य है। मैं सनातनधर्म के अभ्यर्हित आचार्यों, मठाधिपों, महात्माओं और विद्वानों से तथा सनातनधर्मानुयायी समस्त भाई-बहनों से प्रार्थना करता हूँ कि पूर्ण उत्साह के साथ इस पवित्र कार्य को हाथ में लें और अपना पूर्ण प्रभाव डालकर धर्म की रक्षा के इस महत् कार्य को सफल करें।

रावलपिण्डी की सनातनधर्म कानफरेंस में भाषण

दस वर्ष हुए सन् १९२४ ई० में आपने रावलपिण्डी में ही इस सम्मेलन पर मुझे सभापति का आसन दिया था। आज दस वर्ष बाद पुनः मुझ से आग्रह किया गया कि मैं इस सम्मेलन का प्रधान बनूँ। इसके लिये मैं हृदय से आपको धन्यवाद देता हूँ। इस दस वर्ष में सनातन धर्म का कितना काम हुआ है, यह सब को विदित है और वास्तव में सन्तोषजनक भी है। पंजाब में धर्म संबन्धी शिक्षा प्रारम्भ करने का श्रेय आर्यसमाजियों को है। विद्या विभाग में उन्होंने काफी उन्नति की है। डी० ए० वी० कालेज के अतिरिक्त लगभग ४४ स्कूल इस प्रान्त में आर्य भाइयों द्वारा संस्थापित हैं। यह कार्य उन लोगों ने कुछ पहले किया। पर सन्तोष की बात है कि सनातनधर्मियों ने, यद्यपि इसमें पीछे हाथ लगाया, नियत समय में उचित उन्नति की। सन् १९२३ ई० में केवल १२३ सनातनधर्म सभाएँ थीं। महावीर दल का श्री गणेश अभी नहीं हुआ था। पर आज दस वर्ष बाद ४०० सनातनधर्म सभाएँ, ३३५ महावीर दल, ३२ हाई स्कूल, ८ मिडिल स्कूल, १ कालेज तथा १४८ कन्या पाठशालायें इस प्रान्त में काम कर रही हैं। हाई स्कूल में २२,००० विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। किसी भी संस्था के लिये इतने कम समय में इतना काम करना संतोष की बात है।

मैं इस सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा को, इसके सभापति रायबहादुर राम शरण दास, मंत्री गोस्वामी गणेशदत्त तथा अन्य कार्यकर्ताओं को हृदय से बधाई देता हूँ। साथ ही साथ यह कहना भी चाहता हूँ कि प्रचार का कार्य हो रहा है। १४५ उपदेशक घूम रहे हैं। कई इमारतों और मंदिरों का निर्माण हुआ है। महावीर दलों का कार्य सराहनीय है। उनको बधाई देता हूँ। बड़े-बड़े मेलों में जाकर वह कार्य करते हैं। अभी बिहार जाकर महावीर दल सेवा में लगा रहा। परन्तु मैं केवल इतने ही से पूर्णतः संतुष्ट नहीं। इस कार्य को दृढ़ और सुव्यवस्थित करने के लिये स्थायी फंड का होना अनिवार्य है। यह काम जो इस समय एक नवयुवक तपस्वी के कंधे पर है, वहाँ से हटकर १०-२० हजार प्रेमियों के कंधे पर पड़ना चाहिए। इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। वर्तमान युग में किसी भी संस्था के प्रचार में सफलता प्राप्त करने के लिये कार्यकर्ताओं में उत्साह का होना आवश्यक है। वे कभी भी हिम्मत न हारें। ईसाई कितने दूर प्रदेशों से आकर अपने धर्म का प्रचार करते हैं। करोड़ों रुपये खर्चकर शिक्षा का भार उन्होंने लिया है। अपने धर्म के प्रचार के लिये वे यत्न कर रहे

सनातनधर्म, वर्ष १, अंक ४३।

हैं। मुसलमान भाई भी कितना यत्न करते हैं। धन इकट्ठा कर रहे हैं, अपने उपदेशों को तैयार करते हैं। बुद्ध धर्म के भी अनुयायी चीन और जापान से यहाँ आकर प्रचार करते हैं। इससे आपको चेतावनी मिलती है। मकान की रखवाली के लिए जिस प्रकार चौकीदार सदा चौकन्ना रहता है उसी प्रकार आप को भी सदा सावधान रहना चाहिए। यदि चौकीदार कुछ समय तक काम करके सो जाय तो चोरी होने का डर है; त्योंही यदि सनातनधर्मी १० वर्ष काम करके उत्साहहीन हो जाँय तो सब काम बिगड़ जायेगा। इसलिये आप इस संगठन को और भी दृढ़ करें। मुझे आशा है कि सनातनधर्मी, जिन्होंने इस मन्दी के समय में भी इस संस्था को धन से सींचा है, सदा इसी तरह सींचते रहेंगे।

धर्म की आवश्यकता

कुछ लोग ख्याल करते हैं कि धर्म की कोई आवश्यकता नहीं है, जितनी इसकी चर्चा कम हो उतना ही अच्छा है। यह उनकी गलत समझ है। आज तो बहुत से वैज्ञानिक भी इस बात का समर्थन करते हैं कि धर्म की शिक्षा मनुष्य जाति के हित के लिए आवश्यक है। हिन्दू जाति सदैव धर्म को ऊँचा स्थान देती आई है। जितनी इसे धर्म की आवश्यकता है उतनी और चीज की नहीं। जिस बात की शिक्षा सनातनधर्म सबसे पहले देता, है वह है 'ईश्वर का ज्ञान'। वह बतलाता है कि संसार का रचने वाला, पालन करने वाला, संहार करने वाला केवल वही परमात्मा है, जिसका कोई सानी नहीं। वह कभी मरता नहीं। वह घट-घट मे व्यापक है। न केवल मनुष्यों ही में बल्कि पशुओं एवं कीड़ों में भी वही परमात्मा है। वही सब जगह व्याप रहा है। वेदव्यास जी ने महाभारत में कहा है कि परमात्मा प्राणी-प्राणी मे व्यापक है। यह हिन्दू धर्म का मूल सिद्धान्त है। इससे धर्म निकलता है। अब इस धर्म का निचोड़ सुन लो। 'जो तुम्हें अपने लिये अच्छा न लगे वह दूसरे के लिए मत करो।' जब एक बार यह मान लिया कि ईश्वर घट-घट व्यापी है तब सिद्धान्त है कि जो बात अपने लिये चाहते हो वही दूसरों के लिये चाहो। जब आप चाहते हैं कि आप की बीमारी मे कोई आप की सहायता करे, सुख देवे, तो इसी तरह आप दूसरों को सुख दो, दवा दो। यही धर्म का सिद्धान्त संसार के समस्त प्राणियों के लिये है और यही सब का कल्याणकारी एवं संसार में शांति स्थापित करने वाला है। जब यह विश्वास हो जायगा कि परमात्मा घट-घट व्यापी है, किसी को तकलीफ न देनी चाहिए, उस समय न तो किसी से लड़ाई होगी और न झगड़ा। उस समय सुख एवं शान्ति का राज्य होगा। मनुष्य का कल्याण इसी में है। केवल हिन्दू ही सनातनधर्म की महिमा को न समझें बल्कि मुसलमान, यहूदी तथा ईसाई आदि अन्य मतावलम्बी भी उसके महत्त्व को समझें।

वर्ण-व्यवस्था

सनातनधर्म सबसे पुराना धर्म है। यह प्राणी मात्र के लिये है ? मनुष्य मात्र के लिये है। इसमें और भी बहुत सी बातें हैं। वर्ण चार हैं। यह वर्ण व्यवस्था, जिसकी हँसी लोग उड़ाते हैं, बड़े महत्त्व की चीज है। बहुत से लोग इसकी महिमा को नहीं समझते। यह वर्णाश्रम धर्म ही है जिसकी बदौलत ऊँचे से ऊँचे ब्राह्मण पैदा हुए। उन्होंने अपने लिये यह धर्म समझा कि खेत में जो दाने बोए हुए हैं उनको बटोर चुनकर भोजन करना। यह उन ऋषियों का आदर्श था। ब्राह्मणों ने अपने लिए तो धर्म का काम लिया—दान देना लेना, विद्या पढ़ना पढ़ाना तथा यज्ञ करना कराना। हमारे यहाँ तो लिखा है कि जो दान लेने के समर्थ हो वही दान ले। दूसरों के लिए इसकी निन्दा की है। जो तपस्वी हो उसको दान देने की आज्ञा थी। यदि दूसरे का दान दिया जायगा तो फल नहीं मिलेगा। ब्राह्मण का शरीर सुख करने के लिये नहीं बल्कि इस जन्म में कठिन तपस्या करने के लिए तथा दूसरे जन्म में सुख भोगने के लिए है। जब तक ब्राह्मण इस पर कायम रहेंगे, उनकी उन्नति होती रहेगी। वेदव्यास जी ने ब्राह्मणों के सामने यही उपदेश रक्खा कि माँगना नहीं। जो जंगल में मिल जाय वही भोजन करना। क्षत्रियों का कर्त्तव्य था कि जहाँ जरूरत पड़े वहाँ जान दें लेकिन मान को न जाने दें। वैश्य का धर्म था कि वेद-वेदांग पढ़े और व्यापार करता रहे। जब शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार न था तो वेदव्यास जी ने चारों वेदों का अर्थ महाभारत में भर दिया ताकि सब प्राणी लाभ उठा सकें। स्त्रियों के लिये वेद पढ़ने की प्रथा बहुत पहले से बन्द थी पर ब्राह्मणी स्त्रियां वेद पढ़ सकती थीं।

पुराण, शूद्र और स्त्रियों के लिये थे। सुलभा और जनक के सम्वाद का जिक्र महाभारत में है। व्यासजी ने शुकदेवजी को पढ़ाया और ब्रह्म-ज्ञान समझने के लिये जनक के पास भेजा। दूसरी तरफ सुलभा को वेदव्यासजी जनक के पास भेजते हैं। सुलभा ने राजा जनक के साथ ऐसा विवाद किया कि संस्कृत में क्या किसी दूसरी भाषा में मैंने ऐसा नहीं पढ़ा और न सुना। वह सम्वाद इसलिये था कि मनुष्य के चोले में स्त्रियों पुरुषों में इस विषय में इस तरह विभिन्नता नहीं। जो ज्योति अपने ही भीतर है वह विधि की आँखों से दिखाई पड़ती है। वह स्त्री पुरुष में समान है।

वैश्य के लिये हमारे यहाँ लिखा है कि व्यापार करे। एक ब्राह्मण को जब अपनी विद्या का अभिमान हो गया तो उसे कहा गया कि तिलाधार से काशी जाकर धर्म सीखो। जब इसके पास जाकर ब्राह्मण ने दरियाफ्त किया और धर्म का तत्त्व पूछा तो वह जवाब देता है कि जिसको मैं सौदा देता हूँ, कम नहीं देता; जिससे लेता हूँ, ज्यादा नहीं लेता। यह ईमानदारी वैश्य का धर्म है। यही वजह है कि वेदव्यास जी ने ब्राह्मण को वैश्य के पास भेजा। उस समय

जाति का अभिमान नहीं था। जो ब्राह्मण अच्छा काम करेगा उसकी इज्जत होगी, जो बुरा काम करेगा उसका यश न होगा और शूद्र से भी नीचे गिर जायगा। वह शूद्र जिसमें ब्राह्मण के गुण आ जायेंगे वह ब्राह्मण के समान आदर पाने के योग्य हो जायगा, मगर ब्राह्मण नहीं हो जायगा। यहाँ रोटी-बेटी का सवाल नहीं है, मैं असवर्ण विवाह का पक्षपाती नहीं। ऋषियों-मुनियों ने सवर्ण विवाह के विषय में जो कुछ कहा है, सोच समझकर कहा है। यह सवर्ण विवाह का ही फल था कि अर्जुन के घर अभिमन्यु पैदा हुआ। अगर असवर्ण का विवाह होता तो पुत्र तो होता; किन्तु अभिमन्यु न होता। इस सवर्ण विवाह के बदौलत बड़े-बड़े महात्मा पैदा होते हैं। वेदव्यास जी का कथन है कि जो अच्छा काम करेगा वह अच्छा, जो बुरा करेगा वह बुरा होगा। यदि ब्राह्मण शराब पियेगा तो वह पतित हो जायगा। अपने धर्म के अनुकूल काम करेगा, आदर पायेगा। जो बुरा करेगा, पतित होगा।

वेदव्यास जी महाभारत के वनपर्व में पतिव्रत धर्म के माहात्म्य को लिखते हुए कहते हैं—कौशिक नाम का एक ब्राह्मण तपस्या कर रहा था, ऊपर से एक पक्षी ने बीट कर दिया। ब्राह्मण ने आँख उठा के देखा तो वह पक्षी भस्म हो गया। इसके बाद वह गाँव में भिक्षा के लिये गया। एक स्त्री से जाकर उसने भिक्षा माँगी। वह भिक्षा लेने अन्दर गई, पर वहाँ पति-सेवा में इतनी तल्लीन हो गई कि भूल गई कि बाहर भिक्षा के लिये ब्राह्मण खड़ा है। बाहर आकर उसने क्षमा माँगी। ब्राह्मण उद्धत स्वर में बोला, "तुम अपने पति को बड़ा समझती हो और मेरा अनादर करती हो"। स्त्री ने जवाब दिया कि पति मेरे लिए देवता हैं, पर मैं आपका भी निरादर नहीं करती। मैं पक्षी नहीं कि आप की दृष्टि से भस्म हो जाऊँ। मेरा धर्म है कि सबसे पहिले पति की सेवा करूँ। अगर धर्म सीखना हो तो धर्म व्याध के पास जाओ। ब्राह्मण समझ गया कि इसके पास कोई शक्ति है कि यहाँ बैठे उस पक्षी के भस्म हो जाने की बात जान गई। वह मिथिला नगरी में व्याध के पास गया। व्याध ने कहा—मैं जानता हूँ कि अमुक स्त्री ने तुम्हें मेरे पास भेजा है। ब्राह्मण ने प्रश्न किया 'तुम चाण्डाल हो, तुम्हें धर्म का ज्ञान कैसे हुआ'? उसने कहा कि मैं जीवों को मारता नहीं किन्तु मांस बेचता हूँ। यही मेरे कुल का धर्म है। मैं उसको नहीं छोड़ता। भगवान् ने गीता में कहा है कि जो जिसका धर्म है वह वैसा करे। इसके बाद ब्राह्मण को अन्दर की कोठरी में ले गया। वहाँ एक सिंहासन पर उसके बूढ़े माता-पिता बैठे थे। व्याध कहने लगा—यह मेरे देवता हैं। मैं इनकी पूजा करता हूँ। इनको प्रसन्न करना मेरा धर्म है। कौशिक ने व्याध से कहा—तुम बड़े भाग्यवान हो, पर तुमने माता-पिता का निरादर किया। तुम वेद पढ़ने घर से आए तो माता-पिता को नाराज करके, जिससे उनकी आँखें नष्ट हो गईं। फलतः तुम्हें धर्म का ज्ञान नहीं हुआ। जाओ, पहले माता-पिता की सेवा करो। ब्राह्मण ने उस व्याध चाण्डाल की परिक्रमा की

और कहा कि तुम इस समय मुझे ब्राह्मण मालूम पड़ते हो। तुम्हारी योग्यता तो ब्राह्मण का है। चाण्डाल ने कहा कि पहले जन्म में मैं भी ब्राह्मण था। शिकार खेलता था। शिकार खेलते ऋषियों को निशाना बना देता था। उन्होंने श्राप दिया कि व्याध हो जाओ। जब मैंने विनीत प्रार्थना की तो प्राण देने से पहिले मुझसे उन्होंने यह कहा कि होगे तो तुम व्याध ही, पर तुम्हें पहले जन्म का ज्ञान रहेगा। इससे तुम्हें सहायता मिलेगी। तब वह ब्राह्मण उस व्याध के आदेशानुसार घर गया। तात्पर्य यह है कि हमें अपनी जाति का अभिमान नहीं करना चाहिए और न दूसरी जाति का निरादर करना चाहिए। जो ब्राह्मण कुछ पढ़ा लिखा हो, उसका आदर करो। जो भ्रष्ट आचरण का है उसका मोहल्लेवाले क्या, घर ही के लोग नहीं आदर करते। यदि चाण्डाल सदाचारी है तो ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के बराबर उसका आदर होना चाहिए। सदाचार के कारण वह इस योग्य हो गया कि ब्राह्मण देवता उसके घर जाय।

पद्मपुराण में मूक चाण्डाल की कथा है। भगवान् उसके घर के मंदिर में वास करते थे। जब एक ब्राह्मण ने पूछा तो जवाब में कहा कि यह माता-पिता का भक्त है। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर मैं उसके घर में वास करता हूँ। वेदव्यास जी कह गये हैं कि चाण्डाल यदि नेकचलन हो तो वह भी सम्मान का पात्र है। किन्तु ब्राह्मण कभी सदाचार से गिर जाय तो वह आदर के योग्य नहीं। जानना चाहिए कि जैसा कर्म वैसी गति। जो सनातन-धर्म को ठीक नहीं समझते हैं उनको विचारने की बात यह है कि लोग कहते हैं कि जात पाँत तोड़ो। कई तोड़ने वाले आए और चले गये। वे उसको तोड नहीं सके और न तोड़ सकते हैं। प्रेम के रास्ते को निकाल लो—जहाँ कड़ुआपन है—अभिमान है—उसको निकाल दो। जाति न टूटी है, न टूटेगी। अगर ब्राह्मण तपस्या करने वाला हो जाए तो कहिए जाति का मान बढेगा या नहीं ? भक्त माल में कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि कितने शूद्र तपस्वी बन गये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जो सच्चे हैं उनका आदर होना चाहिए। अपनी जाति के कार्य को अच्छा करने से मान होता है। धर्म के और भी बहुत से लाभ हैं। अगरेज जानते हैं कि लकाशायर के जुलाहे जितना सुन्दर कपडे बनाते हैं, और लोग नहीं बनाते। काशी के जुलाहे अब भी कीमखाब का काम जितना उम्दा और नफीस करते हैं, और नहीं करते। जाति का अभिमान मत करो, किन्तु इसके गुण की महिमा समझो।

आश्रम-धर्म

आश्रम-धर्म ऐसी फिलासफी दुनियाँ के पर्दे पर और कहीं नहीं मिलती। जो मनुष्य नियम से रहे, किसी का बुरा न करे, वह १०० वर्ष तक जिएगा। जो माता पिता धर्म से रहे, उनकी सन्तान में तीन कुल तक पुण्य रहता है। तीन

कुल में जिसके माता-पिता अच्छे सदाचार वाले हैं वहाँ १०० वर्ष तक की आयु है। २५ वर्ष तक पढ़ो लिखो, गुरुकुल में जाओ। नियम से रहो। कठोर तपस्या करो। गुरु के आशीर्वाद के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो। अपने वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करो। ७५ वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहो। सन्तान उत्पन्न करो। ५० वर्ष के बाद लड़कों को काम सौंप दो। लालच मत करो। स्त्री को संग ले देश-विदेश घूमो। जब हिम्मत नहीं रहेगी, बुड्ढे हो जाओगे तब सेवा क्या करोगे? ७५ वर्ष के बाद संन्यास धारण करो। देखिए! यह आश्रम-धर्म मनुष्य को कितना अच्छा रास्ता बतलाता है। यह सनातन-धर्म कितनी उदारता से भरा हुआ है। यह किसी को नुक्सान नहीं पहुँचाता। वह कहता है कि जो जीव तुम्हे नुकसान नहीं पहुँचाते, उन्हें मत मारो।

अगर कोई जीव तुम पर वार करता है, चोट पहुँचाता है तो वह आततायी है, उसको मारो, किन्तु निर्दोषी जीव की हत्या न करो। पिद्दी को मारने से क्या बनता है? लोग कहते हैं कि यज्ञ में पशु-वध का विधान है किन्तु वे यह नहीं समझते कि यह तुम्हें जीव हिंसा से रोकने के लिए लिखा है। यह वर्णाश्रम धर्म की महिमा है। आयुर्वेदवाले कहते हैं कि २५ वर्ष के पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री का परस्पर संबंध होना चाहिए। इस अवस्था से पहले जो बालक होगा, वह या तो मर जायगा या दुर्बल होगा। जब नियम के अनुसार विवाह होते थे तब भीष्म और द्रोण पैदा होते थे और यदि अब उनको पैदा करना चाहते हो तो आश्रम-धर्म का पालन करो। बताओ! दुखिया होकर रहना चाहते हो या वीर होकर? वैद्यों के पास जाना चाहते हो या सिंह बनकर रहना चाहते हो? पहले २५ वर्ष ब्रह्मचारी बनो तब अंग्रेज का सामना कर सकोगे। अब जो दशा है उसे मैं अपनी जिह्वा से नहीं कहना चाहता। ब्रह्मचर्याश्रम सब धर्मों का मूल है, नींव है। नींव कमजोर होजायगी तो क्या करोगे? सनातन-धर्म का उपदेश यही है कि पहले २५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहो।

संसार में सनातनधर्म के समान कोई दूसरा धर्म नहीं जो कि हमें यह बतलाता हो कि सब प्राणिमात्र में जीव है। यह धर्म सबसे प्रेम करना सिखलाता है, तब यदि मुझे सनातनधर्म में इतना प्रेम है तो आश्चर्य ही क्या? भारत के समान अन्य देशों के विद्वान् भाई इस धर्म का आदर करते हैं। बड़े-बड़े उच्चकोटि के विद्वानों ने इस धर्म की प्रशंसा की है। जर्मन और अमेरिकन इस धर्म की प्रशंसा करते हैं। आज संसार के भिन्न-भिन्न भागों में यह धर्म फैल रहा है। इस धर्म के प्रचार के लिए अफ्रीका में सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा ने अपने विद्वानों को भेजा। इस सनातनधर्म को समझो, इसकी रक्षा करो। इसके प्रचार से इस लोक में और परलोक में लाभ है, इससे इस लोक में तथा दूसरे लोक में प्रतिष्ठा और अभ्युदय है। मैं तो इस धर्म पर मोहित हूँ। मैं तो चाहता हूँ कि सब भाई इस धर्म को समझें, इसका प्रचार करें। यह प्रचार

कथाओं के द्वारा होना चाहिए। केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में ही प्रचार न हो बल्कि सबमें होना चाहिए। मनु भगवान् कहते हैं कि ब्राह्मण चारों वर्णों को उपदेश दे। हाथ तो इसके भी दो ही हैं फिर इतनी महिमा क्यों ? लंगोटी तो वह पहने हुए है फिर उसके पाँव क्यों छूते हैं ? इसलिये कि ब्राह्मण में तेज है।

अछूत

आज तो हमें अछूत का वहम लग गया है। किसी ने लिख दिया कि सात करोड़ अछूत हैं। सब लोक "कौवा कान ले गया, कौवा कान ले गया" के अनुसार इसको भी मान बैठे हैं। कोई नहीं सोचता कि वास्तव में कितने अछूत हैं ? कहाँ से आए ? क्या जितनी निर्धन जातियाँ हैं सभी अछूत हैं ? शास्त्रों में अन्त्यज जातियों का वर्णन आया है। अन्त्येसायी में धोबी, मल्लाह, मोची, रंगरेज, नट आदि के विषय में लिखा है कि यदि इनसे छू जाओ तो आचमन कर लो। उनका जो छूतपन है उसका दोष इससे नष्ट हो जायगा। ऐसे लोगों को भी हमारे मित्रों ने अछूत कह दिया, यद्यपि आचमन मात्र से इनकी शुद्धि हो जाती है। धोबी जो कपड़े धोकर लाता है क्या आप उसे नहीं पहनते हैं ? ऐसे भी प्राणी हैं जो जब शौच होने के लिये जाते हैं तो आकर नहाते हैं। क्या ऐसे लोग अगर किसी से छू जाँय और आचमन कर लें तो किसी को शिकायत का क्या मौका हो सकता है ? वह जो करते हैं, उन्हें करने दो। शास्त्रों में चाण्डाल, डोम और रजस्वला स्त्री के विषय में लिखा है कि उनको जो छू जाय वह स्नान करे। मैं आपको यह दिखला रहा हूँ कि लिखा है अवश्य; किन्तु इसके साथ यह भी लिखा है कि तीर्थ, यात्रा, देवालय, सड़क आदि में तथा नगर में आग लगने के अवसर पर छुआछूत का विचार नहीं होता। नगर पर संकट पड़ने पर छुआछूत का विचार नहीं है। जहाँ अलग करना चाहते हो, करो। किन्तु जहाँ यह सम्भव नहीं वहाँ मत करो। तीर्थ पर कोई छुआछूत नहीं होती। तीर्थराज प्रयाग में मैं घूमा हूँ। वहाँ पर स्नान करके हम भी निकलते हैं और भंगी भी। सबको वहाँ समान अधिकार है, किसी को छू जाने का दोष नहीं। इसी प्रकार संग्राम में, आग लगने के समय, बाजार में, देवता के घर में कोई छूत नहीं है।

पद्मपुराण में लिखा है कि मन्दिर में जो मूर्ति है, उसका दर्शन करनेवाले को सब पृथ्वी का फल मिल जाता है। जो हरि का नाम जपता है और मुख पर जिसके हरि का नाम है, जिसने मुख से हरि का नाम उच्चारण किया उसको सब तीर्थों का फल प्राप्त हो गया। उसको देखकर, उसके दर्शन करके पुण्य प्राप्त होता है। अजामिल का उदाहरण आपके सामने है। इस पुराण में लिखा है कि भगवान् के सामने जो ऊँचे स्वर से भजन करता है, नाचता है, वह जगत् को पवित्र करता है। हमारे पूर्वजों ने समझ लिया था कि कलियुग

आने वाला है इसलिए सँभलकर उन्होंने मार्ग बना दिए। २४ करोड़ में से ३ करोड़ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हैं बाकी २१ करोड़ शूद्र हैं। इनमें से थोड़े से जो भंगी हैं—वे अछूत हैं। बाकी सब मन्दिर में जाते हैं। इन्हें कौन न्याय से कह सकता है कि वह अछूत हैं ?

शिवपुराण में लिखा है कि जो बड़े से बड़ा पतित भी हो यदि वह एक रुद्राक्ष गले में डाल ले तो वह पवित्र हो गया। उसका पाप कट गया। विष्णु पुराण में लिखा है कि तुलसी गले में डालने से भक्त बन जाता है। वल्लभकुल के गोसाईं जो कंठा देते हैं, मन्त्र देते हैं, उसको धारण करने से मनुष्य पवित्र हो जाता है।

मुनियों ने ये मार्ग इसलिये रचे थे कि प्राणिमात्र का कल्याण हो, इसलिये नहीं कि इन्हें न पढ़ो और न व्यवहार में लाओ।

यहाँ आते हुए रास्ते में मुझे बहुत से भाई मिले और कहने लगे कि उन्हें इस अशान्ति से बहुत दुःख हो रहा है, ऐसा करो कि शान्ति हो जाय। इसलिये इस पर विचारने की आवश्यकता है कि किसी तरह काम भी चल जाय और उनका भला भी हो। मुझे स्वयं दुःख हो रहा है। मैं चाहता हूँ कि शास्त्रीय नियमों के अनुसार इसका निर्णय हो। यज्ञोपवीत तीन वर्णों को दिया जाता है, चौथे को नहीं। यह अलग बात है कि कुछ भाई कहते हैं कि चौथे को भी दिया जाता था। इस प्रश्न को जाने दीजिए। शिवपुराण में कथा है कि जगन्माता पार्वती जी भगवान् शिव जी से पूछती हैं कि कलियुग में आपके भक्तों का कल्याण कैसे होगा ? इस पर शिव जी महाराज कहते हैं कि जो इस कलिकाल में पचाक्षर मन्त्र ॐ नमः शिवाय जपेगा उसका कल्याण होगा, चाहे वह नीच (डोम, चाण्डाल) ही हो, उसको मोक्ष प्राप्त होगा।

पचाक्षरी विद्या क्या है ?—'ॐ नमः शिवाय'। कोई इसको पचाक्षर कहता है, कोई षडक्षर। कोई छः अक्षरों से जपे अथवा बिना ॐ के पाँच अक्षरों से जपे। जो इसे जपेगा वह चाहे नीच हो, सदाचार हीन हो तो भी उसका कल्याण होगा। यह मन्त्र सदा सबको फल देता है। यह भगवान् शिव का उपदेश सब प्राणियों के लिये है। बतलाइये क्यों न इस मन्त्र की दीक्षा अन्त्यजों को दी जाय ? अन्त्यजों की बात ही क्या है, आज तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सब गिर रहे हैं। उनका यज्ञोपवीत समय पर नहीं होता। वे सन्ध्या नहीं करते। प्राचीनकाल में तो स्त्रियां भी सन्ध्या करती थीं। जब भगवान् राम अपनी माता कौशल्या के पास आये तो उस वक्त वे सन्ध्या कर रही थीं, ऐसा रामायण में लिखा है।

इस पञ्चाक्षर मन्त्र के अतिरिक्त 'ॐ नमो भगवते वासुदेव' द्वादशाक्षरी मन्त्र और 'ॐ नमो नारायणाय' आठ अक्षरी मन्त्र हैं। इन दोनों मन्त्रों की महिमा आपको नृसिंह पुराण में मिलेगी। शुकदेवजी वेदव्यासजी से पूछते हैं कि ऐसा

मंत्र बतलाओ जो संसार के हित का हो। उन्होंने आठ अक्षरी मंत्र 'ॐ नमो नारायणाय' का जप करने को कहा। यह मूलमंत्र है। स्त्री, शूद्र इन सबके लिये यह मंत्र है। जिसको यह मंत्र दिया गया, उसके सब पाप कट गए। तीर्थ का फल मिल गया। बतलाइये शास्त्र के वचन झूठे हैं या सच्चे? (जनता—सच्चे) यदि मैं झूठा हूँ तो विद्वन्मण्डली मुझे बतावे, मैं क्षमा मागूँगा। यदि मैं गलती पर हूँ तो क्षमा करना। अब समय की दशा को देखो। जबतक मुसलमान नहीं आए थे तबतक और बात थी। मुसलमानों ने कितनों को मुसलमान बनाया। ईसाइयों ने कितनों को ईसाई बनाया। आज तो सात करोड़ मुसलमान मिलते हैं, अधिकतर हिन्दुओं में से ही हैं। आज ईसाई एक व्यक्ति को बपतिस्मा देता है, ईसाई का नाम देता है तो उसे ईसाई बना लेता है। कलमा पढ़ने से एक हिन्दू को मुसलमान बना लिया जाता है। भाइयों! बहनों! मैं हाथ जोड़ कर पूछता हूँ कि क्या हमारे मंत्र में शक्ति नहीं कि इससे एक पापी भी पवित्र हो जाय (जनता—है)। हमारे पुराणों के विषय में यदि कोई यह कहे कि पुराणों के वचन सत्य नहीं तो मेरे आत्मा को शूल लगेगा। हमारे शास्त्र विस्तार के साथ कहते हैं कि जिसने 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र की दीक्षा ली, प्रातः तथा सायं जप किया, भगवान् की स्तुति की; जिस समय वह मंत्र उच्चारण करता है वह पाप से छूट जाता है। 'ॐ नमो नारायणाय' का अर्थ है "सारे जगत के प्राणियों की रक्षा करने वाले नारायण को नमस्कार करता हूँ।" जब यह भाव पैदा हो गया तब फिर पाप कहाँ? अब प्रश्न करते हैं कि शिव और विष्णु दो नाम क्यों हैं? जब एक भगवान् है तो दूसरा क्यों नहीं है? सुनिए, ईश्वर के तीन नाम हैं (१) ब्रह्मा (उत्पत्ति करने वाला), (२) विष्णु (रक्षा करने वाला), (३) शिव (संहार करने वाला)। वही उत्पन्न करता है, पालन करता है और फिर ज्योति को खींच लेता है। तीनों उसी के रूप हैं। जैसे एक व्यक्ति को उसका लड़का पिता कहता है, उसका पिता लड़का कहता है, स्त्री पति कहती है, इसी प्रकार भगवान् एक है। नाम भिन्न हैं। सब जीवों में परमात्मा व्याप्त है, यह ज्ञान देना ही काम है। अब देखना चाहिए कि जो मन्त्र हैं, उनसे दीक्षा दें। चन्दन के वृक्षों के समीप वाले अन्य वृक्ष भी चन्दन की सुगंध से भरपूर हो जाते हैं। अच्छा काम करने से मनुष्य का वर्ण ऊँचा हो जाता है, बुरा काम करने से वर्ण नीचा हो जाता है।

यह एक गप है कि अछूत सात करोड हैं। मैं कहता हू कि जिन वर्णों को यज्ञोपवीत का अधिकार है, वे लें। बाकी सब दीक्षा लें। क्या दीक्षा मे इतनी शक्ति नहीं कि छुआ-छूत के असर को दूर कर दे? शास्त्रों में कहा है कि मन्दिर तीर्थ मे कोई दोष नहीं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि युवक दल अछूतों को मन्दिरों मे ढकेलें और दूसरों की आत्माओं को दुःख पहुचावें। हमारा काम शास्त्र के प्रचार का है। मैं मन्दिर-प्रवेश-बिल का विरोधी हू। मैं चाहता हूँ कि इसे वापस ले लिया जाय। गांधी जी को भी यह बिल प्रिय नहीं है। मैं उन्हें भी

यही कहूँगा कि वे इस बिल को वापस लें। यह चाहते हैं कि यदि इस प्रकार ही काम हो जाय, तो अच्छा है। वे चाहते हैं कि इस तरह काम में बाधा न हो। मैं आप से यह कहता हूँ कि जब आप एक रोगी को कहते हैं कि रोटी न खाओ तो क्या उसे और कुछ खाने को दोगे या नहीं? मैं चाहता हूँ कि आप विद्वान् इस प्रश्न पर विचार करें कि क्या करना है? रेल और बाजार में सब छू जाते हैं। अगर कल कोई एक नीच मुसलमान हो जाय तो आकर तुम्हारे पास बैठ जाता है, तो एक नीच जो कि चोटी रखता है, राम नाम जपता है, पूजा करता है, पितृ-तर्पण करता है, बतलाओ अगर वह भाई साथ आकर बैठ जाय तो क्या मेरे दिल में भाव होगा कि वह कभी न आवे। बल्कि मैं तो कहूँगा कि वह भी आये और उसके साथ और भी आयें। क्या आप प्रसन्न होंगे, यदि वह मुसलमान बन जाय? जो करने की बात है वह यह है कि जब और स्थानों पर मंदिर के बाहर छुआ-छूत हो जाती है और दोष नहीं लगता तो फिर यहाँ क्यों? एक शास्त्र तो कहता है कि भीतर जाने से दोष नहीं तो कहाँ जाने से दोष होता है? मैं यह नहीं कहता हूँ कि भंगी और डोम आकर शिव जी का पूजन करें यद्यपि इसका भी प्रमाण शास्त्रों में है। मैं तो यह कहता हूँ कि दूर से दर्शन कर लेने दो। प्रवेश न करें जब तक कि उन्हें दीक्षा न दो। अधिकार की बात तो मैं पहले ही कह चुका हूँ, अब नियम की बात लो। एक कठघरा लगा दो। गर्भ द्वार के भीतर मैं नहीं चाहता कि कोई जाय। मेरे घर में भगवान् की मूर्त्ति है। जब मैं इन कपड़ों में जाता हूँ तब स्वयं भी मूर्ति को स्पर्श नहीं करता, केवल दूर से ही स्तुति कर लेता हूँ। किन्तु जब घर से नहा धोकर निकलता हूँ तब मूर्ति को छूता हूँ। स्मरण रक्खो कि यदि इन अछूतों में से भी कोई ऊँचा भक्त हो जाय तो उसको रोकने का आप को और मुझे कोई अधिकार नहीं। मैं नहीं चाहता कि कोई अछूत जबरदस्ती मन्दिर में जाय। मैं किसी का गला दबाना नहीं चाहता। यदि मंदिर के अधिकारी मान जायँ तब तो अच्छा है, नहीं तो जहाँ और मन्दिर हों वहाँ दर्शन करा लो। विश्वास रक्खो कि जहाँ इतनी उन्नति हो गई है वहाँ और भी हो जायगी। सच्चे अछूत कभी यह नहीं चाहेंगे कि वह मैले वस्त्रों और गन्दी दशा में मूर्त्ति का स्पर्श करें, वे दर्शन करें। वे तो दर्शन के भूखे हैं। जब तक वे शुद्ध न होंगे तब तक वे स्वयं न छुएँगे। इस प्रकार मिल कर कोई नियम बनाओ कि इनको भी दर्शन कर लेने दो। मन्दिर के विषय में बल प्रयोग न करो। किसी सनातनधर्मी का हृदय न दुखे। जहाँ आज्ञा है, जाओ, जहाँ न हो, मत जाओ। जहाँ ऐसी शंका हो कि लोग न मानेंगे तो नया मन्दिर बना दो क्योंकि मंदिर भावना से बनते हैं। एक छोटे से मकान के आले में मूर्ति रख दो, वेद के वचनों से उसकी प्रतिष्ठा करो, बस वही मंदिर है। पूजा की और भी रीतियाँ हैं—जैसे अग्नि में आहुति, जल का अर्घ्य, आकाश, आत्मा, गुरु आदि इस प्रकार आठ रीतियों से पूजा होती है। मेरे मन को पूजा से प्रेम है, मैं अपने भावों को आपके सामने रख रहा हूँ।

ईश्वर घट-घट व्यापक है। इसका विश्वास दिलाना आपका काम है। आत्मा में, गुरु में, जल में, अग्नि में प्रतिमा में पूजन करो। लोग कहते हैं कि वे मूर्ख हैं जो मिट्टी की मूर्त्ति का पूजन करते हैं, चन्दन चढ़ाते हैं। सुनो! हम तो इसके द्वारा उस भगवान् की ही पूजा करते हैं। हम कहते हैं, "भगवान् मैं तुम्हें वस्त्र अर्पण करता हूँ। तुम्हारे शरीर का कोई पता नहीं। जहाँ तुम्हारा शरीर हो वहाँ ही इस वस्त्र को ले लो। यह धूप अर्पण करता हूँ। हे भगवन् आपकी महिमा का देवता भी पार नहीं पावे।" बतलाओ, वह मिट्टी को कहता है या भगवान् को? यह मूर्त्ति तो निमित्त मात्र है। क्योंकि इस तरह ध्यान नहीं लगता इसलिये अपनी भावना बनाता है। प्रत्येक अछूत को अधिकार है कि वह अपने घर में प्रतिमा रक्खे। मेरी इच्छा है कि प्रतिमा के रूप में भगवान् को सबके घर पहुँचा दूँ, ताकि वह पूजन करें।

जो आर्य सनातनधर्मी भाई चाहते हों कि अछूतोद्धार हो उन सबसे मेरी विनती है कि शीघ्रता मत करो। देखो मेरे पिताजी के विचार मेरे जैसे न थे किन्तु मैं उनको आदर की दृष्टि से देखता हूँ। जिन से तुम्हारे विचार न मिलते हों उनका भी आदर करो। यदि मेरे वचनों से किसी को दुःख हो रहा हो तो मैं हाथ जोड़ कर क्षमा मांगता हूँ। एक और बात का बड़ा दुःख है कि रावलपिण्डी में दो सनातनधर्म सभायें हो गई हैं और दुख इस बात का है कि लोगों के हृदय में कडुआपन आगया है। सबसे विनती है कि जिससे भूल हो गई है उसका विचार न करो। भूल सबसे होती है। धर्म के मैदान में मिलकर काम करो। जो मतभेद है उसको मिटाना है। इस सम्मेलन में क्या प्रस्ताव होंगे वह आपको मालूम होगे। प्रयत्न करो कि ऐसे प्रस्ताव रक्खे जायें जिनपर सब एकमत हो। सनातनधर्म की शक्ति दुर्बल है। इस गृह कलह से और दुर्बल मत करो।

———

भक्ति की महिमा

इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं कि हर एक विचारशील हिन्दू मानता है या मान लेगा कि अन्त्यजों का उद्धार करना सारी हिन्दू-जाति का धर्म है। दो कारणों से, एक यह कि वे हमारी परम आवश्यक और उपकारी सेवा करते हैं इसलिए उनका उपकार करना हमारा धर्म है; दूसरे यह कि वे हमारे सधर्मा हैं। जिस सनातनधर्म को हम मानते हैं उसी को वे भी मानते हैं। बहुत-सा भय और बहुत-सा लालच दिखाये जाने पर भी और बहुत-सा क्लेश सहने पर भी उनकी श्रद्धा आज तक इस धर्म में बनी है। वे हमारे हैं और हमारा सनातनधर्म हमको उन दीन भाइयों के उद्धार करने का उपदेश करता है और उसका उत्तम और सरल मार्ग बतलाता है—वह भक्ति का मार्ग है। नारदजी का वचन है :—

सत्यादि त्रियुगे बोध वैराग्यौ मुक्ति साधकौ ।
कलौ तु केवलं भक्तिर्ब्रह्म सायुज्य कारिणी ॥

सत् युग, त्रेता, द्वापर में ज्ञान और वैराग्य, मोक्ष के देनेवाले होते हैं। कलियुग में तो केवल भक्ति भजनेवाले को भगवान् से मिला देती है। नारदजी ने भक्ति के प्रति कहा है :—

त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका ।
त्वयाहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि ॥

कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्ति वरानने ।
तस्मिंस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने ॥

अन्यधर्मांस्तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य महोत्सवान् ।
तदा नाहं हरेर्दासो लोके त्वान्न प्रवर्त्तये ॥

त्वदन्विताश्च ये जीवा भविष्यन्ति कलाविह ।
पापिनोऽपि गमिष्यन्ति निर्भयं कृष्णमन्दिरम् ॥

येषां चित्ते वसेत्भक्तिः सर्वदा प्रेमरूपिणी ।
न ते पश्यन्ति कीनाशं स्वप्नेऽप्यमलमूर्त्तयः ॥

पद्मपुराण, भागवत माहात्म्य

सनातनधर्म वर्ष, १ अंक १ ।

हे भक्ति! तुम तो भगवान् की प्यारी हो, सदा उनको प्राण से भी अधिक प्रिय हो। तुम्हारे बुलाने से तो भगवान् नीचों के घर भी चले जाते हैं।

हे सुमुखि! कलि के समान कोई दूसरा युग नहीं है। इससे मैं तुमको घर-घर में, प्राणी-प्राणी के हृदय में बैठाऊँगा।

दूसरे धर्मों को अलग रख, महोत्सवों को आगे रख, मैं तुमको संसार में न फैला दूं तो हरि का दास नहीं। इस कलियुग में जिन प्राणियों में भगवान् की भक्ति होगी, वे यद्यपि पापी भी क्यों न हों; निर्भय होकर कृष्ण मन्दिर को, वैकुण्ठ को जावेंगे। जिनके चित्र में प्रेम रूपी भक्ति सदा बसेगी, वे विमलमूर्ति स्वप्न में भी यमराज को नहीं देखेंगे।"

भगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा है:—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

"कोई कैसा भी दुराचारी क्यों न हो, जो मुझको अनन्यभाव से भजता है, उसको मान लो कि वह साधु ही है। उसने अच्छा निश्चय किया है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा होता है और सदा ठहरने वाली शान्ति को पता है। हे अर्जुन! मैं तुमसे प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मेरे भक्त का भला ही होता है, बुरा नहीं होता।"

श्रद्धाना मत्परमा भक्ताऽतीव मे प्रियाः।

"श्रद्धावान् मपत्रायण भक्त मुझको अत्यन्त प्रिय हैं"। इसी अभिप्राय को गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने ललित गम्भीर शब्दों में कहा है:—

भक्तिवंत अति नीचहु प्रानी। मोहि प्राण सम प्रिय मम बानी।
भक्ति विहीन विरंचि किन होई। सब जीवन सम प्रिय मोहि सोई॥

अन्त्यजों के उद्धार करने का यही सर्वोत्तम मार्ग है कि हम उनको श्रद्धाधान् भगवद्भक्त बनने में सहायता दें। भक्ति-साधन के अनेक मार्ग बताये गये हैं। उनमें से मैं विशेपकर दो उपायों को सामान्य मनुष्यों के लिये विशेष उपकारी मानता हूँ—वह एक कीर्त्तन अर्थात् नामस्मरण, दूसरा भगवान् की मूर्ति का दर्शन।

नाम का स्मरण सामान्य से सामान्य प्राणी के लिये भी सरल बात है, किन्तु बड़े फल का देनेवाला है। नाम स्मरण की महिमा इसलिये है कि

"यतस्तद्विषया मतिः" नाम के स्मरण से मनुष्य की मति ईश्वर की ओर जाती है। उनके गुणों के स्मरण से मनुष्य के दोष और पाप छूट जाते हैं। मन पवित्र तथा प्रकाशमान् होता है। अजामिल की कथा प्रसिद्ध है। वह कितना बड़ा पापी था तो भी 'नारायण' उच्चारण करने से वह सब पापों से छूट गया।

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥

सब पापियों के लिये यही उत्तम प्रायश्चित्त है कि वे भगवान् का नाम जपें जिससे उनके मन में भगवान् की भावना जागे। अन्यत्र लिखा है:—

नाम संकीर्त्तनं विष्णोः सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥
भागवते

नाम स्मरण से चांडाल श्वपाक भी पवित्र हो जाता है—इस बात को माता देवहूती जी ने बड़े प्रेम से भरे ऊँचे स्वर से कहा है:—

यन्नामधेयश्रवणाभिधानात्
यत्प्रह्वणात् यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्तु दर्शनम्॥
अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्।
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्॥
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्य्याः।
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
भागवते

"भगवन्! जो आप के नामों के श्रवण से वा कीर्त्तन करने से या आपको नमस्कार करने से अथवा कभी आप का स्मरण करने से साक्षात् चाण्डाल हो तो वह भी सोम याग करने वाले पुरुषों के समान आदर के योग्य हो जाता है, तो हे भगवन्! आपके दर्शन करने की महिमा को मैं क्या कहूँ।"

अहा हा, हे परमेश्वर! वह चाण्डाल इसलिये श्रेष्ठ है कि उसकी जिह्वा पर आपका नाम रहता है। जो लोग आपके नाम का कीर्त्तन करते हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष सब तप कर चुके, सब हवन कर चुके, सब तीर्थों में स्नान कर चुके और उन्होंने सब वेदों का पठन-पाठन कर लिया; क्योंकि सब पुण्य फल आपके नाम कीर्त्तन से प्राप्त हो जाते हैं।

पद्मपुराण में लिखा है :—

तीर्थानाञ्च परं तीर्थं कृष्णनाम महर्षयः ।
तीर्थीकुर्वन्ति जगतीं गृहीतं कृष्णनाम यैः ॥
तीर्थादप्यधिकन्तीर्थं विष्णोर्भजनमुच्यते ।
तस्मात् भजध्वं मुनयः कृष्णं परं मङ्गलम् ॥
मूर्खं वा पण्डितं वाऽपि ब्राह्मणं केशवप्रियम् ।
श्वपाकं वा मोचयति नारायणः स्वयंप्रभुः ॥
विष्णुभक्तिं विना नृणां पापिष्ठानां विशाम्वर ।
उपायोनास्तिनास्त्यन्यः सन्तर्तुं नरकाम्बुधिम् ॥
प्रतिमाञ्च हरेर्दृष्ट्वा सर्वतीर्थफलं लभेत् ।
विष्णुनाम परं जप्त्वा सर्वमंत्रफलं लभेत् ॥
पुल्कसः श्वपचो वापि ये चान्ये म्लेच्छजातयः ।
तेऽपि वन्द्या महाभागा हरिपादैकसेवकाः ॥
किम्पुनर्ब्राह्मणा पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

इन सब वचनों से स्पष्ट है कि भगवन्नाम जपने से पुल्कस और श्वपच भी आदर के योग्य हो जाते हैं।

हरेरग्रे स्वनैरुच्चै नृत्यंस्तन्नामकृन्नरः ।
पुनाति भुवनं विप्राः गंगादिसलिलं यथा ॥
दर्शनात्स्पर्शनात्तस्य आलापादपि भक्तितः ।
ब्रह्महत्यादिभिर्पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥
येषां मुखे हरेर्नाम हृदि विष्णुः सनातनः ।
उदरे विष्णु नैवेद्यं स श्वपाकोऽपि वैष्णवः ॥

—पाद्मे

यस्य नाम महापापराशिं दहति सत्वरम् ।
तदीयचरणं वन्दे भक्तिर्यस्य स वैष्णवः ॥

इन सब वचनों से यह सार निकला है कि जो श्रद्धावान् भक्त है, वह चाण्डाल या श्वपच भी क्यों न हो, यदि वह श्रद्धा भक्तिपूर्वक देव दर्शन की अभिलाषा से मंदिर में जावे तो उसके देखने से, उसके बोलने से, उसके स्पर्श करने से किसी प्राणी को भी दोष नहीं प्राप्त हो सकता वरन्-पुण्य प्राप्त हो सकता है।

मंत्र-महिमा

भगवान् के नाम अनन्त हैं। विष्णु सहस्र नाम और शिव सहस्र नाम उन नामों को पूर्ण रूप से नहीं गिना सके। उनमें से किसी एक नाम को भी जो मनुष्य श्रद्धा-भक्ति से उच्चारण करे तो उसका सब प्रकार से मंगल होगा। किन्तु जिस प्रकार से ईख का रस निकाल कर कुज्जे में भर दिया जाता है और उससे उसका गुण थोड़े स्थान में बहुत हो जाता है, इसी प्रकार से जगत् का हित चाहने-वाले ऋषियों ने कुछ मंत्र विशेष प्रकाश कर दिये हैं जिनके जपने का अधिकार ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक को है। इस विषय को मैं मंत्र-महिमा नामक छोटी पुस्तक में विस्तार से लिख चुका हूँ।

इन मंत्रों की महिमा अति गम्भीर है। मेरी बहुत दिनों से यह प्रार्थना है कि ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त समस्त हिन्दू सन्तान इन मंत्रों की दीक्षा लें और उससे ऐहिक और पारलौकिक लाभ उठावें।

वैष्णव तंत्र मे लिखा है :—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः।
तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम्॥

जैसा कांसे पर रस का प्रयोग करने से वह सोना हो जाता है वैसा ही दीक्षा के लेने से मनुष्य द्विजत्व को प्राप्त करता है।" इस विषय को मैं पुनः अधिक विस्तार के साथ कभी निवेदन करूंगा।

अन्त्यजोद्धार विधिः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वंदनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥

भागवते।

करुणामूर्तिना येन चतुर्वर्गस्य साधकाः।
चत्वारो रचिता वेदा वर्णाश्चत्वार आश्रमाः॥
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे विश्रुते रणमूर्धनि।
यो ह्यदादर्जुनं ज्ञानं विशुद्धं विजयप्रदम्॥
सच्चिदानंदरूपाय विश्वोत्पत्यादिहेतवे।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः॥
यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः॥

भारते।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽवधीत्॥

मनुः।

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्त्यजेद्धर्मं जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

व्यासः।

नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थकारणात्।
न हेतुवादाल्लोभाद्वा धर्मं जह्यां कथंचन॥

कृष्णः भारते।

विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगिता।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते॥

देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुपचारणाः ।
धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान्न कामिनः ।।

भीष्म पर्व ।

मम प्रतिज्ञाञ्च निबोध सत्यां वृणे धर्ममम‍ृताज्जीविताच्च ।
राज्यञ्च पुत्राश्च यशो धनञ्च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ।।

युधिष्ठिरः ।

कोऽयं धर्म

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

कणादः ।

लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ।
उभयत्र सुखोदर्कः इह चैव परत्र च ।।
अकारणो हि नैवास्ति धर्मः सूक्ष्मो हि जाजले ।
भूतभव्यार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम् ।।

भारते ।

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः ।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।।
प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।।

कोऽयं सनातनो धर्मः ।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ।।

मनुः

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।।

याज्ञवल्क्यः ।

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ।
वेदाः प्रतिष्ठिता देवि ! पुराणे नात्र संशयः ॥
यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद्दृष्टं स्मृतिषु द्विजाः ।
उभयोर्यन्नदृष्टं तत् पुराणे परिगीयते ॥
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं चालयिष्यति ।
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ॥

युधिष्ठिरः

भगवन् ! श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम् ।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत्पुमान्विन्दते परम् ॥

नारद उवाच

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे ।
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥
धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः ।
स्मृतं च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति ॥
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यञ्च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥
श्रवणं कीर्त्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

भागवते ७-११ ।

वर्णधर्मः—भागवते—

शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
ज्ञानं दयाऽच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम् ॥

शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयःक्षमा ।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम् ॥
देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम् ।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम् ॥
शूद्रस्य संनतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया ।
अमंत्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम् ॥

तथा भारते—

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः ।
वेदाध्ययनसंपन्नः षट्सु कर्मस्वनुष्ठितः ॥
शौचाचारस्थितः सम्यक् विघसाशी गुरुप्रियः ।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥
क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः ।
दानादान रतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥
वाणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥
सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः ।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥

म० शां

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसां वर्णाभिव्यञ्जकम् ।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥

भागवते ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

सहजं कर्म कौन्तेय स दोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

गीता अ० १८ ।

महाभारत, उद्योग पर्व में लिखा है :—

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा ।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम् ॥

भगवान् मनु ने धर्म के दस लक्षण कहे हैं :—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

और चारों वर्णों के लिये सामासिक पांच धर्म कहे हैं :—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामाजिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥

ऊपर उद्धृत वचनों से स्पष्ट है कि सनातनधर्म में धर्म का एक मूल अङ्ग शौच है।

दक्ष संहिता में लिखा है :—

शौचे यत्नः सदा कार्यः शौचमूलो द्विजः स्मृतः ।
शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः ॥

शौच-सफाई के विषय में सदा यत्न करना चाहिये। द्विजाति ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य होनेका मूल शौच है। जो शौच और सदाचारसे रहित है, उसकी सब क्रियाएँ निष्फल होती हैं।

शौचेन सततं युक्तः सदाचारसमन्वितः ।
सानुक्रोशश्च भूतेषु तद्द्विजातिषु लक्षणम् ॥

शा० प० १८९ अ० ।

शास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न वर्णोंका धर्म वर्णनकर यह भी लिखा है कि सदाचार के सेवन से, सत्कर्म करने से, शूद्र भी द्विजत्व को पहुँच सकता है और दुराचार से, बुरे कामों के करने से, ब्राह्मण भी नीचे गिर कर शूद्रता को पहुँच सकता है।

वर्णोत्कर्षमवाप्नोति नरः पुण्येन कर्मणा ।
यथाऽपकर्षं पापेन इति शास्त्रनिदर्शनम् ॥
यथोदयगिरौ द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते ।
तथा सत्सन्निकर्षेण हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥

शा० प० १६१ ।

शूद्रोऽपि शीलसंपन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत् ॥
शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥

वन० १८०-२६ ।

युधिष्ठिर :—

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

नहुष :—

चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि ।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च ॥
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ।

अन्यच्च :—

यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्नभवेत्सर्प तं शूद्रेति विनिर्दिशेत् ।

वनपर्व १८० ।

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।
मंत्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥

मनु० १० ।

अयमर्थः—

ये पुनः शूद्राः धर्मप्राप्तिकामाः त्रैवर्णिकानामाचारमनिषिद्धमाश्रिताः ते नमस्कारेण मंत्रेण मन्त्रान्तररहितं पञ्चयज्ञादि धर्मान् कुर्वाणा न प्रत्यवयन्ति ख्यातिं च लोके लभन्ते ।

यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथा तथेममामुश्च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥

मनु० १० ।

परगुणानिन्दकः शूद्रो यथा यथा द्विजात्याचारमनिषिद्धमनुतिष्ठति तथा तथा जनैरनिन्दित इह लोके उत्कृष्टः स्मृतः स्वर्गादिलोकं च प्राप्नोति। इति कुल्लूकः।

इसी प्रकार शास्त्र के और अनेक वचन हैं जिन्होंने यह स्थापित कर दिया है कि नीचातिनीच शूद्र भी बुरे कर्मों के त्यागने से और भले कर्मों के पालन करने से ब्राह्मण के समान मान पाने के योग्य हो सकता है; और ऐसा शूद्र यदि विद्वान् हो तो द्विजन्मा उससे आत्मज्ञान तक सीख सकता है। स्वयं मनु जी का वचन है—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीताऽवरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥

मनु० २-२३८।

अर्थात्—श्रद्धायुक्तो द्विजः शुभां दृष्टशक्ति गारुडादिविद्यामवराच्छूद्रादपि गृह्णीयात्। अन्त्यश्चाण्डालस्तस्मादपि जातिस्मरादेर्विहितयोगप्रकर्षात् दुष्कृतशेषोपभोगार्थमवाप्तचाण्डालजन्मतः परं धर्मं मोक्षोपायमात्मज्ञानमाददीत। इति कुल्लूकः। तथा ब्रह्मज्ञानमेवोपक्रम्य मोक्षधर्मे "प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद्वा वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम् श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं न श्रद्धिनं प्रति जन्ममृत्यु विशेषता।"

उत्कर्ष के दो बड़े उदाहरणः—

चाण्डाल और श्वपच भी इसी जन्म में ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य के समान मान पाने के योग्य हो सकते हैं, इसके दो बड़े उदाहरण हैं—एक धर्मव्याध की कथा जो महाभारत के वनपर्व में है और दूसरी मूक चाण्डाल की कथा जो पद्मपुराण में मिलती है।

कौशिक नाम वेदाध्यायी तपोधन ब्राह्मण था। उसको क्रोध और अभिमान आ गया। उस दशा में उसको एक पतिव्रता स्त्री ने उपदेश किया कि आप धर्म को अभी नहीं जानते हैं। आप जाइये। मिथिलापुरी में धर्मव्याध रहता है उससे धर्म का उपदेश लीजिये। ब्राह्मण धर्मव्याध के पास गया, वह धर्मव्याध अपनी मांस की दुकान पर बैठा था। वह ब्राह्मण को अपने घर ले गया और ब्राह्मण ने वहाँ उससे कहा कि तुम मुझे शिष्टाचार का उपदेश करो। व्याध ने बहुत विस्तार के साथ ब्राह्मण को धर्म का उपदेश किया। वह कथा वनपर्व के २०५ अध्याय से २१४ अध्याय तक में वर्णित है। उसी प्रसंग में व्याध ने कहा—

अशीलश्चापि पुरुषो भूत्वा भवति शीलवान्।
प्राणिहिंसारतश्चाऽपि भवति धार्मिकः पुमान्॥

—वनपर्व २०६-३३।

पुरुष दुश्चरित्र होकर भी सुचरित्र हो सकता है और प्राणियों की हिंसा में रत रहने पर भी मनुष्य धार्मिक हो सकता है।

पापञ्चेत् पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महाभ्रेणेव चन्द्रमाः ॥

यथादित्यः समुद्यन् वै तमः पूर्वं व्यपोहति ।
एवं कल्याणमातिष्ठन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

—वनपर्व २०६-५५-५६।

आगे चलकर व्याध ने कहा :—

शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः ।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च ॥

अर्थात् शूद्रयोनि में भी उत्पन्न हुआ पुरुष यदि अपने मे अच्छे गुणों को संग्रह करे, तो हे ब्रह्मन्! वह वैश्य हो जाता है और क्षत्रिय यदि सदाचारपूर्ण जीवन बितावे तो उसमें ब्राह्मण की योग्यता भी उत्पन्न हो जाती है।

धर्मव्याध ने ब्राह्मण से कहा कि तुम अपने माता-पिता को दुखी करके पढ़ने के लिये घर से निकल आये हो, इसलिये तुम जाके उनको प्रसन्न करो, तब तुम परम धर्म को प्राप्त होगे। ब्राह्मण ने व्याध को धन्यवाद दिया और कहा—

आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते ।

तुम्हारे समान धर्म को बताने वाले संसार में दुर्लभ हैं। तब व्याध से पूछा कि हे व्याध! कारण बताओ कि कैसे शूद्र योनि में तुम्हारा जन्म हुआ ? व्याध ने अपनी सब कथा कही। उसको सुनकर ब्राह्मण ने कहा—

ईदृशा दुर्लभा लोके नरा धर्मप्रदर्शकाः ॥
साम्प्रतञ्च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्त्तमानो विकर्मसु ॥
दाम्भिको दुष्कृतः प्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत् ॥
यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः ।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः ॥

—वनपर्व २१५-११-१२।

अर्थात् यद्यपि शूद्रयोनि में तुम्हारा जन्म है तथापि मैं तो तुमको इस समय ब्राह्मण ही मानता हूँ। मेरे मन मे इसमे कुछ भी संशय नहीं है। जो ब्राह्मण नीचे गिराने वाले बुरे कर्मों में लगा हो, दाम्भिक और दुष्कर्मा हो,

वह प्रायः शूद्र के समान होता है। जो शूद्र, मन और इन्द्रियों के रोकने में, सत्य में और धर्म में सदा लगा रहता हो, उसको मैं ब्राह्मण मानता हूं। ब्राह्मण चरित्र ही से होता है।

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि चलते समय व्याध ने ब्राह्मण को फिर प्रणाम किया और ब्राह्मण उसको प्रदक्षिणा करके अपने घर चला गया।

मूक चांडाल की कथा।

दूसरी कथा पद्मपुराण में मूक चांडाल की है। यह संक्षेप में नीचे वर्णित है—

"कथयामि पुरा वृत्तं विप्राः शृणुत यत्नतः।
यं श्रुत्वा न पुनर्मोहं प्रयास्यथ पुनर्भुवि" ॥

पुरासीच द्विजः कश्चिन्नरोत्तम इति स्मृतः।
स्वपितरावनादृत्य गतोऽसौ तीर्थसेवया ॥

ततः सर्वाणि तीर्थानि गच्छतो ब्राह्मणस्य च।
आकाशे स्नानचैलानि प्रशुष्यन्ति दिने दिने ॥

अहंकारोऽविशत्तस्य मानसे ब्राह्मणस्य च।
मत्समो नास्ति वै कश्चित् पुण्यकर्मा महायशाः।

इत्युक्ते चानने तस्य हदस्थश्च बकस्तदा।
क्रोधाच्चैवेरितस्तस्य स शशाप द्विजो बकम् ॥
भीर्द्विजेन्द्रं महामोहः प्राविशच्चान्तकर्मणि।

देववाण्युवाच :—

गच्छ वाडन चाण्डालं मूकं परमधार्मिकम्।
तत्र धर्मं च जानीषे क्षेमं ते तद्वचो भवेत् ॥

व्यास उवाच :—

खाच्च तद्वचनं श्रुत्वा गतोऽसौ मूकमंदिरम्।
शुश्रूषंतं च पितरौ सर्वारंमान्ददर्श सः ॥

ददतं शीतकाले च सम्यगुष्णं जलं तयोः।
तैलतापनताम्बूलं तथा तूलवतीं पटीम् ॥

नित्याशनं च मिष्टान्नं दुग्धखंडं तथैव च।
दापयन्तं वसन्ते च मधुमालां सुगन्धिकाम् ॥

ततस्तयोः प्रचर्यां च कृत्वा भुङ्क्तेऽथ सर्वदा ।
श्रमस्य वारणं कुर्यात्संतापस्य तथैव च ।
एभिः पुण्यैः स्थितो विष्णुस्तस्य गेहोदरे चिरम् ।
तेजोमयं महासत्त्वं शोभयन्तं च मन्दिरम् ॥
दृष्ट्वा विस्मयमापन्नो विप्रः प्रोवाच मूककम् ।

अनन्तरं विष्णुं दृष्ट्वा विप्र उवाच :—

महापातकिसंसर्गान्नराश्चैनाति पातकाः ।
इति जल्पन्ति धर्मज्ञाः स्मृतिशास्त्रेषु सर्वदा ॥
पुराणागमवेदेषु कथं त्वंतिष्ठसे गृहे ।

श्री भगवानुवाच :—

कल्याणानां च सर्वेषां कर्ता मूको जगत्त्रये ।
वृत्तस्थो योऽपि चाण्डालस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
मूकस्य सदृशो नास्ति लोकेषु पुण्यकर्मतः ।
पित्रोर्भक्तिपरो नित्यं जितं तेन जगत्त्रयम् ॥
तयोर्भक्तया त्वहं तुष्टः सर्वदेवगणैः सह ।
तिष्ठामि द्विजरूपेण तस्य गेहोदरे च खे ।
पित्रोर्भक्तिपरः शुद्धश्चांडालो देवतां गतः ।
तस्मात्तेन सह प्रीत्या तिष्ठामि तस्य मन्दिरे ॥

माता-पिता की भक्ति से शुद्ध होकर चांडाल देवता की पदवी के योग्य हो गया।

यह कथा इस बात के लिये पर्याप्त प्रमाण है कि सदाचार से, धर्म के पालन से, चांडाल भी अपने जीवन में विद्वान् तपस्वी ब्राह्मण से ऊँचे से ऊँचा आदर पाने योग्य हो सकता है। ये कथाएं हमारे ही कल्याण के लिये कही गई हैं। इसलिये स्मृति और पुराणों के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि चांडाल और श्वपच को आवश्यक शौच और आचार सिखा कर, उनमें धर्म की भावना दृढ़ कर हम उनको सच्छूद्र तो अवश्य ही बना सकते हैं और उनको धर्म के उस मार्ग में प्रवृत्त कर सकते हैं जिनमें चलकर मूक चाडाल ब्राह्मण और धर्मव्याध की तरह कोई भी चाडाल ब्राह्मण के योग्य हो सकता है।

इन कथाओं का यह अर्थ नहीं है कि हम अन्त्यजों के साथ भोजन या विवाह का संबंध करें। भोजन और विवाह का सबंध तो शास्त्र और लोक-मर्यादा के अनुसार उन्हीं बिरादरियों में ही हो सकता है जिनमें शास्त्र और लोक-मर्यादा के अनुसार होता चला आया है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि जो

धर्मव्याध या मूक चांडाल के समान धर्मज्ञ और सदाचारी हों उनसे हम सब विषय में ब्राह्मणोचित व्यवहार करें। ब्राह्मण के छः कर्म हैं—अध्ययन-अध्यापन (पढना-पढ़ाना), यजन-याजन (यज्ञ करना-कराना), दान और प्रतिग्रह (दान देना और लेना)। इन छः कामों में अध्ययन, यजन और दान—ये तीन काम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सब में समान हैं। अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह (वेद पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना) इन तीन कामों के अधिकारी सामान्यतया ब्राह्मण ही हैं। "विद्या तपश्च योनिश्च त्रयं ब्राह्मणकारणम्" अर्थात् इन तीन कार्यों के अधिकारी होने के लिये जिसमें विद्या, तपस्या और जन्म तीनों गुण हों वही ब्राह्मण है। इन कथाओं का सार यह है कि जो चांडाल भी विद्वान्, ज्ञानवान् और सदाचारी हो तो हम उसकी योग्यता के अनुसार उसका आदर करें। केवल उसके जन्ममात्र के कारण उसका अनादर न करें।

मनुष्य को पाप से छुटाने और पुण्य के मार्ग में ऊपर उठाने के लिये और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थों के सम्पादन करने के लिये शास्त्र के अनुसार दीक्षा ही एक परम साधन है। दीक्षा का विधान अन्त्यज पर्यन्त सभी सनातन-धर्मी के लिये आया है जिसके प्रभाव से अन्त्यज भी शुद्ध, पवित्र, सदाचारी और मान्य हो सकता है। यह सब आगे दीक्षा प्रकरण से स्पष्ट हो जायगा।

"दीक्षामहत्त्व, मन्त्रमाहात्म्य और दीक्षा काल"

दीक्षा का अर्थ यों लिखा है :—

दीयते ज्ञानमत्यर्थं क्षीयते पापबन्धनात्
अतो दीक्षेति देवेशि कथिता तत्त्वचिन्तकैः ।

(योगिनीतन्त्रे)

दीक्षा के द्वारा मनुष्य को परम ज्ञान दिया जाता है और मनुष्य पाप के बन्धन से छूटता है, हे पार्वति ! इसलिये तत्त्व के जानने वाले इसको दीक्षा कहते हैं।

दूसरे स्थल में दीक्षा का महत्त्व इस प्रकार वर्णित है :—

यस्य विज्ञानमात्रेण देवत्वं लभते नरः ।
दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात्पापक्षयं ततः ॥
तस्माद्दीक्षेति सम्प्रोक्ता सर्वतन्त्रस्य संमता ।

जिस दीक्षा के पानेमात्र से मनुष्य को ज्ञान होता है, जिस दीक्षा से दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है और जिससे पाप का क्षय होता है। इसलिये इसको दीक्षा कहते हैं और सब तन्त्रशास्त्रों का इस विषय में एक ही मत है।

शास्त्र कहता है :—

भवेद्दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ॥

(रुद्रयामल)

स्कन्दपुराण में लिखा है कि "देवता लोग भी दीक्षा लेने को उत्सुक रहते हैं।" स्वामी कार्त्तिकेय ने विश्वामित्र जी से नीचे लिखे शब्दों में दीक्षा माँगी।

तत्कृच मां श्रुतिसंस्कारैः सर्वैः संस्कर्तुमर्हसि ।
संस्काररहितं जन्म यतश्च पशुवत्स्मृतम् ॥

आप सब वेदों के संस्कारों से मेरा संस्कार करें; क्योंकि विना संस्कार पाये मनुष्य का जीवन पशु के समान है।

आज-कल दीक्षा देने का क्रम बहुत कम हो गया है और बहुत थोड़े ब्राह्मण बालकों को शास्त्र के अनुसार गायत्री की दीक्षा दी जाती है। दीक्षितों से भी नियमानुसार व्रत का पालन नहीं कराया जाता। क्षत्रियों में दीक्षा का क्रम दिन-दिन और अधिक दुर्बल होता जा रहा है। वैश्यों में कुछ दिनों से गायत्री के दीक्षा का क्रम कहीं-कहीं फैल रहा है। किन्तु हिन्दू जाति के कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि *प्रत्येक हिन्दू-सन्तान को (स्त्री को भी और पुरुष को भी)* दीक्षा दी जाय।

गायत्री की दीक्षा उन्हीं बालकों को दी जाती है जिनका शास्त्रानुकूल उपनयन संस्कार (जनेऊ) किया जाता है। धर्मरक्षा और प्रचार के लिये अत्यावश्यक है कि प्रत्येक हिन्दू-सन्तान को वह दीक्षा दी जाय जिसका विधान ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त समान है।

दीक्षा की आवश्यकता :—

मन्त्र-मुक्तावली में लिखा है कि मन्त्र की दीक्षा लेकर जप और देवता की पूजा करनी चाहिये।

जपो देवार्चनविधिः कार्यो दीक्षान्वितैर्नरैः ।

जो विना दीक्षा लिये अपना जीवन व्यतीत करता है वह दुख पाकर मोहान्धकार रूपी गड्ढे में गिरता है, जैसे स्वामीरहित मनुष्य की कोई रक्षा करने वाला नहीं होता है। उसका इस लोक में भी और परलोक में भी कोई रक्षक नहीं होता।

अथ दीक्षाविहीनो हि वर्त्तते भुवि पापभुक् ।
मोहान्धकारे नरके गर्ते पतति दुःखितः ॥
अनीश्वरस्य मर्त्यस्य नास्ति त्राता यथा भुवि ।
तथा दीक्षाविहीनस्य नेह स्वामी परत्र च ॥

(दत्तात्रे यामले)

दीक्षा का फल

रुद्राध्याय में लिखा है कि जिस ब्राह्मण ने दीक्षा पाई है वह अमृतमय ब्रह्मलोक को पहुँचता है, वैश्य प्रजापतिलोक को पहुँचता है और दीक्षा के फल से शूद्र गन्धर्वलोक को पहुँचता है।

दीक्षितो ब्राह्मणो याति ब्रह्मलोकं सुधामयम् ।
ऐन्द्रं लोकं क्षत्रियोऽपि प्राजापत्यं विशस्तथा ॥
याति गन्धर्वनगरं शूद्रो दीक्षाप्रसादतः ।

(रुद्रयामले)

वैष्णवतन्त्र में लिखा है :—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः ।
तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥

जैसे कांसे पर रस का प्रयोग करने से वह सोना हो जाता है, वैसे ही दीक्षा लेने से मनुष्य द्विजत्व को प्राप्त करता है।

तंत्रचिन्तामणि में लिखा है कि महाविद्या के प्रभाव से शूद्र वैश्यत्व को प्राप्त होता है। हे देवि ! शूद्र जाति प्रणवपूर्वक मंत्र ग्रहण करें।

महाविद्याप्रभावेण शूद्रो वैश्यत्वमाप्नुयात् ।
प्रणवाद्यं महेशानि गृह्णीयुः शूद्रजातयः ॥

नवरत्नेश्वर में आया है कि चाहे किसी प्रकार की दीक्षा क्यों न हो उसका फल अवश्य अखंड भुक्ति है। मुक्ति तो बिना विरोध के ही प्रसंगत हो जाती है :—

सर्वासामपि दीक्षाणां भुक्तिः फलमखण्डितम् ।
अविरोधाद्भवन्त्येव प्रासङ्गिक्यस्तु मुक्तयः ॥

दीक्षित मनुष्य का महत्त्व दिखाते हुए कुलार्णवतन्त्र में आया है कि जैसे रसेन्द्र (पारा) से विधा हुआ लोहा स्वर्ण बन जाता है वैसे ही दीक्षा-विद्ध आत्मा शिवत्व को प्राप्त होता है। मनुष्य दीक्षाग्नि से दग्धकर्म हो जाता है और बन्धन-रहित हो जाता है। जीव-भाव से रहित होकर शिव हो जाता है। जैसे शिवलिंग में देव-बुद्धि छोड़ कर पत्थर बुद्धि करने से मनुष्य पाप भागी होता है उसी प्रकार दीक्षित मनुष्य में उसकी पूर्वावस्था का ख्याल करने वाला मनुष्य भी पाप भागी होता है—

रसेन्द्रेण यथा विद्धमयः सुवर्णतां व्रजेत् ।
दीक्षाविद्धस्तथैवात्मा शिवत्वं लभते प्रिये ॥

दीक्षाग्निदग्धकर्मासौ पाशाद्विच्छिन्नबन्धनः ।
गतस्तस्य कर्मबन्धो निर्जीवश्च शिवो भवेत् ॥
शिवलिंगे शिलाबुद्धिं कुर्वन् यत्पापमाप्नुयात् ।
दीक्षितस्यापि पूर्वत्वं स्मरन् तत्पापमाप्नुयात् ॥

शैवी दीक्षा का सर्वोत्तम मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' है। इसमें यह छः अक्षर का मन्त्र है, किन्तु लोक में पञ्चाक्षर कहा जाता है। 'ॐ नमः शिवाय' का अर्थ है कि सारे जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करने वाले परम मंगल स्वरूप परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ।

इसके विषय में स्कन्दपुराण में लिखा है कि शूद्र हो चाहे अन्त्यजादि हो किन्तु शिवदीक्षा से युक्त होकर भक्तिपूर्वक यदि एक पुष्प शिवजी के ऊपर षडक्षर मन्त्र से रखता है तो वह उस परम गति को प्राप्त होता है जिसको विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले पहुँचते हैं।

शूद्रो वा यदि वा विप्रो म्लेच्छो वा पापकृन्नरः ।
शिवदीक्षासमोपेतः पुष्पमेकं तु यो न्यसेत् ॥
षडक्षरेण मन्त्रेण लिंगस्योपरि भक्तितः ।
स तां गतिमवाप्नोति यां यान्तीह हि यज्विनः ॥

शिवपुराण वायवीय संहिता के उत्तर भाग में ११ वें अध्याय में शिवजी ने अपने श्रीमुख से उपदेश किया है कि

ब्रह्मक्षत्रविशां देवि यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
तथैव वानप्रस्थानां गृहस्थानां च सुन्दरि ॥
शूद्राणामथ नारीणां धर्म एष सनातनः ।
ध्येयस्त्वयाहं देवेशि सदा जप्यः षडक्षरः ॥

अर्थात् हे देवि! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, यती ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, गृहस्थ, शूद्र और स्त्री सबों का (सर्वमान्य) यह सनातनधर्म है कि तुम्हारी मूर्ति से युक्त मेरी मूर्ति का ध्यान किया करें और सदा 'ॐ नमः शिवाय' इस षडक्षर मन्त्र का जप किया करें।

शिवपुराण में उसी संहिता के १२वें अध्याय में लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने महर्षि उपमन्यु से कहा कि आप पञ्चाक्षर का माहात्म्य मुझे सुनाइये। इसपर उपमन्यु जी बोले—

पञ्चाक्षरस्य माहात्म्यं वर्षकोटिशतैरपि ।
अशक्यं विस्तराद्वक्तुं तस्मात्संक्षेपतः शृणु ॥

पञ्चाक्षरमंत्र का माहात्म्य कोटि वर्ष में भी विस्तार के साथ कहना सम्भव नहीं है। इसलिये संक्षेप से सुनिये।

वेदे शिवागमे चायमुभयत्र षडक्षरः।
मन्त्रस्थितः सदा मुख्यो लोके पञ्चाक्षरः स्मृतः॥
सर्वमन्त्राधिकश्चायमोंकाराद्यः षडक्षरः।
सर्वेषां शिवभक्तानामशेषार्थप्रसिद्धये॥
प्राहोंनमः शिवायेति सर्वज्ञः सर्वदेहिनाम्।
अन्त्यजो वाऽधमो वाऽपि मूर्खो वा पण्डितोऽपि वा॥
पञ्चाक्षरजपे निष्ठो मुच्यते पापपञ्जरात्।
इत्युक्तं परमेशेन देव्या पृष्टेन शूलिना॥
हिताय सर्वमर्त्यानां जनानामविशेषतः।

वेद और शैव-आगम दोनों में यह मन्त्र छः अक्षर का सदा से स्थित है और सब मन्त्रों में मुख्य है। श्लोक में यही पञ्चाक्षर इस नाम से प्रसिद्ध है। 'ॐकार' ऐसा यह मन्त्र सब मन्त्रों में बड़ा है। जिनको आदिदेव महादेव में भक्ति है, उनकी सब कामनाओं को पूरा करने वाला है। सर्वज्ञ शिवजी ने सब प्राणियों के सब अर्थों की सिद्धि के साधन 'ॐ नमः शिवाय' जिसको सब लोग सुख से उच्चारण कर सकते हैं, अपने श्रीमुख से कहा है। अन्त्यज हो या नीच हो, मूर्ख हो या पण्डित हो, जो पञ्चाक्षर का जप नित्य श्रद्धा से करता है, वह पाप के पञ्जर से छूट जाता है।

परमेश्वर शिवजी ने सब प्राणियों के हित के लिये पार्वती जी के पूछने पर ऊपर लिखा वचन कहा है।

शिव-पार्वती संवाद

इसका संक्षेप नीचे लिखते हैं। पार्वती जी ने शिव जी से पूछा कि—

कलौ कलुषिते काले दुर्जये दुरतिक्रमे।
अपुण्यतमसाच्छन्ने लोके धर्मपराङ्मुखे॥
क्षीणे वर्णसदाचारे संकरे समुपस्थिते।
सर्वाधिकारे संदिग्धे निश्चिते वा विपर्यये॥
तदोपदेशे विहिते गुरुशिष्यक्रमे गते।
केनोपायेन मुच्यन्ते भक्तास्तव महेश्वर॥

कलियुग में विकराल काल आनेपर जब पापरूपी अन्धकार फैल जाय और लोग धर्म से विमुख हो जांय और वर्णसंकर बढ़ने लगें, जब सब लोगों को सभी

धर्म विषयों पर सन्देह होने लगे, गुरु और शिष्य के क्रम से उपदेश देने का क्रम न रहे, तो महेश्वर! आपके भक्त किस उपाय से पाप से छूटते हैं?

शिवजी बोले—

आश्रित्य परमां विद्यां हृद्यां पञ्चाक्षरीं मम।
भक्त्या च भावितात्मानो मुच्यन्ते कलिजा नराः॥
मनोवाक्कायजैर्दोषैर्वक्तुं स्मर्तुमगोचरैः॥
दूषितानां कृतघ्नानां निर्दयानां खलात्मनाम्।
मम पञ्चाक्षरी विद्या संसारभयतारिणी॥
मयैवमसकृद्देवि प्रतिज्ञातं धरातले।
पतितोऽपि विमुच्येत मद्भक्तो विद्ययानया॥

कलियुग में उत्पन्न प्राणी मेरी पञ्चाक्षरी विधि का आश्रय लेकर अर्थात् पञ्चाक्षर मन्त्र को नित्य श्रद्धा से जप कर और मेरी भक्ति से अपनी आत्मा को पवित्र कर पाप से छूटते हैं। मन से, वचन से और काया से किये हुए पापों से दूषित प्राणियों को, जिन पापों को मुख से वर्णन करना और स्मरण करना भी कठिन हो, जो किए हुए उपकार को नहीं मानते—ऐसे कृतघ्नों को, दया रहित क्रूर प्राणियों को और दुष्ट आत्माओं को, लोभियों को और कुटिल मनवालों को भी मेरा पञ्चाक्षर मन्त्र संसार के सब डरों से दूर कर देता है, यदि मेरी ओर वे अपनी आत्मा को झुकावें।

हे देवि! मैंने पृथ्वीतलपर बार-बार प्रतिज्ञापूर्वक यही कहा है कि पतित भी इस मन्त्र के साधन के द्वारा पाप से छूट जाते हैं।

अरुद्रो वा सरुद्रो वा सकृत्पञ्चाक्षरेण यः।
पूज्यो वा पतितो वाऽपि मूढो वा मुच्यते नरः॥
षडक्षरेण वा देवि तथा पञ्चाक्षरेण वा।
सब्रह्माङ्गेण मां भक्त्या पूजयेद्यदि मुच्यते।
पतितोऽपतितो वापि मन्त्रेणानेन पूजयेत्॥

चाहे उसने विधि से शिव-मन्त्र का उपदेश लिया हो चाहे उपदेश न लिया हो, पतित हो या मूर्ख हो, जो एक बार भी श्रद्धा-भक्ति से पञ्चाक्षर का जप करता है वह पाप से छूट जाता है। हे देवि! षडक्षर ॐ नमः शिवाय से या पञ्चाक्षर नमः शिवाय से जो भक्ति से मेरा पूजन करता है वह मुक्ति को पाता है। चाहे पतित हो या अपतित हो, सबको इस मन्त्र से पूजन करना चाहिये। शिव जी ने कहा है—

किमत्र बहुनोक्तेन भक्ताः सर्वेऽधिकारिणः ।
मम पञ्चाक्षरे मन्त्रे तस्माच्छ्रेष्ठतरो हि सः ॥

अर्थात् इस विषय में बहुत कहने से क्या ? जिन प्राणियों को मुझसे भक्ति है वे सब इस पञ्चाक्षर मन्त्र के जपने के अधिकारी हैं। इसीलिये यह सब मन्त्रों में श्रेष्ठ है।

सदाचारविहीनस्य पतितस्यान्त्यजस्य च ।
पञ्चाक्षरात्परं नास्ति परित्राणं कलौ युगे ॥

अन्त्यजस्यापि मूर्खस्य मूढस्य पतितस्य च ।
निर्मर्यादस्य नीचस्य मन्त्रोऽयं न च निष्फलः ॥

सर्वावस्थां गतस्यापि मयि भक्तिमतः परम् ।
सिद्धयत्येव न संदेहो नापरस्य तु कस्यचित् ॥

अर्थात् सदाचार से विहीन जो पतित है अर्थात् सारे कुकर्म करने से या अपना धर्म छोड़कर किसी दूसरे मत को मान लेने के कारण जो धर्म से गिर गया है अथवा अन्त्यज (चाण्डालादि) है, उसका इस कलियुग में पञ्चाक्षर से परे कोई रक्षा करने वाला नहीं है। अनपढ़ अन्त्यज भी हो और दुर्बुद्धि पतित भी हो, जो सब मर्यादा से गिर गया हो और सब प्रकार से नीच हो, वह भी इस मन्त्र को जपे तो उसका इस मन्त्र का जपना निष्फल नहीं जाता। किसी भी अवस्था में कोई भी प्राणी हो यदि उसकी मुझमें भक्ति है तो पञ्चाक्षर मन्त्र उसे सब पापों से छुड़ाता है और सब सुख का साधन बन जाता है। इन सब प्रकरणों से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण से लेकर अन्त्यजपर्यन्त सभी सनातनधर्मानुयायी पुरुषों और स्त्रियों को पञ्चाक्षर मन्त्र जपने का अधिकार है, चाहे वह ॐकार सहित जपा जाय या ॐकार रहित।

मम भक्तो जितक्रोधो ह्यलब्धो लब्ध एव वा ।
अलब्धाल्लब्ध एवेह कोटिकोटिगुणाधिकः ॥

तस्माल्लब्ध्वैव मां देवि मन्त्रेणानेन पूजयेत् ।
लब्ध्वा सम्पूजयेद्यस्तु मैत्र्यादिगुणसंयुतः ॥

ब्रह्मचर्यरतो भक्त्या मत्सादृश्यमवाप्नुयात् ।
किमत्र बहुनोक्तेन भक्ताः सर्वेऽधिकारिणः ॥

मम पञ्चाक्षरे मन्त्रे तस्माच्छ्रेष्ठतरो हि सः ।
तस्मादनेन मन्त्रेण मनोवाक्कायभेदतः ॥

आवयोरर्चनं कुर्याज्जपहोमादिकं तथा ।
यदा कदापि वा भक्त्या यत्र कुत्रापि वा कृता ॥
येन केनापि वा देवि ! पूज्य मुक्तिं नयिष्यति ।
मय्यासक्तेन मनसा यत्कृतं मम सुन्दरि ॥
मत्प्रियं च शिवञ्चैव क्रमेणाप्यक्रमेण वा ।
तथापि मम भक्ता ये चात्यन्तविवशाः पुनः ॥
तेषामर्थेषु शास्त्रेषु मयैष नियमः कृतः ।

मन्त्र ग्रहण किए बिना पूजा करने की अपेक्षा मन्त्र ग्रहण करके पूजा करना कोटि गुना अधिक होता है। इस कारण, हे देवि ! मंत्र को ग्रहण करके ही इस मंत्र से मेरी पूजा करे। मंत्र-दीक्षा लेकर सर्व सुहृद्भाववाला ब्रह्मचर्य व्रत में रत जो पुरुष भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करता है वह मेरे सदृश हो जाता है। इस पर अधिक क्या कहूँ। मेरे पञ्चाक्षर मन्त्र का सभी भक्तों को अधिकार है। इसी कारण यह मंत्र सर्वश्रेष्ठ है। अतः इस मंत्र के द्वारा मन, वचन और कर्म से हम दोनों की पूजा और जप होमादि करे।

हे देवि ! अपनी बुद्धि, श्रद्धा, काल, विचार, शक्ति, सम्पत्ति, यथायोग और अपनी प्रीति के अनुसार जब कभी, जहां कहीं भी तथा जिस किसी प्रकार भी भक्तिपूर्वक की हुई मेरी पूजा मुक्ति प्राप्ति को पहुँचाती है। हे देवि ! मुझमें आसक्त मन से जो कुछ भी मेरा प्रिय और मंगल कार्यक्रम या अक्रम जिस किसी प्रकार किया जाय वह सब मुक्ति देने वाला होता है।

हे देवि ! मेरे भक्त अत्यन्त कठिनाई में भी रह कर मेरी पूजा कर सकें, इसलिये शास्त्रों में मैंने यह नियम किया है।

द्वादशाक्षर और अष्टाक्षर मन्त्र

इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तर में द्वादशाक्षर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' और अष्टाक्षर 'ॐ नमो नारायणाय' ये मन्त्र विशेष कर स्त्री तथा शूद्रों के लिये कहे गये हैं; किन्तु ये मंत्र द्विजातियों के लिये भी कल्याणकारक हैं। अर्थात् चारों वर्णों को इन मन्त्रों को जपना चाहिये।

एतत्प्रोक्तं द्विजातीनां स्त्रीशूद्रेषु च यच्छृणु ।
द्वादशाष्टाक्षरौ मन्त्रौ तेषां प्रोक्तौ महात्मनाम् ॥
हितौ तौ च द्विजातीनां मन्त्रश्रेष्ठौ नराधिप ।
तेभ्योऽप्यधिकमन्त्रोऽपि विद्यते नहि कुत्रचित् ॥

नृसिंहपुराण के ६२ वें अध्याय में राजा सहस्रानीक ने मारकण्डेय ऋषि से पूछा कि वह पूजा की विधि बताइये कि जो सर्व हित के लिए हो अर्थात् जिसके अनुसार सब प्राणी विष्णु का पूजन कर सकें। इसके उत्तर में मारकण्डेय जी ने कहा :—

अष्टाक्षरेण मन्त्रेण नरसिंहमनामयम् ।
गन्धपुष्पादिभिर्नित्यमर्चयेदच्युतं नरः ॥
राजन्नष्टाक्षरो मन्त्रः सर्वपापहरः परः ।
समस्तयज्ञफलदः सर्वशान्तिकरः शुभः ॥

मनुष्य "ॐ नमो नारायणाय" इस अष्टाक्षर मन्त्र से विष्णु भगवान् नरसिंह की पूजा करे।

इसी से गन्ध पुष्पादि सोलहों उपचारों से पूजा करे।

हे राजन्! यह अष्टाक्षर मन्त्र सब पापों का हरने वाला, सब यज्ञों के फल का देने वाला, सब दुख और दोष की शान्ति करने वाला है। उसी पुराण के १८ वें अध्याय में लिखा है कि शुकदेव जी के यह प्रश्न करने पर कि किस मन्त्र को जपता हुआ मनुष्य संसार-सागर के दुख से छुटकारा पाता है :—

भगवान् वेदव्यासजी ने कहा :—

अष्टाक्षरं प्रवक्ष्यामि मन्त्राणां मन्त्रमुत्तमम् ।
यं जपन् मुच्यते मर्त्यो जन्मसंसारबंधनात् ॥
एकान्ते निर्जने स्थाने विष्ण्वग्रे वा जलान्तिके ।
जपेदष्टाक्षरं मन्त्रं चित्ते विष्णुं निधाय वै ॥

अष्टाक्षर मन्त्र सब मन्त्रों में उत्तम है। कोई मनुष्य हो, मर्त्य हो—जिसको एक दिन अवश्य मरना है—इस मन्त्र को जप कर जन्म और संसार के बन्धन से छूट जाता है। एकान्त में, निर्जन स्थान में, विष्णु के आगे वा नदी वा जल के पास भगवान् विष्णु को मन-मन्दिर में बिठा कर इस मंत्र को जपे।

भगवान् के नाम अनन्त हैं। विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम उन नामों को पूर्ण रूप से नहीं गिना सके। उन में से किसी एक नाम को भी जो मनुष्य श्रद्धा-भक्ति से उच्चारण करे तो उसका सब प्रकार से मंगल होगा। किन्तु जिस प्रकार से ईख का रस निकाल कर कुज्जे में भर दिया जाता है, उसी प्रकार जगत् का हित चाहने वाले ऋषियों ने कुछ मन्त्र विशेष प्रकाश कर दिये हैं, जिनके जपने का अधिकार ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक को है। इस विषय को मैं मन्त्र-महिमा नाम की छोटी पुस्तक में विस्तार से लिख चुका हूं, उसको मैं इस निवेदन के साथ सम्मिलित करता हूं, सज्जन वृन्द कृपाकर उसको देखें।

इन मन्त्रों की महिमा अति गम्भीर है। मेरी बहुत दिनों से यह प्रार्थना है कि ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त समस्त हिन्दू-सन्तान इन मन्त्रों की दीक्षा लेवें और उससे ऐहिक और पारलौकिक लाभ उठावें।

इन सब बातों को लेकर रुद्रयामल में आया है कि अनेक जन्मों की पुण्य-राशि से मनुष्य दीक्षित होता है, उस पर भी अनेक पुण्यों का उदय होने पर शिव और विष्णु में परायण होता है।

अनेकजन्मपुण्यौघैर्दीक्षितो जायते नरः।
तत्राप्यनेकपुण्येन शिवविष्णुपरायणः॥

दीक्षा में जो कर्त्तव्य किया जाता है वह सब मन्त्र ग्रहण के लिये ही किया जाता है; उस मन्त्र ग्रहणरूप दीक्षाका ही सब फल शास्त्रों में कहा गया है। अतएव शास्त्रों में मन्त्रों की बड़ी उत्कृष्ट महिमा पाई जाती है। मन्त्र किसे कहते हैं, इस पर शास्त्रों में आया है कि जिसके मनन करनेसे विश्व का विशेष ज्ञान हो जाता है, संसार-बन्धनसे रक्षा होती है और जिससे सिद्धि प्राप्त होती है, उसे मंत्र कहते हैं :—

मननाद्विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात्।
यतः करोति संसिद्धिं मंत्र इत्युच्यते ततः॥

(पिंगलामत)

मन्त्रके महत्त्वके विषयमें आया है कि मन्त्र ही साक्षात् ईश्वर और महौषधि है। मन्त्रसे बढ़कर सिद्धि देनेवाला कोई नहीं है। साधकोंको सिद्धि देने के लिये देवताओंने तत्तत्स्वरूपको धारण किया, परन्तु उन स्वरूपोंमें मन्त्रका ही मुख्य स्वरूप है :—

मंत्रः सर्वेश्वरः साक्षान्मंत्र एव महौषधम्।
न हि मंत्रात् परं कश्चित् सर्वसिद्धिप्रदायकः।
साधकानां फलं दातुं तत्तद्रूपं धृतं सुरैः।
मुख्यस्वरूपं तेषां तु मन्त्रा एव न चेतरत्॥

मेरुतन्त्र।

मन्त्र देनेवाले गुरु कैसे होने चाहिए, इसपर स्कन्दपुराण मे लिखा है कि गुरु निर्मल, शान्त, साधु, स्वल्प बोलनेवाले, काम-क्रोधादिसे रहित, जितेन्द्रिय और सदाचारी होने चाहिए। ऐसे गुरु से दिया हुआ मन्त्र शीघ्र ही सिद्ध होता है :—

गुरवो निर्मलाः शान्ताः साधवो मितभाषिणः।
कामक्रोधविनिर्मुक्ताः सदाचारा जितेन्द्रियाः॥
एतैः कारुण्यतो दत्तो मंत्रः क्षिप्रं प्रसिध्यति।

मन्त्रग्रहण एक प्रकारका धार्मिक व्रत धारण करना है। इस कारण मन्त्र लेनेवाले शिष्य को कैसा होना चाहिए, इसपर भविष्यमें लिखा है :—

क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
देवपूजाग्निहवनं सन्तोषः स्तेयवर्जनम् ।
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्थितः ॥

भविष्य पु० ।

अर्थात् व्रत धारण करने वाले शिष्य को स्नानादि से शुद्ध, सत्य, दया, क्षमा, दान, जितेन्द्रिय, अग्नि में हवन, देवपूजन, सन्तोष और चोरी न करना—इन दस धर्मों का पालन करना चाहिए।

महर्षि देवल का कहना है कि किसी भी बात के लिए व्रत धारण करने वाले को ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य और मांस का परित्याग—इन चार बातों का पालन सदा करना चाहिए—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यमामिषवर्जनम् ।
व्रतेष्वेतानि चत्वारि चरितव्यानि नित्यशः ॥

शिवपुराण में लिखा है कि चारों वर्णों को मद्य का और मद्य की गंधका त्याग करना भी आवश्यक है।

मद्यस्य मद्यगंधस्य वर्जनं सामान्यं सर्ववर्णानाम् ।

इस प्रकार शास्त्रानुसार गुरु और शिष्यभाव से सम्पन्न होकर रात्रि में उपवास करके मन्त्रदीक्षा लेनी चाहिए। यद्यपि शैव, वैष्णवादि का भेद लेकर एवं अधिकारी और उद्देश्य का भेद लेकर मंत्र अनेक प्रकार के हैं और उनकी दीक्षा के लिये लग्न, मुहूर्त, वार योगादि की शुद्धि अपेक्षित होती हैं, तथा अधिकारी भेद से मंत्रदीक्षा की अनेक विधियाँ भी हैं; तथापि शारीरिक और मानसिक शुद्धि के लिये संस्कार के रूप में शैव और वैष्णवादि मुख्य दो-तीन प्रकार के ही भेद माने जाते हैं और गुरु देश और भावनाविशेष के कारण मंत्र-दीक्षा के सरल और सर्वहित नियम भी शास्त्रों में देखे जाते हैं। इस कारण गुरु, शिष्य, तिथि और स्थान विशेष के महत्त्व का विचार कर किसी भी अनुकूल अवसर पर मंत्रदीक्षा ली जा सकती है। योगिनीतंत्र मे आया है कि जब भगवान् की महापूजा का दिन हो, चतुर्दशी हो, अष्टमी, पंचमी या चतुर्थी हो तो उस दिन दीक्षा कार्य हो सकता है। क्योंकि ये सब तिथियां शुभ देने वाली कही गई हैं—

मन्वन्तरासु सर्वासु महापूजा दिने तथा ।
चतुर्थी पञ्चमी चैव चतुर्दश्यष्टमी तथा ॥
······"तिथयः शुभदाः प्रोक्ताः" ।

पुराण और तन्त्र ग्रन्थों में यह वचन भी आया है कि जिस दिन गुरु मंत्रदीक्षा देने के लिये प्रसन्न हो जाय उस दिन सभी वार ग्रह, नक्षत्र और राशि शुभ हो जाते हैं—

"सर्वे वारा ग्रहाः सर्वे नक्षत्राणि च राशयः ।
यस्मिन्नहनि सन्तुष्टो गुरुः सर्वे शुभावहाः ॥"

योगिनीतंत्र में यह भी आया है कि ग्रहण और महातीर्थों में कालनिर्णय की आवश्यकता नहीं होती है—

"ग्रहणे च महातीर्थे नास्ति कालस्य निर्णयः ।"

इतना ही नहीं किन्तु दीक्षातत्त्व में यह भी वर्णन आया है कि गुरु की आज्ञा के अनुरूप जब इच्छा हो तभी दीक्षा हो सकती है और जब भी स्वेच्छा से सद्गुरु मिल जाय तभी दीक्षा ली जा सकती है। उस दशा में तिथि, वार, व्रत, होम, स्नान, जपादि क्रियाओं की प्रबल कारणता भी नहीं रहती है—

"यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरो राज्ञानुरूपतः ।"
न तिथिर्न व्रतं होमो न स्नानं न जपः क्रिया ।
दीक्षायाः कारणं किञ्चित् स्वेच्छयाप्ते तु सद्गुरौ ।

इन सब बातों को विचारकर इस वर्ष सनातनधर्म महासभा ने महाराजाधिराज दरभंगा के सभापतित्व में महाशिवरात्रि के पुण्य अवसर पर अन्त्यज पर्यन्त समस्त वर्णाश्रम धर्मी हिन्दू-सन्तान को, जिन्होंने अबतक किसी मन्त्र की दीक्षा न ली हो, शैव पंचाक्षर से मंत्रदीक्षा देने का प्रस्ताव पास किया है; इसलिये कि उसके द्वारा हिन्दू-सन्तान में बल, विद्या, बुद्धि और सद्भाव की वृद्धि हो। फाल्गुन मास के दीक्षा के फल में भी आया है कि फाल्गुन मास में दीक्षा लेने से बुद्धि की वृद्धि होती है—

माघे भवेन्मेधाविवर्धनम् ।
फाल्गुनेऽपि विवृद्धिः स्यात् ॥

अगस्त्यसंहिता ।

दीक्षा के लिये सर्वोत्तम स्थानों का निर्देश करते हुए योगिनीतन्त्र में आया है कि मंत्रज्ञ पुरुष गोशाला, गुरुगृह, देवमन्दिर, स्वच्छ जंगल, तीर्थ क्षेत्रादि पुण्य स्थान, बाग-बगीचे, नदी का स्वच्छ किनारा, आँवले और बेल वृक्ष के निकट, पर्वतों की सुन्दर गुफाओं के समीप और गंगा तटपर मंत्रदीक्षा दे। क्योंकि दीक्षा के लिये ये सब स्थान उत्तम होते हैं। इसमें भी गंगा का तट करोड़ों गुणवाला होता है—

गोशालायां गुरोर्गेहे देवागारे च कानने ।
पुण्यक्षेत्रे तथोद्याने नदीतीरे च मंत्रवित् ॥

धात्रीबिल्वसमीपे च पर्वताग्रे गुफासु च।
गंगायास्तु तटे वापि कोटिकोटिगुणं भवेत् ॥

दीक्षा विधि

दीक्षा लेने की साधारण और सरल विधि यह है कि गुरु पूर्वरात्रि में ब्रह्मचर्यपूर्वक उपवास करे। अगले दिन प्रातःकाल शौच-स्नानादि से शुद्ध होकर दीक्षा के पवित्र स्थान में जावे। यहाँ पर उपवास और स्नानादि से शुद्ध होकर दीक्षार्थी दीक्षा लेवे। जो गुरु असामर्थ्य या कारण विशेष से रात्रि में उपवास न कर सकें, वह हविष्यान्न ग्रहण कर सकते हैं। नारद पंचरात्र में आया है कि मंत्र देनेवाले गुरु पहले दिन उपवास करें। यदि उपवास न कर सकें तो हविष्यान्न अर्थात् नारियल का फल, दधि, घी, शुद्ध गौ का दूध, केला, आंवलादि अथवा चावल, जौ, मूँग की दाल, तिल आदि हविष्यान्न ग्रहण करें।

दद्यान्मंत्रं गुरुः स्वच्छः शिष्यं भक्तिसमन्वितम्।
उपोष्यैकदिनं पूर्वं यद्वा भुक्त्वा हविष्यकम् ॥

इस प्रकार गुरु और शिष्य शुद्ध होकर दीक्षा-स्थान में जावें और वहाँ पर गुरु पूर्व की ओर मुख करके बैठे शिष्य उत्तर मुंह होकर बैठें।

स्नात्वा तु निर्मले तोये पूर्वास्यः सुस्थमानसः।
शिष्यश्चोदङ्मुखस्थश्च .... ॥

—नारद पंचरात्र।

इसके बाद आचमन से शुद्ध होकर जिस मंत्र की दीक्षा देनी हो उसके मुख्य देवता को नमस्कार करें। शिव-मंत्र की दीक्षा के लिये शिवजी को और विष्णु-मंत्र की दीक्षा के लिये विष्णु को नमस्कार करें। फिर मंत्र लेनेवाले शिष्य के कानों में तीन बार मंत्र सुनाकर माथे पर हाथ रख कर शास्त्र-निर्दिष्ट शैव और वैष्णव-मंत्र की दीक्षा देनी चाहिये। शिवपुराण में सर्वोपयोगी ऐसी ही सरल विधि का वर्णन मिलता है।

इस प्रकार मंत्र लेकर शिष्य गुरु को प्रणाम करे और गुरु शिष्य को अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) शौच, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-जय, सदाचार, जुवा न खेलना, मद्य मांस का त्याग, दम, दया, संतोष, नम्रता, ज्ञान, ईश्वरभक्ति, देव, गुरु और धर्म में दृढ़भक्ति, उद्यम, उत्साह और परोपकारादि व्रत के पालन का उपदेश करें। अन्त में शिष्य को इस प्रकार आशीर्वाद दें, हे शिष्य ! तुम सदाचारी हो। तुम्हें सदा कीर्ति, श्री, कान्ति, मेधा, आयु, आरोग्य और बल की प्राप्ति होवे।

उत्तिष्ठ वत्स मुक्तोऽसि सम्यगाचारवान् भव।
कीर्तिश्रीकान्तिमेधायुर्बलारोग्यं सदास्तु ते ॥

—क्रियासंग्रह।

इस प्रकार मन्त्र-दीक्षा लेकर नित्य प्रातःकाल स्नानादि से शुद्ध होकर भगवान् को नमस्कार करके १०८ बार मन्त्र का जप करना चाहिए। सूर्य में स्थित परमेश्वर का ध्यान कर अर्घ देना चाहिए।

पुराणों में मंत्रों की महिमा बड़े विस्तार के साथ वर्णित है।

पञ्चाक्षर के महत्त्व की एक अत्यन्त मनोहर कथा स्कन्दपुराण के ब्रह्म-खण्ड में इस प्रकार आई है कि मथुरा में दाशार्ह नाम का एक यदु राजा था। काशिराज की कलावती नाम की कन्या उसकी धर्मपत्नी थी। जब राजा ने उसको अपने पास बुलाया तो कलावती उसके पास नहीं आई। इस पर राज ने उसको पकड कर खींचना चाहा तो कलावती ने कहा कि तुम अशुद्ध हो, मद्यपान करते हो, नित्य स्नान नहीं करते हो, वेश्यागामी हो, इस कारण मुझे छूने का साहस मत करो और यह भी कहा कि जब स्त्री अप्रसन्न हो, रोगिणी हो, गर्भवती तथा व्रतवाली हो, तब उसे नहीं छूना चाहिए। कलावती की इतनी धर्मयुक्त बातें सुनने पर भी राजा ने अपना हठ नहीं छोड़ा और अपनी भार्या को पकड़ कर खींचना चाहा। ज्योंही राजा ने उसे छुआ तो राजा को उसका शरीर अग्नि के समान जलता हुआ मालूम पड़ने लगा। तब आश्चर्य और भय के साथ राजा ने पूछा कि तुम्हारा शरीर जलता क्यों है ? उत्तर में रानी ने कहा कि बचपन में दुर्वासा ऋषि के दयाभाव से मुझे पञ्चाक्षर मंत्र की दीक्षा मिली थी। उसी का यह प्रभाव है कि कोई अपवित्र पुरुष मुझको छू नहीं सकता है। यह सुनकर शुद्ध और पवित्र जीवन बिताने के लिये राजा ने रानी कलावती से मंत्र दीक्षा मांगी। रानी ने कहा कि आप मेरे गुरु हैं, इस कारण मैं आप को मंत्रोपदेश नहीं कर सकती हूँ; किन्तु आप मंत्र जानने वाले गर्गमुनि से दीक्षा लें। राजा ने वैसा ही किया और मन्त्र-दीक्षा लेते ही राजा के सब पाप ऐसे वह निकले जैसे हजारों कौवे उड़ चले हों। इसके उपरान्त राजा स्त्री सहित गुरु को प्रणाम करके अपने घर चला गया और स्त्री-पुरुष दोनों ने धार्मिक जीवन यापन कर परम सुख प्राप्त किया। इन शास्त्रीय विधानों के द्वारा समस्त असंस्कृत हिन्दू-संतान को विशेषकर अन्त्यज भाइयों को शुद्ध और धर्मप्रेमी बनाना प्रत्येक सनातनधर्मी का कर्त्तव्य है।

अन्त्यजों का देवदर्शन

पिछले प्रकरण में यह दिखा दिया है कि अन्त्यजों को संस्कार के रूप में शैव या वैष्णव किसी भी सम्प्रदाय की मंत्रदीक्षा लेने का अधिकार है। अब इस प्रकरण में यह बात प्रकट की जाती है कि मंत्रदीक्षा के प्रभाव से शुद्ध और सदाचारी, मदिरा-मांस-त्यागी, भक्तिभाव से समन्वित अन्त्यजों को देवदर्शन का अधिकार है कि नहीं ? इस बात को स्पष्ट करने के लिये पुराणों का पर्यालोचन परम सहायक होगा। क्योंकि वेदों में प्रचलित देवपूजन के अधिकार, माहात्म्य और उसकी विधि स्पष्ट रूप से देखने में नहीं आती है। वेदों में केवल अग्नि,

इन्द्र, विष्णु, रुद्र आदि नामों से देवताओं का वर्णन पाया जाता है। इसके बाद मन्वादि प्राचीन स्मृतियों में देवपूजन के अतिरिक्त अन्य रूप में इस बात की कुछ भी चर्चा नहीं आई है। इसके बाद की अनेक स्मृतियों में अंशतः कुछ-कुछ वर्णन पाया जाता है। माहात्म्य, फल और अधिकारादि समस्त बातों को लेकर पुराण और महाभारतादि ग्रन्थों में ही सांगोपांग पूर्ण वर्णन मिलता है। इससे सिद्ध है कि वर्तमानकाल में जितने भी तीर्थ, मन्दिर और जो कोई भी पुण्य-स्थान हैं उनका प्रचार पुराणों में वर्णित माहात्म्य के ही कारण है; एवं इन पुण्य-स्थानों की विधि और विधान भी विशेषरूप से पुराणों में ही प्रतिपादित हैं, न कि मन्वादि जैसी प्राचीन स्मृतियों में। यद्यपि पुराणों में वैदिक मंत्र और वैदिक विधान भी पाये जाते हैं एवं श्रुति और स्मृति में कथित बहुत से निषेध प्रकरण पाये जाते हैं; तथापि पुराणों में प्रायः कुछ ऐसे उदार विधान हैं जो कि अन्त्यज पर्यन्त वर्णाश्रमी हिन्दू-सन्तानमात्र के अभ्युदय के लिये कहे गये हैं। पुराणों का दर्जा स्मृतियों से कम नहीं माना गया है। यही बात है कि श्रीशंकराचार्य जैसे प्राचीन धर्माचार्यों ने महाभारत और पुराणादि वाक्यों को स्मृतिवाक्य के रूप में माना है। वर्तमान समय में सनातनधर्मियों के अन्दर जितना भी क्रियात्मक धर्म विद्यमान है उसका सबसे ज्यादा श्रेय पुराणों को ही है। पुराण सदा पंचम वेद के रूप में माने गये हैं। पंचदशी में आया है कि नारदजी ने पंचम वेद रूप पुराणों को पढ़ा था—"स पुराणान् पञ्चवेदान्"। उत्तरमीमांसा में आया है कि इतिहास और पुराण वेदमूलक हैं—"तस्मात्समूलमितिहासपुराणम्" ९।१३।३३। महाभारत में तो पुराणों की महत्ता के विषय में बहुत कुछ वर्णन मिलता है। अनुशासनपर्व में आया है कि पुराण, मन्वादि स्मृति, अङ्गसहित वेद और चिकित्साशास्त्र—ये सब ईश्वर की आज्ञा से सिद्ध हैं। इस कारण कुतर्क से इनका हनन नहीं करना चाहिये—

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

महाभारत के प्रारम्भ में ही यह लिखा है कि व्यासजी ने अट्ठारह पुराणों के बनाने के बाद उनके उपबृंहण स्वरूप महाभारत को बनाया।

अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
पश्चाद्भारतमाख्यानं चक्रे तदुपबृंहितम्॥

इसके बाद आदिपर्व में यह वर्णन भी आया है कि इतिहास और पुराण से वेदों की वृद्धि करनी चाहिये—"इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्"।

इसी प्रकार मनु, याज्ञवल्क्य, व्यासादि स्मृतियों में पुराणों को धर्म के विषय में वेद की तरह बड़े महत्त्व का स्थान दिया गया है। याज्ञवल्क्य में लिखा है कि पुराण, न्याय, मीमांसादि चौदह विद्याएं धर्म के स्थान हैं:—

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के प्रथम खण्ड में नारद और सनत्कुमार के संवाद में पुराणों को स्पष्ट रूप से पांचवां वेद कहा है। "इतिहास पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः"। धर्म के विषय में पुराणों के इन सब महत्त्वों को लेकर ही महाभारत के आदि पर्व में यह लिखा है कि पुराणों की पुण्य कथाएं धर्म और अर्थ से युक्त रहती हैं अर्थात् पौराणिक कथायें धर्म और अर्थ को देनेवाली होती हैं—"पुराणसंश्रिताः पुण्याः कथा धर्म्मार्थ संश्रिताः"। श्रुति-स्मृति प्रतिपादित सूक्ष्म धर्म का भी वर्णन पुराणों में किया गया है। श्रुति-स्मृति में जो विषय जटिल थे, उन्हें पुराणों ने सरल और स्पष्ट कर दिया है। जहां साधारण रूप से स्मृति ग्रन्थों में यह आया है कि चाण्डलादि शूद्र जाति को विशिष्ट धर्मादिका उपदेश नहीं देना चाहिये वहाँ उसी बात को पुराणों में इस प्रकार दिखाया गया है कि यद्यपि साधारण प्रकार से जैसे द्विज जाति का बालक उपनयन के पूर्व वेदादि के अध्ययन का अधिकारी नहीं रहता है किन्तु उपनयनादि संस्कार से संस्कृत और गायत्र्यादि मंत्र से दीक्षित हो जाने पर उन बातों का अधिकारी हो जाता है उसी प्रकार चाण्डलादि अन्त्यज साधारणतः बहुत अंश में सन्मानित नहीं रहता है किन्तु जब उसको अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौचादि का उपदेश मिल जाता है और जब वह शैव वैष्णवादि मंत्रों से दीक्षित हो जाता है तथा मद्य, मांस, द्यूतादि का परित्याग कर नित्य स्नानादि क्रिया से पवित्र होकर भक्ति-भाव से युक्त होता है तो वह भी समाज में सम्मान का पात्र होकर देवदर्शन, कूप, पाठशाला, तीर्थ, व्रत, उत्सव और कथा पुराण श्रवणादि सामाजिक सर्व साधारण कार्यों में भाग लेने का पूर्ण अधिकारी हो सकता है। यह पुराणों के विधानों से ही स्पष्ट हो जाता है। इस के निर्णय के लिये पुराणों से बढ़कर दूसरा कोई भी साधन नजर में नहीं आता है। पुराणों में अनेक कथाएं ऐसी आई हैं कि जो चांडालादि अंत्यजों के देवदर्शन और पूजन से ही विशेष संबंध रखती हैं, जिससे यह मालूम होता है कि देवदर्शन करने से किसी भी अन्त्यज की इहलोक और परलोक में कभी भी दुर्गति नहीं हुई किन्तु सर्वोत्तम गति ही हुई।

इस विषय पर स्कन्दपुराण में बहुत सी कथायें इस प्रकार आई हैं :—

स्कन्दपुराण के महेश्वरखण्ड में केदारखण्ड के पांचवें अध्याय में आया है कि पूर्व समय में नन्दी नाम का वैश्य अवन्ती नगर में रहता था। वह प्रतिदिन प्रातः तपोवन के एक शिवलिंग की पूजा बड़ी विधि से करता था और अनेक प्रकार के फल-फूल मणि-माणिक्य चढ़ाता था। इस प्रकार नन्दी ने वर्षों तक रुद्राभिषेक और शिवार्चन किया। इसी अवसर पर उस घोर जंगल में घूमता हुआ अविवेकी, भूतहिंसक, पापरत एक शिकारी किरात (चाण्डाल जाति का) अकस्मात् उस प्रदेश में आ पहुँचा। वह बहुत प्यासा था, इस कारण पानी ढूंढ रहा था। इतने में उसने एक तालाब देखा और उसमें प्रवेश कर कुल्ला करके पानी पिया। तालाब के सामने ही अद्भुत शिव

मन्दिर को देखा और उसमें अनेक रत्नों से अलग-अलग पूजित शिवलिंग को देखकर पूजा में चढ़ी हुई रत्नादि सामग्री को बटोर कर इधर-उधर कर दिया। पास में पात्र न होने के कारण किसी प्रकार मुंह में भरे हुए जल से ही शिवलिंग को स्नान कराकर एक हाथ से विल्वपत्र और दूसरे हाथ से मृगमांस चढ़ाया तथा दण्ड प्रणाम कर के मन में यह संकल्प किया कि आज से सावधान होकर पूजा करूंगा। हे शंकर जी! आज से तुम मेरे स्वामी हो और मैं तुम्हारा भक्त हूँ। इस प्रकार नियमबद्ध होकर किरात अपने घर चला आया।

"गण्डूपोत्सर्जनम् कृत्वा पीत्वा तोयं च निर्गतः।"
शिवालयं ददर्शाग्रे अनेकाश्चर्यमण्डितम्।
दृष्टं सुपूजितं लिंगं नानारत्नैः पृथक् पृथक्॥
तथा लिंगं समालक्ष्य यदा पूजां समाहरत्।
रत्नानि विधूतानि इतस्ततः॥
स्नपनं तस्य लिंगस्य कृतं गंडूपवारिणा।
करेणैकेन पूजार्थं विल्वपत्राणि सोऽर्पयत्॥
द्वितीयेन करेणैव मृगमांसं समर्पयत्।
दण्डप्रणामसंयुक्तः संकल्पं मनसाऽकरोत्।
अद्यप्रभृति पूजां वै करिष्यामि प्रयत्नतः॥
त्वं मे स्वामी च भक्तोऽहमद्यप्रभृति शंकर।
एवं नैयमिको भूत्वा किरातो गृहमागतः॥

इसके बाद हर रोज की तरह जब नन्दी पूजा करने आया तो उसने वहाँ का यह सब कार्य देखा जिसे किरात कर गया था। यह देखकर नन्दी बहुत चिन्तित हुआ और सोचने लगा कि यह सब कार्य विघ्न सूचित कर रहा है। न मालूम कौन दोष हो गया है। मालूम पड़ता है कि मेरे दुर्भाग्य से विघ्न आगया है। इस प्रकार बहुत विचार कर शिवमन्दिर को धोकर नन्दी अपने घर लौट गया।

"तथा गतेन मार्गेण नन्दी स्वगृहमागतः।"

घर में नन्दी को दुखी देखकर उसके पुरोहित ने पूछा कि आप क्यों उदासीन हैं? नन्दी ने पुरोहित से कहा कि हे विप्र! आज मैंने शिव के समीप अपवित्र वस्तु को देखा, न मालूम यह कैसे हो गया और किसने किया? तब पुरोहित ने कहा कि इसमें सन्देह नहीं है कि जिसने रत्नादि सामग्री को इधर-उधर फेंका है, वह कार्य और अकार्य को न जानने वाला मूर्ख ही था। किन्तु आप तनिक भी चिन्ता न करें। प्रातः मेरे साथ शिवमन्दिर चलें, मैं उस दुष्ट को

देखूंगा। यह सुनकर नन्दी दुःखित मन से घर में बैठा रहा और जब रात्रि बीती तो पुरोहित के साथ शिवालय चला गया। वहाँ पर उसने विधिविधान के साथ नाना रत्नों से शिव की पूजा की और ब्राह्मणों के साथ दोपहर तक शिवजी की स्तुति की। इतने में हाथ में धनुष लिये बली, महाप्रतापी "महाकाल" नाम का वह किरात आ पहुँचा।

आयातो हि महाकालस्तथा रूपो महाबलः।
कालरूपो महारौद्रो धनुष्पाणिः प्रतापवान्॥

किरात को देखते ही नन्दी डरकर विलाप करने लगा और ब्राह्मण भी भयभीत होगया। तब वह किरात निःसङ्कोच होकर पहले की तरह सब सामग्री हटाकर शिव जी को बिल्वपत्र, नैवेद्य और फल चढ़ा कर दण्डवत प्रणाम करके घर चला गया।

तां पूजां प्रपदाहत्य बिल्वपत्रं समर्पयत्।
नैवेद्यं तत्फलं चैव किरातः शिवमर्पयत्।
दण्डवत्पतितो भूमावुत्थाय स्वगृहं गतः॥

यह सब देखकर नन्दी पुरोहित सहित शोक से व्याकुल हो गया। नन्दी को अपनी रत्नमय सामग्री के आगे एक दीन-गरीब पत्रपुष्प वाली पूजा अभव्य लगी और उसे विघ्नों की आशंका होने लगी। इस कारण उसने बहुत से वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाया और कुल घटना सुना दी। नन्दी को अति शंकित देखकर सब विप्रों ने यह निश्चय किया कि इस विघ्न को देवता भी नहीं रोक सकते, इस कारण तुम लिंग को घर ले चलो। यह सुनकर नन्दी शिव लिंग को उखाड़ कर घर ले गया और स्वर्ण-पीठ में विधिपूर्वक स्थापित कर अनेक प्रकार के उपचारों से उसकी पूजा की। इसके उपरान्त जब दूसरे दिन किरात शिवमन्दिर में आया तो उसने देखा कि मन्दिर में शिवलिंग नहीं है तो एकाएक चुप हो गया और एक गम्भीर करुण क्रन्दन के साथ भगवान् शंकर की प्रार्थना इस प्रकार करने लगा कि हे शम्भो! कहाँ चले गये हो। आज ही मुझे दर्शन दो। यदि मैं तुम्हारा दर्शन न कर सका तो निश्चय आज मैं अपना शरीर छोड़ दूंगा। हे शम्भो! हे जगन्नाथ! हे त्रिपुरान्तक प्रभो! हे रुद्र और महादेव! अपने आप मुझे दर्शन दो।

अथापरेद्युरायातः किरातः शिवमन्दिरम्।
यावद्विलोकयामास लिंगमैशं न दृष्टवान्॥
मौनं विहाय सहसा ह्याक्रोशन्निदमब्रवीत्।
हे शम्भो क्व गतोऽसि त्वं दर्शयात्मानमद्य वै।
न दृष्टोऽसि मया त्वं हि त्यजाम्यद्य कलेवरम्।

हे शम्भो हे जगन्नाथ त्रिपुरांतकर प्रभो ।
हे रुद्र हे महादेव दर्शयात्मानमात्मना ॥

इस प्रकार मधुर वाक्यों से शिव को पुकार कर उस वीर किरात ने अपना पेट फाड़ा, फिर बाजुओं को ठोककर क्रोध से बोलने लगा कि हे शम्भो ! मुझे दर्शन दो, मुझे छोड़कर कहां जाते हो ?

एवं साक्षेपमधुरैर्वाक्यैः शिप्तः सदा शिवः ।
किरातेन ततो रंगैर्वीरोऽसौ जठरं स्वकम् ।
बिभेदाशु ततो बाहूनास्फोटयैव रुषाब्रवीत् ।
हे शम्भो दर्शयात्मानं कुतो मां त्यज्य यास्यसि ॥

इस प्रकार क्रोध से शिव की पुकार मचाकर शरीर से मांस और आंत को काटकर शिवलिंगवाले गड्ढे में चढ़ाने लगा । फिर कुछ देर बाद स्वस्थ चित्त होकर उसने पास के तालाब में देर तक स्नान किया और उसी भांति शीघ्र ही जल तथा विल्वपत्र लाकर उससे जैसा बन पड़ता था वैसा शिवपूजन कर वहां पर शिव के ध्यान में मग्न होकर भूमि में दण्ड के समान गिर गया ।

इति क्षिप्त्वा ततोंत्राणि मांसमुत्कृत्य सर्वतः ।
तस्मिन् गर्ते करेणैव किरातः सहसाक्षिपत् ।
स्वस्थं च हृदयं कृत्वा सस्नौ सत्सरसि ध्रुवम् ।
तथैव जलमानीय बिल्वपत्रं त्वरान्वितः ।
पूजयित्वा यथान्यायं दण्डवत्पतितो भुवि ।
ध्यानस्थितस्ततस्तत्र किरातः शिव संनिधौ ॥

यह सब हो जाने के बाद वहां पर कपूर के समान गौरवर्ण और जटाजूट-धारी चन्द्रशेखर भगवान् शंकर अपने गणों के सहित प्रकट हुए और उस दीन किन्तु परम भक्त किरात को हाथ से पकड़ कर आश्वासन देते हुए शिवजी कहने लगे कि हे महामते और ऊंचे विचारवाले वीर ! तुम मेरे भक्त हो, तुम्हें जो अच्छा लगे उसे मांगो । भगवान् शंकर के यह कहने पर वह महाकाल नाम का किरात प्रसन्न होकर परम भक्ति के साथ भूमि में दण्ड के समान गिर गया । इसके अनन्तर भगवान् शंकर से बोला कि वरदान के विषय में आपसे मेरी यह प्रार्थना है कि हे शंकर ! इसमें सन्देह नहीं है कि मैं आप का दास हूँ और आप मेरे स्वामी हैं । आप जन्म-जन्मान्तर में अपनी भक्ति दीजिये । तुम माता-पिता, भाई-बन्धु, मित्र, गुरु, महामंत्र और सदा मंत्रवेद्य हो; इस कारण तीनों लोकों में आप से बढ़कर दूसरा कुछ भी नहीं है ।

प्रादुर्भूतस्तदा रुद्रः प्रमथैः परिवारितः ।
कर्पूरगौरो द्युतिमान् कपर्दी चन्द्रशेखरः ॥
तं गृहीत्वा करे रुद्र उवाच परिसान्त्वयन् ।
भो भो वीर महाप्राज्ञ मद्भक्तोऽसि महामते ॥
वरं वृणीष्वात्महितं यत्तेऽभिलषितं महत् ।
एवमुक्तः स रुद्रेण महाकालो मुदान्वितः ॥
पपात दण्डवद्भूमौ भक्त्या परमया युतः ।
ततो रुद्रं बभाषे स वरं सम्प्रार्थयाम्यहम् ॥
अहं दासोऽस्मि ते रुद्र त्वं मे स्वामी न संशयः ।
एतद्बुद्ध्वात्मनो भक्तिं देहि जन्मनि जन्मनि ॥
त्वं माता च पिता त्वं च त्वं बन्धुश्च सखा हि मे ।
त्वं गुरुस्त्वं महामंत्रो मंत्रवेद्योऽसि सर्वदा ॥
तस्मात्त्वदपरं नान्यत् त्रिषु लोकेषु किंचन ।

महाकाल किरात की इन सब निष्काम बातों को सुनकर आशुतोष भगवान् शंकर ने तुरन्त ही उसे अपनी सभा का मुखिया और द्वारपाल का पद दे दिया। उस समय चारों ओर से भेरी, डमरु, दुंदुभी और शंखनाद होने लगा। संसार में चारों ओर ध्वनि फैल गई।

उस समय के हर्षनाद को सुन कर अति आश्चर्य के साथ नन्दी शीघ्र ही उस तपोवन में गया जहाँ पर अपने प्रमथ गणों के सहित भगवान् शंकर विराजमान् थे। नन्दी ने वहाँ पर किरात को बड़े गौर से देखा और आश्चर्ययुक्त होकर बड़ी नम्रता के साथ उससे कहा कि हे परंतप! तुम भक्त हो, तुमने परम समाधि से शम्भु को यहाँ बुलाया है।

मैं तुम्हारा भक्त होकर यहाँ आया हूँ। मेरे विषय में शंकर जी से निवेदन कर दो।

निष्कामं वाक्यमाकर्ण्य किरातस्य तदा भवः ।
ददौ पार्षदमुख्यत्वं द्वारपालत्वमेव च ॥
तदा डमरुनादेन नादितं भुवनत्रयम् ।
भेरी-झंकारशब्देन शंखानां निनदेन च ॥
"नंदी तं नादमाकर्ण्य विस्मयात्त्वरितो ययौ" ।
तपोवनं यत्र शिवः स्थितः प्रमथसंवृतः ।
किरातो हि तथा दृष्टो नंदिना च तदा भृशम् ॥

उवाच प्रश्रितो वाक्यं स नंदी विस्मयान्वितः।
किरातं स्तोतुकामोऽसौ परमेण समाधिना ॥
इहानीतस्त्वया शंभुस्त्वं भक्तोसि परंतप ।
त्वद्भक्तोऽहमिह प्राप्तो मां निवेदय शंकरे ॥

नन्दी की इस बात को सुनकर वह दयालु किरात जल्दी से नन्दी को अपने साथ में लेकर शंकर जी के पास गया। इतने में भगवान् शंकर ने किरात से हँसकर कहा कि रुद्रगणों के समीप तुम किसको ले आये हो? किरात ने कहा, भक्तवत्सल भगवान्! यह नित्य प्रति आपकी पूजा करने वाला, नन्दी नाम का वैश्य है, इसको आप मेरा मित्र समझें, क्योंकि यह अनेक पुष्प, धन, धान्य और नाना प्रकार के रत्नों से तथा अपने जीवन से भी आपकी पूजा करता था।

जीवितेन धनेनापि पूजितोऽसि न संशयः।
तस्माज्जानीहि मन्मित्रं नंदिनं भक्तवत्सल ॥

यह सुनकर शिवजी ने कहा—"हे महामते! महाकाल! मैं नन्दी वैश्य को नहीं जानता, तुम मेरे भक्त हो और सखा हो। जो मनुष्य उपाधि रहित है और जो उदार मन के हैं, ऐसे विशिष्ट मनुष्य ही मेरे अत्यन्त प्रिय भक्त हैं"। यह सुनकर किरात ने कहा कि भगवन्! मैं तुम्हारा भक्त हूँ और यह नन्दी मेरा हितैषी है। भगवान् ने किरात की यह विनती सुन ली और उन दोनों को अपना पार्षद बना लिया। इसके बाद वहाँ पर अनेक विमान आये। इस प्रकार भक्ति और ईश्वर की पूजा के द्वारा महाप्रभाववाले उस श्रेष्ठ किरातने एक वैश्यका उद्धार किया:—

ततो विमानानि बहूनि तत्र समागतान्येव महाप्रमाणि।
किरातवर्येण स वैश्यवर्य उद्धारितस्तेन महाप्रभेण ॥

स्कान्द० माहेश खं० (के० खं०) अ० ५।

इसी अध्याय के पहले इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि अच्छे आचार-विचार वाले जो वर्णाश्रमी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र गुरु-मुखसे उपदेश पाकर शिवपूजा में लगे रहते हैं और विश्वको शिवमय देखते हैं तथा इसी प्रकार जो कोई भी पुरुष एवं चाण्डाल भी शिवपूजक हो तो वह शम्भुका अत्यन्त प्रिय होता है। -

गुरोर्मुखाच्च संप्राप्तशिवपूजारताश्च ये।
शिवरूपेण ये विश्वं पश्यंति कृतनिश्चयाः।
सम्यग्बुद्ध्या समाचारा वर्णाश्रमयुता नराः ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्ये तथा नराः।
श्वपचोऽपि वरिष्ठः स शंभोः प्रियतरो भवेत् ॥

इसी खण्ड के तैंतीसवें अध्याय में आया है कि किसी पुल्कस (अन्त्यज) ने प्रसंगवश शिवपूजा की। उसने अविनाशी शिव को पाया, तो फिर जो मनुष्य श्रद्धा-भक्ति के साथ शिवरूप परमात्मा के लिये पत्र, पुष्प, फल, चन्दनादि चढ़ाते हैं उनके फल के विषय में कहना ही क्या है? वे तो इस संसार में रुद्र के ही समान होते हैं इसमें सन्देह नहीं। स्वल्पबुद्धिवाले "चण्ड" नामक पुल्कस ने प्रसंगवश शिवपूजा की तो उसका जीवन सफल हो गया। फिर आगे चल कर ९३ श्लोक में यह वर्णन आया है कि भगवान् शङ्कर के प्रसाद से श्वपच भी वरिष्ठ (मान्य) होता है। इस कारण प्रयत्न से शङ्कर की पूजा करनी चाहिये।

पुल्कसोऽपि तथा प्राप्तः प्रसंगेन सदाशिवम्।
किं पुनः श्रद्धया युक्ताः शिवाय परमात्मने।
पुष्पादिकं फलं गंधं तांबूलं भक्ष्यमृद्धिमत्।
ये प्रयच्छन्ति लोकेऽस्मिन्नुद्रास्ते नात्र संशयः।
चण्डेन वै पुल्कसेन सफलं तस्य चाभवत्।
प्रसंगेनापि तेनैव कृतं तच्चाल्पबुद्धिना।
श्वपचोऽपि वरिष्ठः स्यात्प्रसादाच्छंकरस्य च।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पूजनीयो हि शंकरः॥

इसी अध्याय के तिरासिवें श्लोक में इस प्रकार की कथा आई है कि किसी चंचला ब्राह्मणी के अधर्म कर्म से एक चाण्डाल पैदा हुआ। वह अत्यन्त पापी, सुरापी, चोर, ठग, शिकारी, धर्मरहित और अत्यन्त दुष्टात्मा था। वह एक समय शिवरात्रि के अवसर पर शिवालय में गया और शिव के पास उसने उपवास रखा। उसको स्वयंभू लिंगरूपी भगवान् शङ्कर के समीप ही अकस्मात् मौके-मौके पर शिवशास्त्र का श्रवण भी हो गया। इन सब कर्मों के फलों से वह चाण्डाल पुण्ययोनि को प्राप्त हुआ।

मृगयुश्च दुरात्मासौ कर्मचाण्डाल एव सः।
अधर्मिष्ठोऽप्यसद्वृत्तः कदाचिच्च शिवालयम्॥
शिवरात्र्यां च संप्राप्तो क्षुपितः शिवसन्निधौ।
श्रवणं शैवशास्त्रस्य यदृच्छाजातमंतिके।
शिवस्य लिंगरूपस्य स्वयंभुवो यदा तदा॥
स एकत्रोपितो दुष्टः शिवरात्र्यां तु जागरात्।
तेन कर्मविपाकेन पुण्यां योनिमवाप्तवान्॥

इसी माहेश्वरखण्ड में केदारखण्ड के आठवें अध्याय के ११६ वें श्लोक में यह विधान आया है कि स्त्री, शूद्र और श्वपचादि अन्त्यज जो कोई भी लिंग रूपी सदाशिव की पूजा करते हैं, वे सर्व दुःख-विनाशक उस शिव को प्राप्त करते ही हैं।

येऽर्चयन्ति शिवं नित्यं लिंगरूपिणमेव च।
स्त्रियो वाप्यथवा शूद्राः श्वपचा ह्यन्त्यवासिनः।
तं शिवं प्राप्नुवन्त्येव सर्वदुःखोपनाशनम्॥

इसी के आगे यह भी वर्णन आया है कि मनुष्य क्या पशु भी किसी प्रकार दर्शनादि करने से परम स्थान को चले गये—"पशवोऽपि परं याताः किं पुनर्मानुषादयः"॥ आगे इसी खण्ड के इकतीसवें अध्याय में यह वर्णन मिलता है कि गिरि लोग (पर्वताधिष्ठातृ देवता) कहते हैं कि हे शम्भो! हम तुम्हें नमस्कार करते हैं, हम आपकी शरण में आये हैं। आपने अपने दर्शन से श्वपचों को वरिष्ठ (मान्य) किया है :—

वरिष्ठाः श्वपचा येन कृता वै दर्शनात्त्वया।
त्वां नमामो जगद्वन्द्यं त्वां वयं शरणागताः॥

एक जगह इसी अध्याय में भगवान् शंकर धर्मराज से कहते हैं :—

बहूनां जन्मनामन्ते मयि भावोऽनुवर्तते।
प्राणिनां सर्वभावेन जन्माभ्यासेन भो यम॥
तस्मात्सुकृतिनः सर्वे येषां भावोऽनुवर्तते।
जन्मजन्मानुवृत्तानां विस्मयं नैव कारयेत्॥
स्त्री बाल शूद्राः श्वपचाधमाश्च प्राग्जन्मसंस्कारवशाद्धि धर्म।
योनिं गताः पापिषु वर्तमानास्तथापि शुद्धा मनुजा भवन्ति॥

अर्थात् हे यम! प्राणियों को जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से अनेक जन्म में मेरे प्रति भाव का उदय होता है, इस कारण मुझ मे भाव (प्रेम) रखने वाले सभी प्राणियों को पुण्यात्मा समझना चाहिये। इस विषय मे थोड़ा भी आश्चर्य न करना चाहिये। हे धर्मराज! यद्यपि मनुष्य पूर्वजन्म के कर्मानुसार स्त्री, शूद्र, श्वपच या अधम से भी अधम योनि मे पहुँच जाता है और पाप कर्मों में विद्यमान रहता है, फिर भी मुझ मे भाव रखने वाले ऐसे प्राणी शुद्ध मनुष्य होते हैं अर्थात् उन्हें अशुद्ध या घृणित नहीं समझना चाहिये। इस खण्ड के १९ वें अध्याय मे लोमश जी ब्राह्मणों से कहते हैं कि शिव से बढ़कर दूसरा पूजनीय देव नहीं है। शिव भक्ति में लगे हुए मूक, अंध, पंगु, अज्ञानी

इसी खण्ड के तैंतीसवें अध्याय में आया है कि किसी पुल्कस (अन्त्यज) ने प्रसंगवश शिवपूजा की। उसने अविनाशी शिव को पाया, तो फिर जो मनुष्य श्रद्धा-भक्ति के साथ शिवरूप परमात्मा के लिये पत्र, पुष्प, फल, चन्दनादि चढ़ाते हैं उनके फल के विषय में कहना ही क्या है? वे तो इस संसार में रुद्र के ही समान होते हैं इसमें सन्देह नहीं। स्वल्पबुद्धिवाले "चण्ड" नामक पुल्कस ने प्रसंगवश शिवपूजा की तो उसका जीवन सफल हो गया। फिर आगे चल कर ९३ श्लोक में यह वर्णन आया है कि भगवान् शङ्कर के प्रसाद से श्वपच भी वरिष्ठ (मान्य) होता है। इस कारण प्रयत्न से शङ्कर की पूजा करनी चाहिये।

पुल्कसोऽपि तथा प्राप्तः प्रसंगेन सदाशिवम्।
किं पुनः श्रद्धया युक्ताः शिवाय परमात्मने।
पुष्पादिकं फलं गंधं तांबूलं भक्ष्यमृद्धिमत्।
ये प्रयच्छन्ति लोकेऽस्मिन्रुद्रास्ते नात्र संशयः।
चण्डेन वै पुल्केसेन सफलं तस्य चाभवत्।
प्रसंगेनापि तेनैव कृतं तच्चाल्पबुद्धिना।
श्वपचोऽपि वरिष्ठः स्यात्प्रसादाच्छंकरस्य च।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पूजनीयो हि शंकरः॥

इसी अध्याय के तिरासिवें श्लोक में इस प्रकार की कथा आई है कि किसी चंचला ब्राह्मणी के अधर्म कर्म से एक चाण्डाल पैदा हुआ। वह अत्यन्त पापी, सुरापी, चोर, ठग, शिकारी, धर्मरहित और अत्यन्त दुष्टात्मा था। वह एक समय शिवरात्रि के अवसर पर शिवालय में गया और शिव के पास उसने उपवास रखा। उसको स्वयंभू लिंगरूपी भगवान् शङ्कर के समीप ही अकस्मात् मौके-मौके पर शिवशास्त्र का श्रवण भी हो गया। इन सब कर्मों के फलों से वह चाण्डाल पुण्ययोनि को प्राप्त हुआ।

मृगयुश्च दुरात्मासौ कर्मचाण्डाल एव सः।
अधर्मिष्ठोऽप्यसद्वृत्तः कदाचिच्च शिवालयम्।
शिवरात्र्यां च संप्राप्तो क्षुधितः शिवसन्निधौ।
श्रवणं शैवशास्त्रस्य यदृच्छाजातमंतिके।
शिवस्य लिंगरूपस्य स्वयंभुवो यदा तदा॥
स एकत्रोषितो दुष्टः शिवरात्र्यां तु जागरात्।
तेन कर्मविपाकेन पुण्यां योनिमवाप्तवान्॥

इसी माहेश्वरखण्ड में केदारखण्ड के आठवें अध्याय के ११६ वें श्लोक में यह विधान आया है कि स्त्री, शूद्र और श्वपचादि अन्त्यज जो कोई भी लिंग रूपी सदाशिव की पूजा करते हैं, वे सर्व दुःख-विनाशक उस शिव को प्राप्त करते ही हैं।

येऽर्चयन्ति शिवं नित्यं लिंगरूपिणमेव च।
स्त्रियो वाप्यथवा शूद्राः श्वपचा ह्यन्त्यवासिनः।
तं शिवं प्राप्नुवन्त्येव सर्वदुःखोपनाशनम् ॥

इसी के आगे यह भी वर्णन आया है कि मनुष्य क्या पशु भी किसी प्रकार दर्शनादि करने से परम स्थान को चले गये—"पशवोऽपि परं याताः किं पुनर्मानुपादयः" ॥ आगे इसी खण्ड के इकतीसवें अध्याय में यह वर्णन मिलता है कि गिरि लोग (पर्वताधिष्ठातृ देवता) कहते हैं कि हे शम्भो! हम तुम्हें नमस्कार करते हैं, हम आपकी शरण में आये हैं। आपने अपने दर्शन से श्वपचों को वरिष्ठ (मान्य) किया है:—

वरिष्ठाः श्वपचा येन कृता वै दर्शनात्त्वया।
त्वां नमामो जगद्बन्धुं त्वां वयं शरणागताः ॥

एक जगह इसी अध्याय में भगवान् शंकर धर्मराज से कहते हैं:—

बहूनां जन्मनामन्ते मयि भावोऽनुवर्तते।
प्राणिनां सर्वभावेन जन्माभ्यासेन भो यम ॥
तस्मात्सुकृतिनः सर्वे येषां भावोऽनुवर्तते।
जन्मजन्मानुवृत्तानां विस्मयं नैव कारयेत् ॥
स्त्री बाल शूद्राः श्वपचाधमाश्च प्राग्जन्मसंस्कारवशाद्धि धर्म।
योनिं गताः पापिषु वर्तमानास्तथापि शुद्धा मनुजा भवन्ति ॥

अर्थात् हे यम! प्राणियों को जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से अनेक जन्म में मेरे प्रति भाव का उदय होता है, इस कारण मुझ में भाव (प्रेम) रखने वाले सभी प्राणियों को पुण्यात्मा समझना चाहिये। इस विषय में थोड़ा भी आश्चर्य न करना चाहिये। हे धर्मराज! यद्यपि मनुष्य पूर्वजन्म के कर्मानुसार स्त्री, शूद्र, श्वपच या अधम से भी अधम योनि में पहुँच जाता है और पाप कर्मों में विद्यमान रहता है, फिर भी मुझ में भाव रखने वाले ऐसे प्राणी शुद्ध मनुष्य होते हैं अर्थात् उन्हें अशुद्ध या घृणित नहीं समझना चाहिये। इस खण्ड के १९ वें अध्याय में लोमश जी ब्राह्मणों से कहते हैं कि शिव से बढ़कर दूसरा पूजनीय देव नहीं है। शिव भक्ति में लगे हुए मूक, अंध, पंगु, अज्ञानी

और अन्त्यज जाति के चाण्डाल तथा श्वपचादि कोई भी हों वे सब परम गति को पाते हैं। इस कारण सब मनुष्यों को सदा शिव की पूजा करनी चाहिये :—

शिवात्परतरो नास्ति पूजनीयो हि भो द्विजाः ।
ये मूकास्तथांधाश्च पंगवो ये जडास्तथा ॥
जातिहीनाश्च चंडालाः श्वपचा ह्यन्तजा ह्यसी ।
शिवभक्तिपरा नित्यं ते यान्ति परमां गतिम् ॥
तस्मात्सदाशिवः पूज्यः सर्वैरेव मनीषिभिः ।
पूजनीयो हि संपूज्यो ह्यर्चनीयः सदाशिवः ॥ ६७-६८ ॥

केदारखण्ड के ३१ इकतीसवें अध्याय में स्वामी कार्तिकेय को शिव का ही स्वरूप बताते हुए यह वर्णन आया है कि सत्यशील, शान्त, दानी, वेद-वेदांग पारंगत, धर्मनिष्ठ, जितेन्द्रिय, रागद्वेष रहित और निर्लोभी याज्ञिक लोग जिस उत्तम गति को प्राप्त करते हैं, हे शम्भो ! आप का दर्शन करनेवाले अधम श्वपच भी उसी गति को प्राप्त करते हैं :—

ये सत्यशीलाः शांताश्च वदान्या निरवग्रहाः ।
जितेन्द्रिया अलुब्धाश्च कामरागविवर्जिताः ॥
याज्ञिका धर्मनिष्ठाश्च वेदवेदांगपारगाः ।
या गतिं यांति वै शम्भो सर्वे सुकृतिनोऽपि ते ।
तां गतिं दर्शनात्सर्वे श्वपचा अधमा अपि ॥ २२-२३-२४ ॥

इसी बात को वहीं पर फिर २७ वें श्लोक में भी कहा है :—

कुमारदर्शनात्सर्वे श्वपचा अपि यांति वै ।
सद्गतिं त्वरितेनैव किं क्रियते मयाऽधुना ॥

कर्म-चाण्डाल की कथा

इस कथा में जाति-चाण्डाल की अपेक्षा कर्म-चाण्डाल को अधम दिखाया गया है। इस कथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जाति-चाण्डाल के देवदर्शन और पूजनादि से देवविग्रह में वैसा दोष नहीं होता है जैसा कि कुछ लोग समझते हैं, किन्तु कर्म-चाण्डाल के दर्शन, स्पर्श और पूजन से प्रतिमा दूषित हो जाती है, वह कर्मचाण्डाल चाहे किसी भी ऊँची जाति का क्यों न हो। यह कथा स्कन्दमहापुराण के ब्रह्मखण्ड के धर्मारण्य के २७ वें अध्याय के गोवत्स-तीर्थ के माहात्म्य प्रकरण मे इस प्रकार आई है कि देवताओं ने गोवत्सतीर्थ में एक प्राचीन शिवलिङ्ग की स्थापना की। स्थापना के बाद, वह लिङ्ग प्रतिदिन बढ़ने लगा। इस प्रकार की वृद्धि देखकर देवताओं को भय होने लगा। इतने

में आकाशवाणी के रूप में यह शिववाणी हुई कि "आप लोग बिलकुल भय न करें, किन्तु किसी चाण्डाल को लाकर उसे मेरे सामने स्थापित करें"। यह सुनकर देवता लोगोंने भी वैसा ही किया; किन्तु इस पर भी शिवलिङ्ग की वृद्धि में कमी नहीं हुई; कारण कि देवता लोगों को यह मालूम नहीं था कि यहां पर किस प्रकार का चाण्डाल विवक्षित है, इस कारण वे लोग जातिचाण्डाल को ले आये :–

हे लोका मा भयं वोऽस्तु उपायः श्रूयतामयम्।
कश्चिचाण्डालमानीय मत्पुरः स्थाप्यतां ध्रुवम्॥
चण्डालांश्च समानीय दधुर्देवस्य ते पुरः।
तथापि तस्य वृद्धिस्तु नैव निवर्तते पुनः॥ ३०-३१॥

इसके बाद पुनः यह आकाशवाणी हुई कि देवतालोगों में जो कर्मचाण्डाल हो, उसे मेरे आगे लाओ। यह सुनकर देवताओं को अति आश्चर्य हुआ और किसी कर्मचाण्डाल को नगर तथा गांवों में खोजने लगे। इतने में उन्हें पापकर्म में रत और अपने को ब्राह्मण बतानेवाला मनुष्य मिला। वह ब्राह्मण भूखे, प्यासे, दुर्बल और बोझ से लदे हुए बैलों को मध्याह्न में जोतता था। बिना स्नान के भी बासी भोजन करता था। ऐसे कर्मचाण्डाल को देवता शिवजी के आगे ले आये। देवालय के आगे आते ही वह कर्मचांडाल भस्म हो गया, तब से उस जगह का नाम चाण्डालस्थल पड़ गया। उसी समय शिवलिङ्ग वृद्धि को छोड़कर अपने स्वरूप में आ गया।

कर्मणा यस्तु चांडालः सोऽग्रे मे स्थाप्यतां जनाः।
तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यमतिं चक्रुर्विलोचने॥
मार्गमाणास्तदा ते तु ग्रामाणि नगराणि च।
कश्चित्कर्मरतं पापं ददृशुर्ब्राह्मणब्रुवम्॥
वृषभान्भारसंयुक्तान्मध्याह्नेऽवाहयत्तु सः।
क्षुत्तृट्श्रमपरीतांश्च दुर्बलान्क्रूरमानसः॥
अस्नात्वाऽपि पर्युषितं भक्षयतीह वै द्विजः।
तं समादाय देवेशं जग्मुर्यत्र जगद्गुरुः॥
देवालयाग्रभूमौ तं स्थापयामासुरादृताः।
भस्मी बभूव सहसा गोवत्साग्रे निरूपितः॥
"तदा प्रभृति तल्लिंगं साम्यभावमुपागतम्"।

इसी ब्रह्मखण्ड के ब्रह्मोत्तर खण्ड में आया है कि शिवभक्तियुक्त चांडाल, पुल्कस, स्त्री, पुरुष, नपुंसक चाहे जो कोई भी हो वह संसार बन्धन से छूट

जाते हैं। भक्ति के आगे कुल, आचार, शील और गुणों से क्या ? यदि मनुष्य शम्भु की भक्ति से युक्त है तो वह सब देहधारियों का वन्द्य होता है।

शिवभक्तियुतो मर्त्यश्चांडालः पुल्कसोऽपि च।
नारी नरो वा पंढो वा सद्यो मुच्येत संसृतेः॥
किं कुलेन किमाचारैः किं शीलेन गुणेन वा।
भक्तिलेशयुतः शम्भो स वंद्यः सर्वदेहिनाम्॥

अध्याय ५।

शबर की कथा

जिसकी जैसी भावना और श्रद्धा होती है उसको वैसा फल अवश्य मिलता है, इस विषय को लेकर इसी ब्रह्मोत्तर खण्ड के सत्रहवें अध्याय में सूतजी ने ऋषियों से शबर की कथा कही है। शास्त्र में चांडाल जाति का ही एक भेद शबर जाति मानी जाती है। वह कथा इस प्रकार है कि पाञ्चाल के राजा का सिंहकेतु नाम का एक पुत्र था। वह क्षात्रधर्म में तत्पर और सर्वगुणों से युक्त था। एक समय वह राजकुमार कुछ नौकरों को साथ लेकर जीव-जन्तुओं से भरे हुए जङ्गल में शिकार खेलने गया। शिकार के लिये वन में घूमते हुए उसके किसी "शबर" नौकर ने जीर्ण, टूटे-फूटे और गिरे हुए एक देवालय को देखा।

उसने उस मन्दिर में गिरे हुए आधारपीठ के ऊपर अपने मूर्तिमय भाग्य के समान एक सीधा और सूक्ष्म शिवलिङ्ग को देखा :—

आसीत्पांचालराजस्य सिंहकेतुरिति श्रुतः।
पुत्रः सर्वगुणोपेतः क्षात्रधर्मरतः सदा॥
स एकदा कतिपयैर्भृत्यैर्युक्तो महाबलः।
जगाम मृगया हेतोर्बहुसत्त्वान्वितं वनम्।
तद्भृत्यः शबरः कश्चिद्विचरन्मृगयां वने।
ददर्श जीर्णं स्फुटितं पतितं देवतालयम्।
तत्रापश्यद्भिन्नपीठं पतितं स्थंडिलोपरि।
शिवलिङ्गमृजुं सूक्ष्मं मूर्तं भाग्यमिवात्मनः॥

११-१२-१३-१४।

अपने पूर्वजन्म के शुभकर्मों से प्रेरित होकर उस शबर ने तुरन्त ही शिव-लिङ्ग को लाकर राजपुत्र को दिखाया और कहने लगा कि स्वामिन्! देखिये, यह कैसा मनोहर लिङ्ग है ? मैंने इसको देखा है, इस कारण मैं अपने विभव के

अनुसार आदर से इसकी पूजा करूँगा। मुझे इसकी पूजाविधि बताइये, क्योंकि भगवान् महेश्वर तो अमंत्रज्ञ के भी पूजने पर प्रसन्न हो जाते हैं :—

स तमादाय वेगेन पूर्वकर्मप्रचोदितः ।
तस्मै संदर्शयामास राजपुत्राय धीमते ॥
पश्येदं रुचिरं लिंगं मया दृष्टमिह प्रभो ।
तदेतत्पूजयिष्यामि यथाविभवमादरात् ॥
अस्य पूजाविधिं ब्रूहि यथा देवो महेश्वरः ।
अमंत्रज्ञैश्च मंत्रज्ञैः प्रीतो भवति पूजितः ॥

१५-१६-१७

निषाद (शबर) के इस प्रकार पूजा-विधि पूछने पर हंसी करने में चतुर उस राजकुमार ने हंसकर पूजा की यह साधारण विधि कही कि संकल्प लेकर शुद्ध और ताजे पानी से स्नान करके पवित्र आसन पर बैठ कर सुन्दर गन्ध, पत्र, पुष्प, धूप और दीप से शिव की पूजा करे। भगवान् शंकर चिता-भस्मधारी हैं; अतः पूजा के उपरान्त चिता-भस्म का उपहार देवे और अपने भोज्य अन्न का नैवेद्य चढावे, फिर धूप-दीपादि सामग्री चढावे, यथाशक्ति बाजा, नृत्य और संगीत भी करे। इसके बाद भगवान् को नमस्कार करके प्रसाद धारण करे। साधारण रूप में तुम से पूजा-विधि कह दी है। भगवान् शङ्कर चिताभस्म से शीघ्र सन्तुष्ट हो जाते हैं :—

इति तेन निषादेन पृष्टः पार्थिवनंदनः ।
प्रत्युवाच प्रहस्यैनं परिहासविचक्षणः ॥
संकल्पेन सदा कुर्यादभिषेकं नवांभसा ।
उपवेश्यासने शुद्धे शुभैर्गंधाक्षतैर्नवैः ॥
वन्यैः पत्रैश्च कुसुमैर्धूपैर्दीपैश्च पूजयेत् ।
चिताभस्मोपहारं च प्रथमं परिकल्पयेत् ॥
आत्मोपभोग्येनान्नेन नैवेद्यं कल्पयेद्बुधः ।
पुनश्च धूपदीपादीनुपचारान्प्रकल्पयेत् ।
नृत्यवादित्रगीतादीन्यथावत्परिकल्पयेत् ॥
नमस्कृत्वा तु विधिवत्प्रसादं धारयेत् बुधः ॥
एष साधारणः प्रोक्तः शिवपूजा विधिस्तव ।

१८-२२।

सूत जी कहते हैं कि राजा ने हँसी के साथ यह पूजा का उपदेश दिया और चंड नाम के शबर ने राजा के वचनों को नतमस्तक होकर धारण किया।

स चंडाख्यस्तु शबरो मूर्ध्ना जग्राह तद्वचः।

इसके बाद वह शबर अपने घर चले आने पर भी प्रतिदिन लिंगमूर्त्ति महेश्वर की पूजा करता था। पूजा में राजकुमार के उपदेशानुसार धूप, दीप, नैवेद्य, गन्ध, अक्षत, पुष्प और चिताभस्म का उपहार चढ़ाया करता था।

ततः स्वभवनं प्राप्य लिंगमूर्तिं महेश्वरम्।
प्रत्यहं पूजयामास चिताभस्मोपहारकृत्॥

इस प्रकार अपनी स्त्री के साथ भक्तिपूर्वक शिवपूजन करते हुए उसके कुछ वर्ष सुख के साथ बीते।

एवं महेश्वरं भक्त्या सहपत्न्याभ्यपूजयत्।
शबरः सुखमासाद्य निनाय कतिचित्समाः॥

किन्तु राजकुमार ने शिवपूजा के उपहार में चिताभस्म पर विशेष माहात्म्य दिखा रखा था (चिताभस्मोपहारेण सद्यस्तुष्यति शंकरः)। एक दिन ऐसा हुआ कि जब शबर शिवपूजा के लिए प्रवृत्त हुआ तो चिताभस्म से पूर्ण पात्र में जरा भी भस्म नहीं दिखाई दी।

"न ददर्श चिताभस्म पात्रे पूरितमण्वपि।"

इस पर उसने इधर-उधर बहुत खोज की। जब उसे भस्म नहीं मिली तो वह थककर घर चला आया (श्रान्तो गृहमगात्पुनः)। उसने अपनी स्त्री को बुलाया और कहा कि आज मुझे चिताभस्म नहीं मिली। हे प्रिये! बताओ, अब मैं क्या करूँ? मालूम पड़ता है मुझ पापी की शिवपूजा में विघ्न आ गया है। जो कुछ हो, परन्तु मैं पूजा के बिना क्षण भर भी जीवित रहने का उत्साह नहीं कर सकता।

शिवपूजांतरायो मे जातोद्य बत पाप्मनः।
पूजां विना क्षणमपि नाहं जीवितुमुत्सहे॥

क्या करूँ, पूजा सामग्री के लुप्त होने पर कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। समस्त अर्थ को देनेवाला गुरु का आदेश भी नष्ट नहीं होना चाहिये; अर्थात् भस्म नष्ट हो गयी है। उसके बिना ही पूजा करूँ तो गुरु का उपदेश बाधित होता है।

उपायं नात्रपश्यामि पूजोपकरणे हते।
न गुरोश्च विहन्येत शासनं सकलार्थदम्।

अपने पति को इस प्रकार व्याकुल देखकर शवरी बोली कि पतिदेव ! डर मत करो, मैं उपाय बताती हूं। "इस पुराने घर में आग लगाकर मैं अग्नि में प्रवेश करती हूँ, उसी से चिताभस्म हो जायगी।" इस पर शवर ने कहा कि शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का परम साधन है। इस नव यौवन वाले शरीर को क्यों छोड़ती हो; तुम्हारी सन्तान भी नहीं है, फिर क्यों इसे जलाना चाहती हो ? पति को उत्तर देती हुइ शवरी बोली कि जो दूसरे के लिये प्राण त्याग करता है तो इससे उसके जीवन और जन्म की सफलता हो जाती है। इस पर यदि "शिव" के लिये प्राणत्याग दे तो जीवन की सफलता के बारे में कहना ही क्या है। क्या मैंने पूर्व जन्म में घोर तप किया है, दान दिया है, क्या मैंने सैकड़ों पूर्व जन्मों में शम्भु का अर्चन किया है, क्या मेरे पिता का कुछ भी पुण्य है, क्या मेरे जन्म से माता की कुछ भी कृतार्थता है ? यदि ये सब बातें होतीं तो यह दुःखद दशा न होती। अतः मैं भगवान् शंकर के लिये प्रदीप्त अग्नि में शरीर छोड़ दूंगी।

एतावदेव साफल्यं जीवितस्य च जन्मनः।
परार्थे यस्त्यजेत्प्राणाञ्छिवार्थे किमुत स्वयम् ॥
किंवा पुण्यं मम पितुः का वा मातुः कृतार्थता।
यच्छिवार्थे समिद्धेऽग्नौ त्यजाम्येतत्कलेवरम् ॥

अपनी पत्नी का दृढ निश्चय और शङ्कर में भक्ति देखकर शवर ने भी दृढ संकल्प होकर शिव की पूजा की। शवरी अपने पति के साथ जाकर स्नान से शुद्ध और आभूषणों से अलंकृत होकर घर में अग्नि लगाकर भक्ति से घर की प्रदक्षिणा करके अपने गुरु को नमस्कार और हृदय मे शिव का ध्यान कर के अग्नि प्रवेश करने के लिये तैयार होती हुई हाथ जोड़ कर यह विनती करने लगी :—

पुष्पाणि सन्तु तव देव ममेन्द्रियाणि
धूपोऽगुरुर्वपुरिदं हृदयं प्रदीपः।
प्राणा हवींषि करणानि तवाक्षताश्च
पूजाफलं व्रजतु सांप्रतमेष जीवः ॥
वाञ्छामि नाहमपि सर्वधनाधिपत्यं
न स्वर्गभूमिमचलां न पदं विधातुः।
भूयो भवामि यदि जन्मनि जन्मनि स्यां
त्वत्पादपंकजलसन्मकरंदभृंगी ॥
जन्मानि सन्तु मम देव शताधिकानि
माया न मे विशतु चित्तमबोधहेतुः।

किंचित्क्षणार्धमपि ते चरणारविन्दा-
न्नापैतु मे हृदयमीश नमो नमस्ते ॥

अर्थात्—हे देव ! मेरी इन्द्रियाँ तुम्हारे लिये पुष्प हों, यह शरीर अगुरु धूप के रूप में हो जाय, हृदय प्रदीप हो, प्राण हविष हो और कर्मेन्द्रियाँ अक्षत हो जायं। इस प्रकार की पूजा के फल को अब यह जीव प्राप्त होवे। मैं सम्पूर्ण धन की मालकिन होना नहीं चाहती, किन्तु मैं यही चाहती हूँ कि "यदि मेरा पुनर्जन्म हो तो उसमें मैं तुम्हारे पदकमल में सुशोभित पराग को चाहनेवाली भ्रमरी बनूँ। हे देव ! चाहे मेरे सैकड़ों जन्म हों किन्तु उन जन्मों में मेरे चित्त के अन्दर अज्ञान को पैदा करनेवाली माया प्रवेश न करे और हे ईश ! मेरा चित्त आधे क्षण के लिये भी तुम्हारे चरणारविन्द से अलग न हो"। बस, आपको नमस्कार है। इस प्रकार शङ्कर को प्रसन्न करके दृढ़ संकल्पवाली शवरी जलती हुई अग्नि में कूद पड़ी और क्षणभर में भस्म हो गई। इधर शवर को भी शिवपूजन के आगे संसार का कुछ पता नहीं था, वह जले हुए घर के पास पूजा कर रहा था। उसे चिताभस्म भी मिल गई। पूजा करने के बाद प्रसाद लेते समय शवर को प्रतिदिन नम्रता के साथ हाथ जोड़कर प्रसाद के लिये आनेवाली अपनी स्त्री का स्मरण हुआ। स्मरण के साथ ही उसने पीछे खड़ी अपनी स्त्री को देखा और घर को भी पहले की तरह ज्यों का त्यों देखा।

"स्मृतमात्रां तदापश्यदागतां पृष्ठतः स्थिताम्"

यह सब देखकर शवर को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा कि यह स्वप्न तो नहीं है; अथवा माया तो नहीं है। सन्देह निवृत्ति के लिये स्त्री से पूछने लगा कि अग्नि में भस्म होने पर भी तुम कैसे आगई और यह मकान कैसे खड़ा हो गया ?

उत्तर में शवरी बोली कि जब मैंने घर जलाकर अग्नि में प्रवेश किया तो मुझे अपना कुछ भी ख्याल नहीं रहा और न अग्नि का ही अनुभव हुआ। मुझे बिल्कुल ही ताप मालूम नहीं हुआ। मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि मैंने जल में प्रवेश किया हो। मैं क्षणभर में सुषुप्ति अवस्था में जैसी पड़ गई, इतने में मैंने घर को बिना जला हुआ जैसा देखा। इस वक्त देवपूजा के बाद प्रसाद लेने आई हूँ :—

यदा गृहं समुद्दीप्य प्रविष्टाहं हुताशने ।
तदात्मानं न जानामि न पश्यामि हुताशनम् ॥
न तापलेशोऽप्यासीन्मे प्रविष्टाया इवोदकम् ।
सुप्तेव क्षणार्धेन प्रबुद्धास्मि पुनः क्षणात् ॥

तावद्भवनमद्राक्षमदग्धमिव सुस्थितम् ।
अधुना देव पूजान्ते प्रसादं लब्धुमागता ॥

भगवान् भक्तों की परीक्षा के लिए अनेक माया रचा करते हैं। सुदामा के मुट्ठी भर तण्डुल के भक्षण से ही भगवान् ने उसका जीवन पलट दिया था। ऐसे चमत्कारमय रहस्यों से हमारा धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। यही बात इस शबर की कथा में समझनी चाहिये। इसके बाद उन दोनों दम्पतियों के सन्मुख एक सुन्दर दिव्य विमान आ पहुँचा। उसमें शिव के चार अनुचर भी थे। उन लोगों ने शबर और शबरी का हाथ पकड़ कर उन्हें विमान पर बैठा लिया। देवदूतों के करों का स्पर्श होते ही वे दम्पति शिव के सारूप्य को प्राप्त हो गये:—

तयोर्निषाददम्पत्योस्तत्क्षणादेव तद्वपुः ।
शिवदूतकरस्पर्शात्तत्सारूप्यमवापह ॥

यह सब कथा सुनाकर सूत जी निष्कर्ष के रूप में कहते हैं:—

तस्माच्छ्रद्धैव सर्वेषु विधेया पुण्यकर्मसु ।
नीचोऽपि शबरः प्राप श्रद्धया योगिनां गतिम् ॥
किं जन्मना सकलवर्णजनोत्तमेन
किं विद्यया सकलशास्त्र विचारवत्या ।
यस्यास्ति चेतसि सदा परमेश भक्तिः
कोऽन्यस्तत त्रिभुवने पुरुषोऽस्ति धन्यः ॥

अर्थात् सब पुण्य कर्मों में श्रद्धा अवश्य रखनी चाहिये। श्रद्धा के प्रभाव से ही नीच शबर भी योगियों की गति को प्राप्त हो गया।

सब से ऊँचे वर्ण और जन्म से क्या, समस्त शास्त्रों में विचारवाली विद्या से क्या, जिसके हृदय में परमेश्वर के प्रति अटूट भक्ति होती है, उससे बढ़ कर इस संसार में और कौन धन्य हो सकता है?

आगे चलकर काशीखण्ड में लिखा है कि तुलसीदल से शालिग्राम की पूजा करने वाला ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र अन्त्यजादि चाहे कोई भी हो वह देवताओं के यहाँ "पारिजात" की माला से पूजा जाता है, विष्णु-भक्ति से युक्त ऐसे मनुष्य को विष्णु का भक्त और सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिये।

शालिग्राम शिला येन पूजिता तुलसीदलैः ।
स पारिजातमालाभिः पूज्यते सुरसद्मनि ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः ।
विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमश्च सः ॥

श्लो० ६२-६३ अ० १८।

काशीखण्ड के ८२ वें अध्याय के अन्दर 'वीरेश महालिंग के आविर्भाव की कथा' प्रसंग में यह वर्णन आया है कि "मित्रजित्" नाम के राजा के राज्य में अन्त्यज भी वैष्णवी दीक्षा प्राप्त कर के शंख चक्रादि से चिह्नित थे और वे लोग यज्ञ में दीक्षितों के समान हो गये अर्थात् दीक्षितों के समान पवित्र आचरण वाले हो गये :—

अन्त्यजा अपि तद्राष्ट्रे शंखचक्रांकधारिणः ।
संप्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव संबभुः ॥

प्राचीन काल में चाण्डाल पर्यन्त समस्त अन्त्यज मात्र को तीर्थ यात्रा करने का पूर्ण अधिकार था। इस विषय पर काशीखण्ड के ९८ वें अध्याय में महादेव जी "महानन्द" नाम के ब्राह्मण की कथा के अन्दर विष्णु से कहते हैं कि महानन्द नाम का कोई ब्राह्मण काशी में रहता था। पहले वह बड़ा शान्त और सदाचारी था। कुछ काल के बाद उसका विवाह हुआ। उसकी स्त्री सदाचारिणी नहीं थी। उसके संसर्ग से वह ब्राह्मण भी पतित और भ्रष्टाचारी हो गया। इसी अवसर पर पर्वत प्रान्त से एक धनी चाण्डाल आया। उसने "चक्र" नाम के तालाब में स्नान कर के यह घोषणा की कि मैं धन देना चाहता हूँ। जाति का चाण्डाल हूं। कोई प्रतिग्रह लेनेवाला हो तो उसे धन दूंगा।

अहमस्मि धनं दित्सुर्जात्या चांडालसत्तमः ।
अस्ति कश्चित्प्रतिग्राही यस्मै दद्यामहं धनम् ॥

यह घोषणा सुनकर किसी ने इशारे से ब्राह्मण को दिखा कर कहा कि यही तुम से प्रतिग्रह लेगा। यह सुनकर वह अन्त्यज उस ब्राह्मण के पास गया और दण्डवत प्रणाम कर के कहने लगा कि हे महाब्राह्मण! मेरा उद्धार करो। मेरी तीर्थयात्रा सफल करो। मेरे पास कुछ वस्तु है, अनुग्रह के साथ उसे ग्रहण करो।

मामुद्धर महाविप्र तीर्थं मे सफलीकुरु
किंचिद्वस्त्वस्ति मे तच्चं गृहाणानुग्रहं कुरु ॥

इस पर महाब्राह्मण ने अन्त्यज से सब धन देने को कहा। चाण्डाल ने भी कहा कि कोई चिन्ता नहीं, मैं जितना धन लाया हूं, उसे आप को दे दूंगा। आप मेरे लिये विश्वनाथ के समान हैं; क्योंकि जो मनुष्य दूसरे का उद्धार करते हैं, दूसरे की इच्छा पूर्ति करते हैं और परोपकारशील हैं, वे विश्वेश के अंश ही हैं :—

परोद्धरणशीला ये ये परेच्छाप्रपूरकाः ।
परोपकृतिशीला ये विश्वेशांशास्त एव हि ॥

इस प्रकार ब्राह्मण की प्रार्थना स्वीकर करके चाण्डाल "विश्वेशः प्रीयतां" कहकर विश्वेश की बुद्धि से ब्राह्मण को सब धन देकर घर लौट गया।

तथेति स चकाराशु पर्वतीयो महामनाः ।
विश्वेशः प्रीयतां चेति प्रोच्य यातो यथागतः ॥

असत् प्रतिग्रह के कारण ब्राह्मण को अधम योनि प्राप्त हुई। उसे लोगों में अपमानित भी होना पड़ा। पीछे काशी में मरने के कारण मुक्त हो गया। किन्तु तीर्थयात्रा और दान करनेवाले चांडाल का विरोध किसी ने नहीं किया, उसने प्रसन्नतापूर्वक तीर्थ यात्रा की। इन प्रकरणों से यह पता लगता है कि पूर्वकाल में अन्त्यजों के लिये तीर्थयात्रा की कुछ भी रोक-टोक नहीं थी।

आगे चलकर आवन्त्यखण्ड में यह वर्णन आया है कि महादेव जी पार्वती से कहते हैं कि आवन्त्य (उज्जैन) में मुक्तीश्वर के दर्शन से एक अन्त्यज जाति का व्याध मुक्ति को प्राप्त हुआ था। वह कथा इस प्रकार है :—

शिवजी बोले कि हे पार्वती! मुक्तीश्वर के दर्शनमात्र से मुक्ति हो जाती है।

'यस्य दर्शनमात्रेण मुक्तिर्भवति पार्वति ।'

पहले रथन्तर मन्वन्तर में मुक्ति नाम का ब्राह्मण था। उसने महाकाल वन के समीप योग में तत्पर होकर तेरह वर्ष तक तप किया। वहीं पर महाकाल के समीप सुन्दर मुक्तिलिंग भी था। एक समय वह ब्राह्मण शिप्रा नदी में स्नान करने गया, जब वह स्नान करके जप करने लगा तो उसने अपने सन्मुख एक भयंकर व्याध को देखा। उसके हाथ में धनुष था, लाल-लाल आँखे थीं। उसे देखते ही ब्राह्मण डर गया और नारायणदेव का ध्यान करता हुआ वहीं पर खड़ा रहा।

"ध्यायन्नारायणं देवं तस्थौ तत्रैव स द्विजः"

इस प्रकार मन में हरि का ध्यान करने वाले ब्राह्मण को सामने देखकर भयभीत होकर धनुषबाण फेंककर व्याध ने कहा कि मैं तुम्हें मारने की इच्छा से यहाँ आया था, किन्तु इस समय तुम्हारे प्रभावशाली दर्शन से ही बुद्धि बदल गई है। मैंने आज तक जीविका के लिये हजारों ब्रह्महत्यायें और स्त्री-हत्यायें की हैं, किन्तु मेरा चित्त कभी भी दुःखी नहीं हुआ—"न च मे व्यथितं चित्तं कदाचिदपि जायते", परन्तु अब मैं तुम्हारे समीप तप करना चाहता हूँ; अतः उपदेश देकर मुझ पर अनुग्रह करो।

इदानीं तप्तुमिच्छामि तपोऽहं त्वत्समीपतः ।
उपदेशप्रदानेन प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥

ब्राह्मण ने यह विचार कर—कि यह तो ब्रह्मघाती है और पाप करनेवाला है—व्याध की प्रार्थना पर चुप होकर कुछ भी ध्यान नहीं दिया।

"एवमुक्तो ह्यसौ विप्रो नोत्तरं प्रत्यपद्यत ।"
ब्रह्महा पापकर्मेति मत्वा ब्राह्मण पुंगवः ।

किन्तु कुछ न कहने पर भी व्याध वहीं ठहर गया और स्नान करके शीघ्र ही मुक्तिलिंग के समीप आ गया। हे देवि! ब्राह्मण के साथ ही ज्यों उसने अविनाशी मुक्तिलिंग देव का दर्शन किया, उसी समय दिव्य देह होकर उसी लिंग में लीन हो गया :—

अनुक्तोऽपि स धर्मस्तु व्याधस्तत्रैव तस्थिवान् ।
स्नात्वा सद्यः समायातो मुक्तिलिंगसमीपतः ॥
द्विजेन सहितो देवि दृष्ट्वा देवं सनातनम् ।
तत्क्षणाद्दिव्यदेहस्तु तस्मिँल्लिंगे लयं गतः ॥

हे देवि! यह आश्चर्य देखकर मुक्तिनामक ब्राह्मण मन ही मन विचारने लगा कि पापयुक्त और समाधि रहित यह व्याध एकदम मुक्त हो गया है, किन्तु घोर तप करने पर भी मैंने न तो परम मुक्ति पाई और न भगवान् की मूर्त्ति ही पाई :—

दृष्ट्वा तन्महदाश्चर्यं मुक्तिर्विप्रो निजांतरे ।
चिंतयामास सहसा मुक्तिः प्राप्ता वरानने ॥
व्याधेन पापयुक्तेन समाधिरहितेन च ।
मया पुनः समाचीर्णं तपः परमदुष्करम् ॥
न प्राप्ता परमा मूर्तिर्मुक्तिर्नैव च लभ्यते ।
(स्कन्द पु० अवन्त्याखं० अचललि० ला० अ० २६)

यह कथा इस समय हमारे लिये अत्यन्त उपदेशप्रद है। कारण कि वैसी ही स्थिति इस वक्त हमारे सामने है। मुक्ति नामक ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता और तपस्या के आगे उस अन्त्यज जाति के व्याध को हीन और पतित समझता था। किन्तु जब सामने ही स्नानादि से शुद्ध होकर व्याध ने साथ ही दर्शन किया तो उसे व्याध को भगवान् का दर्शन और मुक्ति मिल गई; परन्तु ब्राह्मण आश्चर्य से देखता ही रह गया। फिर जल के अन्दर जाकर घोर तप करने लगा :—

अन्तर्जलगतो भूत्वा चचार विपुलं तपः ।

आगे चलकर इसी प्रकरण के तीरपनवें अध्याय में भगवान् शंकर पार्वती से महाकाल वन (उज्जैनी) के विश्वेश्वर के दर्शन के माहात्म्य में कहते हैं कि विदर्भ देश का विदूरथ नाम का राजा अत्यन्त पापाचारी था। पापाधीन जन्म क्रम के अनुसार ग्यारहवें जन्म में भी वह अवन्त्यक्षेत्र के अन्दर चाण्डाल योनि में जन्मा। एक दिन चोरी के लिये ब्राह्मण के घर गया तो तुरंत चोरी में पकड़ा गया। उसे लट्ठधारी चौकीदारों ने बाँधकर पेड़ में लटका दिया। उसके पास ही उत्तर की ओर शूलेश्वर का एक शिवलिंग था, चाण्डाल ने उसको देख लिया। लिंगदर्शन के बाद ही वह मरकर स्वर्ग चला गया। वहाँ उत्तम ऐश्वर्य भोग कर पुनः भूतल पर विदर्भ देश में "विश्वेश" नाम का राजा हुआ। लिंगदर्शन के पुण्य से पूर्व जन्म का स्मर्ता भी था :—

एकादशेऽपि चंडालो गतोऽवन्त्यां वरानने।
द्रव्यस्य हरणार्थं वै प्रविष्टो द्विजवेश्मनि॥
"आनीतो हि वधार्थाय वृक्षाग्रे ह्यवलंबितः।"
तत्रैव लिंगमासन्नं साध्वि शूलेश्वरोत्तरे॥
तस्य दृष्टिपथं प्राप्तमति विकृतचेतसः।
क्षणेन निधनं प्राप्तः स गतस्त्रिदशालयम्॥
तत्र भुक्त्वा वरान्भोगानवतीर्य च भूतले।
जातःख्यातो विदर्भायां विश्वेशो नाम पार्थिवः।
जातिस्मरत्वमापन्नो लिंगदर्शनपुण्यतः॥

इसी प्रकार की एक कथा इसी खण्ड के छाछठवें अध्याय में आई है। संक्षेप में वह कथा शिव जी पार्वती से कहते हैं :—

द्वापर युग में एक चाण्डाल बालक को किसी के आक्षेप पूर्ण वचनों से यह पता लगा कि मैं चाण्डाल योनि का हूँ। उसको अत्यन्त दुःख हुआ और वह तप के लिये जंगल चला गया। उसने घोर तप किया। उसके तप से देवता चिन्तित होने लगे। इन्द्र ने आकर उसे कहा कि तुम मनुष्य के भोगों को छोड़ कर तप क्यों करते हो? हे मातंग (चाण्डाल)! मैं वरदान देना चाहता हूं, जो इच्छा हो मांगो :—

मातंग तप्यसे किं त्वं भोगानुत्सृज्य मानुषान्।
वरं ददामि तेऽहं तु वृणीष्व त्वं यदीच्छसि॥

इस पर मातंग ने कहा कि मैं ब्राह्मण्य चाहता हूँ, इस कारण मैं तप कर रहा हूँ। बस इसी वर को मुझे दो।' उत्तर में इन्द्र ने कहा कि यह वर कठिन है, तुम इसे प्राप्त नहीं कर सकते हो, तपस्या छोड़ दो नहीं तो अनिष्ट होगा।' किन्तु उस चाण्डाल ने एक अंगुठे से खड़े होकर सौ वर्ष तक घोर तप किया।

एवमुक्तस्तु मातंगः संशितात्मा यतव्रतः ।
अतिष्ठदेकपादेन वर्षाणां शत संख्यया ॥

इन्द्र ने आकर फिर वही बातें कहीं। परन्तु मातंग उसी तरह फिर घोर तप करने लगा। इस तरह अनेक बार इन्द्र आये। चाण्डाल भी कुछ परवाह न कर कठिन तप करता गया। इन्द्र भी पुनः-पुनः आकर उसको समझाते गये कि ब्राह्मण्य दुर्लभ है, तुम्हें वह नहीं मिल सकता है। अतः उसको छोड़ दो कोई दूसरा वर मांगो :—

तदुत्सृज्येह दुष्प्राप्यं ब्राह्मण्यमकृतात्मभिः ।
अन्यं वरं वृणीष्व त्वं दुर्लभोऽयं हि ते वरः ॥

मातंग ने बड़े फटकारके साथ कहा कि दुःखसे पीड़ित मेरे हृदयको क्यों वेधते हो ? मुझ मरे हुए को क्यों मारते हो ? मुझे उस पर शोक है कि जो ब्राह्मण्यको प्राप्तकर उसका पालन नहीं करता है।

किं मां तुदसि दुःखार्तं मृतं मारयसे च माम् ।
तं तु शोचामि यो लब्ध्वा ब्राह्मण्यं नानुपालयेत् ॥

हे इन्द्र ! यदि क्षत्रियादि तीन वर्णों के लिये ब्राह्मण्यभाव दुष्प्राप्य है तो बताओ कि विश्वामित्र ने उसे कैसे प्राप्त किया। देखो राजर्षि "वीतहव्य" ने भी तप के प्रभाव से ब्राह्मण्य प्राप्त किया था।

इस कारण मैं द्वन्द्व और परिग्रह रहित होकर तप करूँगा और अहिंसा, दम, सत्य, धर्म में स्थिर होकर ब्राह्मण क्यों न हो सकूँगा।

ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्राप्यं त्रिभिर्वर्णैः शतक्रतो ।
तपसा च कथं लब्धं विश्वामित्रेण भूभुजा ।
वीतहव्यश्च राजर्षिस्तपसा विप्रतां गतः ।
तस्मात्तपः करिष्यामि निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
"अहिंसादमसत्यस्थः कथं नार्हामि विप्रताम्" ।

फिर नम्रताके साथ मातंगने कहा—हे इन्द्र ! किसी प्रकार पुरुषार्थ से दैव बल को न हटा सका, इतना प्रयत्न करने पर भी विप्रता को प्राप्त न कर सका, मेरा पुण्य भी पुण्य हो और यदि मैं तुम्हारा कृपापात्र हूं तो हे देव ! मुझे वह उपाय बताओ, जिससे मैं विप्र हो जाऊँ और मेरी अक्षय कीर्ति हो जाय।

"तदुपायं हि मे शंस कथं विप्रो भवामि वै ।"
"यथा ममाक्षया कीर्त्तिर्भवेद्वापि पुरंदर ॥"

मातंग के इतना कहने पर इन्द्र ने प्रसन्न होकर शिवलिङ्ग का उत्तम माहात्म्य कहा और चांडाल को यह आदेश दिया कि महाकाल वन में ब्रह्माने दिव्य मूर्तिधारी सुन्दर लिंग की स्थापना की है, वह लिंग सिद्धेश्वर के पूर्व में है। उसके दर्शन करने से ही तुम विप्रत्व को प्राप्त कर लोगे; अर्थात ब्राह्मण की तरह सदाचारी, सत्यवक्ता, जितेन्द्रिय और मान्य हो जाओगे।

महाकालवने लिंगं स्थापितं ब्रह्मणा पुरा।
दिव्यमूर्तिधरं दिव्यं सिद्धेश्वरस्य पूर्वतः॥
तस्य दर्शनमात्रेण विप्रत्वं समवाप्स्यसि।

इन्द्र का उपदेश पाकर मातंग रमणीक महाकाल वन में गया। वहाँ पर दूसरे सिद्धक्षेत्र के अन्दर अशेष फल देने वाले उस लिंग का दर्शन किया और अनेक प्रकार के पुष्पों से शिवार्चन किया :—

वासवस्य च वाक्येन मतंगो गतवांस्तदा।
महाकालवनं रम्यं सिद्धक्षेत्रमथापरम्॥
ददर्श तत्र तल्लिंगमशेषफलदायकम्।
दृष्ट्वा सम्पूजयामास पुष्पैर्नानाविधैस्तथा॥

इस प्रकार मातंग से पूजित भगवान् शंकर बोले—ओह ! तुम बड़े भाग्यशाली हो कि तुमने मुझे प्रसन्न कर लिया। भूर्भुवादि सारा ब्रह्माण्ड मुझसे उत्पन्न हुआ है। मैं वरदान के योग्य भक्तजनों को वर देने वाला हूँ और दुष्टात्माओं को शाप देने वाला भी हूँ। मेरे प्रसाद और लिंगदर्शन के कारण तुम्हें अक्षय विप्रत्व की प्राप्ति होगी। वह चाण्डाल ब्राह्मण्य को पा गया, फिर वह द्विज पूजा के प्रभाव से ब्रह्मलोक में चला गया। हे देवि ! इस लिंग के प्रभाव से मातंग ने (चाण्डाल) दुर्लभ विप्रत्व प्राप्त किया। इसी कारण ब्रह्मलोक को देने वाले उस लिंग को संसार में "मातंगेश्वर" कहते हैं।

"पूजितः प्रत्युवाचेदं मतंगं देवसत्तमः।"
अहो महात्मन्भाग्योऽसि यस्त्वया तोषितोऽस्म्यहम्॥
मत्तः सर्वं समुद्भूतं ब्रह्माण्डं भूर्भुवादिकम्।
वरदोऽस्मि वरार्हाणां शापदोऽस्मि दुरात्मनाम्।
ब्राह्मण्यं मत्प्रसादाश्च अक्षयं ते भविष्यति॥
ततोऽसौ विप्रतां यातो मतंगो लिंगदर्शनात।
पुनः पूजाप्रभावेण ब्रह्मलोकं गतो द्विजः।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं लब्धं लिंगस्यास्य प्रभावत

मतंगेन वरारोहे तस्माद्देवो विगीयते ।
मतंगेश्वरको लोके ब्रह्मलोकप्रदायकः ॥

इतना ही नहीं शिव जी कलिकाल के लिये विशेष आदेश करते हैं कि कलियुग में जो लोग वर्णाश्रम से द्वेष रखते हों, पाखण्ड वचनों पर विशेष ध्यान देते हों, मर्यादा रहित हों, आचार रहित हों, शंकित, लोलुप, निर्दय, निष्ठुर और धृष्ट (उद्धत) हों वे लोग भी उस शिवलिंग के दर्शन से स्वर्ग को जाते हैं।

वर्णाश्रमेषु विद्विष्टाः पाखंडवचने रताः ।
निर्मर्यादा निराचारा निःशंकाश्चातिलोलुपाः ॥
निर्घृणाः क्रूरकर्माणो धृष्टाः कलियुगे नराः ।
दर्शनात्तस्य लिंगस्य तेऽपि यांति त्रिविष्टपम् ॥

इसी के आगे अठहत्तरवें अध्याय में यह वर्णन आया है कि राजा चित्रसेन की लड़की चित्रसेन से अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त में कहती है कि पूर्व जन्म में मैंने अपने पति को वश करने के लिये ओषधि का प्रयोग किया था। उस दुष्टकर्म के फल के कारण क्रमानुसार चाण्डाल योनि में गई। उस में अनेक फोड़ों से पीड़ित रही, मुझ दीन दुःखिया को चारों ओर से कुत्ते घेरे रहते थे और बार-बार नोच खाते थे। इस प्रकार मार्ग में कुत्तों से नोची जाती हुई, मुझ दुष्ट को भेड़ियों ने छेक लिया। उनके द्वारा व्यथित की जाती हुई भी मैं किसी प्रकार महाकाल वन में चली गई। वहाँ पर भगवान् के दर्शन का अन्वेषण करती हुई पिप्पलादेश्वर के नजदीक महादेवजी का दर्शन पा गई। बस मैं भगवान् के दर्शन मात्र से दिव्य विमान से इन्द्रपुरी को चली गई। मैं दिव्यमाला, दिव्यभूषण और दिव्याम्बर धारी हो गई। वहाँ पर देवताओं ने मेरी पूजा की और वन्दीजनों ने स्तुति की। उसके उपरान्त उस लिंग के दर्शन के प्रभाव से ही अब तुम्हारे घर में पैदा हुई हूँ :—

किंचित्पातकशुद्ध्यर्थं चंडालस्य च वेश्मनि ।
जाताहमतिरूपेण पीडिता विविधैर्व्रणैः ॥
सारमेयैर्वृता दीना भक्ष्यमाणा पुनः पुनः ।
दुष्टाऽहं भक्ष्यमाणापि मार्गे रुद्धा वृकैरहम् ॥
तैरहं तुद्यमानापि महाकालवनं गता ।
दृष्टो मया महादेवो दैवतो मृगमाणया ॥
समीपे देवदेवस्य पिप्पलादेश्वरस्य च ।
तस्य दर्शनमात्रेण गता शक्रपुरं प्रति ॥

विमानेन सुदीप्तेन किंकिणीजालमालिना ।
दिव्यांबरधरा दिव्या दिव्यमाला विभूषणा ॥
तत्राहं पूजिता देवैः स्तुताहं चारणैस्तथा ।
दर्शनात्तस्य लिंगस्य जाताहं तव वेश्मनि ॥

आवन्त्यखण्ड के रेवाखण्ड में एक सौ एकतालीसवें अध्याय में तापेश्वर तीर्थ के माहात्म्य के प्रसंग में मार्कण्डेय युधिष्ठिर से कहते हैं :—

हे युधिष्ठिर ! इसके बाद सर्वोत्तम तापेश्वर तीर्थ में जाना चाहिए। जहाँ पर व्याध से भयभीत हरिणी सिद्ध होकर अपने अंगों को त्यागकर अन्तरिक्ष लोक में चली गई।

यह सब देखकर हरिणी का पीछा करने वाला व्याध भी आश्चर्य में पड़ गया। व्याध ने धनुष-बाण छोड़कर हजारों वर्ष तक तपस्या की। इसके बाद महेश्वर प्रसन्न होकर व्याध से बोले कि हे महाव्याध ! अपनी इच्छा के अनुसार वर माँगो।

ततो गच्छेन्महीपाल तापेश्वरमनुत्तमम् ।
यत्र सा हरिणी सिद्धा व्याधभीता नरेश्वर ॥
जले प्रक्षिप्य गात्राणि ह्यन्तरिक्षं गता तु सा ।
व्याधो विस्मितचित्तस्तु तां मृगीमवलोक्य च ।
विमुच्य सशरं चापं आरेमे तप उत्तमम् ।
दिव्यं वर्षसहस्रं तु व्याधेनाऽऽचरितं तपः ॥
अतीते तु ततः काले परितुष्टो महेश्वरः ।
वरं ब्रूहि महाव्याध यत्ते मनसि रोचते ॥

व्याध ने कहा कि हे देवेश ! यदि आप सन्तुष्ट हैं और वर देना चाहते हैं तो मुझे अपने समीप वास दीजिये।—

यदि तुष्टोऽसि देवेश यदि देयो वरो मम ।
तव पार्श्वे महादेव वासो मे प्रतिदीयताम् ॥

हे व्याध ! ऐसा ही होगा। यह कहकर महादेव अन्तर्धान हो गये।

एवं भवतु ते व्याध यस्त्वया कांक्षितो वरः ।
देवदेवो महादेव इत्युक्त्वांतरधीयत ॥

भगवान् के अन्तर्धान हो जाने के बाद व्याध ने महेश्वर की स्थापना की और वह विधिपूर्वक पूजा करके स्वर्ग को चला गया।

तब से वह तीर्थ तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो गया और व्याध के कारण वह तीर्थ तापेश्वर नाम से प्रसिद्ध हो गया। उस तीर्थ में स्नान करके जो मनुष्य शंकर का पूजन करता है वह शिवलोक में जाता है।

गते चादर्शनं देवे स्थापयित्वा महेश्वरम् ।
पूजयित्वा विधानेन गतो व्याधस्ततो दिवम् ॥
तदा प्रभृति तत्तीर्थं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
व्याधानुतापसंजातं तापेश्वरमिति श्रुतम् ॥
तत्र तीर्थे तु यः स्नात्वा संपूजयति शंकरम् ।
शिवलोकमवाप्नोति मामुवाच महेश्वरः ॥

नागरखण्ड में यह कथा आई है कि जब वशिष्ठ के पुत्रों ने त्रिशंकु को शाप देकर चाण्डाल बना दिया था उसने चाण्डालत्व को छुड़ाने और यज्ञपूर्ति के लिये विश्वामित्र से प्रार्थना की। विश्वामित्र ने कहा कि मैं तीर्थयात्रा के प्रभाव से तुम्हारा चांडालत्व छुड़ा दूंगा। इस कारण तुम मेरे साथ तीर्थ-यात्रा करो। तीर्थयात्रा के प्रभाव से तुम शुद्ध होकर यज्ञक्रिया के भी पात्र हो जाओगे। क्याकि संसार में ऐसा कोई भी पाप नहीं है जो तीर्थयात्रा के प्रभाव से नष्ट न हो सके।

तस्मादागच्छ भूपाल तीर्थयात्रां मया सह ।
कुरु तीर्थप्रभावेण येन त्वं स्याः शुचिः पुनः ॥
तथा यज्ञक्रियार्हश्च चंडालत्वविवर्जितः ।
नास्ति तत्पातकं यच्च तीर्थस्नानान्न नश्यति ॥

इस प्रकार निश्चय करके विश्वामित्र त्रिशंकु को अनेक तीर्थों में ले गए। अन्त में अर्बुद पर्वत के अचलेश्वर मन्दिर से बाहर निकलते समय उन्हें मार्कंडेय मुनि मिले तो विश्वामित्र ने त्रिशंकु का सब समाचार सुनाया। इस पर मार्कंडेय ने विश्वामित्र से कहा कि इस पर्वत के नैर्ऋत्य दिशा की ओर आनर्त देश में पाताल के अन्दर हाटकेश्वर का मन्दिर है, वहाँ पर एक गंगा नदी भी है; उसमें स्नान करके हाटकेश्वर का दर्शन करने से त्रिशंकु शुद्ध होकर चांडालत्व से छुट-कारा पा जायगा :—

पश्चात्पश्यतु तल्लिंगं हाटकेश्वरसंज्ञितम् ।
भविष्यति ततः शुद्धश्चांडालत्वविवर्जितः ॥

विश्वामित्र जी मार्कण्डेय मुनि के उपदेशानुसार त्रिशंकु को देवमार्ग से पाताल ले गए। वहाँ विधिपूर्वक स्नान और दर्शन करने से ही त्रिशंकु चांडालत्व से छूटकर सूर्य के समान तेजस्वी हो गया।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो मुनीश्वरः ।
त्रिशंकुना समायुक्तो गतस्तत्र द्रुतं ततः ॥
त्रिशंकुं स्नापयामास विधिदृष्टेन कर्मणा ।
स्नातमात्रोऽथ राजा स हाटकेश्वरदर्शनात् ॥
चंडालत्वेन निर्मुक्तो वभूवार्कसमद्युतिः ।

इसके बाद प्रणाम करते हुए त्रिशंकु से विश्वामित्र बोले कि हे राजेन्द्र! प्रसन्नता की बात है कि अब तुम चाण्डालत्व से मुक्त हो गये हो।

ततस्तं स मुनिः प्राह प्रणतं गतकल्मषम् ॥
दिष्टया मुक्तोऽसि राजेन्द्र चण्डालत्वेन सांप्रतम् ॥

अध्याय ४।

प्रभासखण्ड के तीसवें अध्याय में आया है। शिव जी पार्वती से कहते हैं कि हे पार्वती! द्विज लोग समुद्रस्नान करने के उपरान्त प्रभासक्षेत्र के "कपर्दि" महादेव की पूजा "गणानान्त्वा" इस मंत्रसे करें और शूद्र लोग अष्टाक्षर मंत्र से पूजा करें।

ततःपितॄंस्तर्पयित्वा गच्छेद्देवं कपर्दिनम् ।
पुष्पैर्धूपैस्तथा गन्धैर्वस्त्रैः संपूज्य भक्तितः ।
गणानान्त्वेति मन्त्रेण अर्घ्यं चास्मै निवेदयेत् ॥
शूद्राणामथ देवेशि मंत्रश्चाष्टाक्षरः स्मृतः ।
तत्र सोमेश्वरं गच्छेद्देवं पापहरं परम् ॥

आगे चलकर फिर शिव जी कहते हैं कि कार्य के अनुसार भगवान् शङ्कर के अलग-अलग अवतार होते हैं। प्रभासक्षेत्र के 'सोमेश्वर' (जो कि कलियुग में कपर्दी रूप से प्रभासक्षेत्र में अवतीर्ण होते हैं) का दर्शन स्त्री, म्लेच्छ, शूद्र और जो कोई भी अन्त्यजादि करते हैं, वे स्वर्ग जाते हैं। हे देवि! यज्ञ, दान, स्वाध्याय और व्रत को न करने पर भी सब मनुष्य शिवालय,में जाते हैं। सोमनाथ का यह प्रभाव देखकर ही अग्निहोत्रादि क्रिया लुप्त होगई है। बाल, वृद्ध, स्त्री और शूद्रादि सभी उसका दर्शन करके परम गति को प्राप्त करते हैं।

अष्टाविंशतिमे तत्र देवि प्राप्ते चतुर्युगे ।
कारणात्मा यथोत्पन्नः कपर्दी तत्र मे शृणु ॥
पुरा द्वापरसंधौ तु संप्राप्ते च कलौ युगे ।
स्त्रियो म्लेच्छाश्च शूद्राश्च ये चान्ये पापकारिणः ॥

प्रयान्ति स्वर्गमेवैते दृष्ट्वा सोमेश्वरं प्रभुम् ।
न यज्ञा न तपो दानं न स्वाध्यायो व्रतं न च ।
कुर्वन्तोऽपि नरा देवि सर्वे यांति शिवालयम् ॥
तं प्रभावं विदित्त्वैवं सोमेश्वरं समुद्भवम् ।
अग्निष्टोमादिकाः सर्वाः क्रिया नष्टाः सुरेश्वरि ।
ततो बालाश्च वृद्धाश्च ऋषयो वेदपारगाः ।
शूद्राः स्त्रियोऽपि तं दृष्ट्वा प्रयान्ति परमां गतिम् ॥

एक कथा के अन्दर मार्कण्डेय मुनि राजा इन्द्रद्युम्न से कहते हैं कि चन्द्रशर्मा नाम के ब्राह्मण के पितामह कर्मवशात् प्रेतयोनि में चले गये। उनकी मुक्ति के लिये चन्द्रशर्मा तीर्थयात्रा करने लगा। अन्त में वह 'सोमनाथ' तीर्थ में पहुँचा। सोमनाथ की तीर्थयात्रा करने पर उसके पितामह लोग प्रेत योनि से छूट गये। इसपर पितामहों ने उससे कहा कि संसार में पुत्रपौत्र धन्य हैं जो सोमनाथ को देखकर द्वारिका की यात्रा करके कृष्ण का दर्शन करते हैं।

इस प्रकार चाण्डाल भी जो सोमनाथ में शङ्कर और द्वारिका में कृष्ण की यात्रा करता है वह पितरों के साथ परम मुक्ति पाता है।

धन्यास्ते मानुषे लोके पुत्रपौत्रप्रपौत्रकाः ।
दृष्ट्वा श्रीसोमनाथं तु कृष्णं पश्यन्ति द्वारिकाम् ।
श्वपचोऽपि करोत्येवं यात्रां च हरिशंकरीम् ।
स याति परमां मुक्तिं पितृभिः परिवारितः ॥

स्कन्द पु० प्रभास खं० (द्वा० मा०) अ० २४।

आगे इसी खण्ड में इसी प्रकरण के अड़तीसवें अध्याय में प्रह्लाद अपने पौत्र (वलि) से कहता है कि तीर्थयात्रा के प्रसंग से द्वारिका जाने वाले श्वपचादि अन्त्यज भी धन्य होते हैं। इस प्रकार पितरों के उद्देश्य से जो लोग भगवत्सम्बन्धी तीर्थों को प्राप्त करते हैं, दान और भक्ति के साथ भगवान् की पूजा करते हैं, विष्णु के ऐसे भक्तों के सत्कार से हमें जो तृप्ति होती है वैसी गया के पिंड दान से नहीं होती है। अतः वे संकीर्ण जातियां भी पवित्र हैं जो मधुसूदन के भक्त हैं पर जनार्दन की भक्ति न करनेवाले वे कुलीन भी म्लेच्छ के समान हैं।

श्वपचादयोऽपि ते धन्या ये गता द्वारकां पुरीम् ।
प्राप्य भागवतान्ये वै पितृनुद्दिश्य पुत्रकाः ॥
भक्त्या सम्पूजयिष्यंति वस्त्रैर्दानैश्च भूरिभिः ।

गयापिंडेन नास्माकं तृप्तिर्भवति तादृशी
यादृशी विष्णुभक्तानां सत्कारेणोपजायते ॥
संकीर्णयोनयः पूता ये भक्ता मधुसूदने ।
म्लेच्छतुल्याः कुलीनास्ते ये न भक्ता जनार्दने ॥

(स्का० प्रभास खं० (द्वा० मा०) अ० ४३)

इस प्रकार स्कन्दपुराण की समाप्ति पर यह वर्णन आया है कि शिव जी पार्वती जी से कहते हैं कि हे सुरसुन्दरि ! इधर-उधर बहुत-से शिवलिंगों के दर्शन से क्या प्रयोजन है, "वरुणेश" को देखने से ही सब तीर्थों का फल मिल जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, मूक, बधिर, बाल और स्त्री चाहे जो कोई भी हों वरुणेश का दर्शन करने से वे सब स्वर्गधाम चले जाते हैं।

को ह्यर्थो बहुभिर्लिंगैर्दृष्टैर्वा सुरसुन्दरि ।
वरुणेशेन दृष्टेन सर्वतीर्थफलं लभेत् ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रश्चान्ये वरानने ।
मूकांधबधिरा बालाः स्त्रियश्चैव नपुंसकाः ।
दृष्ट्वा गच्छन्ति ते देवि स्वर्गं धर्मपरायणाः ॥

इसी प्रकार पद्मपुराण में भी स्पष्ट रीति से अन्त्यजों का देवदर्शन और पूजन की अनेक कथाएँ देखी जाती हैं। पुराणों में जहाँ कहीं भी भूमिस्थ देवताओं का वर्णन आया है वहाँ पर प्रायः इस तरह का वर्णन आया है कि "सौराष्ट्र में सोमनाथ, उज्जैन में महाकाल, अमलेश्वर मे ॐकार, हिमालय में केदार, काशी में विश्वेश और सेतुबन्धादि में रामेशादि नाम से शिवलिंग की प्रतिष्ठा रहती है"। इन लिंगों के जो माहात्म्य पुराणों में दिये गये हैं उन सबों में अधिकांश में इस प्रकार की ही कथाएँ हैं कि अमुक लिंग की पूजा अमुक निषाद, चाण्डाल, या शबर ने की तो उसको परम गति प्राप्त हुई। अमुक लिंग के दर्शन करने से अमुक शबर को भगवान् का दर्शन हुआ। इन माहात्म्यों को लेकर ही वर्तमान काल में काशी, सेतुबन्ध प्रभृति स्थानों में मन्दिरों के अन्दर शिवपूजा चली आ रही है। अयोध्या, मथुरा प्रभृति तीर्थ-स्थानों में विष्णु का निवास तथा उनका माहात्म्य भी पुराणों में उसी प्रकार वर्णित है। उनमें भी अन्त्यजों के दर्शन और पूजन का महत्त्व दिखाया गया है। ऐसा कहीं भी नहीं आया है कि अन्त्यजों के देवदर्शन करने से मूर्त्ति अपवित्र होती है। इस विषय पर पद्मपुराण में अनेक कथाएँ आई हैं। उनमें कुछ इस प्रकार हैं—एक समय रत्नग्रीव नाम का राजा कांचीपुर में राज्य करता था। वह अत्यन्त धर्मात्मा और दयालु था। एक दिन उसने सोचा कि मैं आनन्द के साथ बहुत दिनों तक राज्य कर चुका हूँ अब मुझे हरिपूजन

प्रयान्ति स्वर्गमेवैते दृष्ट्वा सोमेश्वरं प्रभुम् ।
न यज्ञा न तपो दानं न स्वाध्यायो व्रतं न च ।
कुर्वन्तोऽपि नरा देवि सर्वे यांति शिवालयम् ॥
तं प्रभावं विदित्त्वैवं सोमेश्वरं समुद्भवम् ।
अग्निष्टोमादिकाः सर्वाः क्रिया नष्टाः सुरेश्वरि ।
ततो बालाश्च वृद्धाश्च ऋषयो वेदपारगाः ।
शूद्राः स्त्रियोऽपि तं दृष्ट्वा प्रयान्ति परमां गतिम् ॥

एक कथा के अन्दर मार्कण्डेय मुनि राजा इन्द्रद्युम्न से कहते हैं कि चन्द्रशर्मा नाम के ब्राह्मण के पितामह कर्मवशात् प्रेतयोनि में चले गये। उनकी मुक्ति के लिये चन्द्रशर्मा तीर्थयात्रा करने लगा। अन्त में वह 'सोमनाथ' तीर्थ में पहुँचा। सोमनाथ की तीर्थयात्रा करने पर उसके पितामह लोग प्रेत योनि से छूट गये। इसपर पितामहों ने उससे कहा कि संसार में पुत्रपौत्र धन्य हैं जो सोमनाथ को देखकर द्वारिका की यात्रा करके कृष्ण का दर्शन करते हैं।

इस प्रकार चाण्डाल भी जो सोमनाथ में शङ्कर और द्वारिका में कृष्ण की यात्रा करता है वह पितरों के साथ परम मुक्ति पाता है।

धन्यास्ते मानुषे लोके पुत्रपौत्रप्रपौत्रकाः ।
दृष्ट्वा श्रीसोमनाथं तु कृष्णं पश्यन्ति द्वारिकाम् ।
श्वपचोऽपि करोत्येवं यात्रां च हरिशांकरीम् ।
स याति परमां मुक्तिं पितृभिः परिवारितः ॥

स्कन्द पु० प्रभास ख० (द्वा० मा०) अ० २५।

आगे इसी खण्ड में इसी प्रकरण के अड़तीसवें अध्याय में प्रह्लाद अपने पौत्र (बलि) से कहता है कि तीर्थयात्रा के प्रसंग से द्वारिका जाने वाले श्वपचादि अन्त्यज भी धन्य होते हैं। इस प्रकार पितरों के उद्देश्य से जो लोग भगवत्सम्बन्धी तीर्थों को प्राप्त करते हैं, दान और भक्ति के साथ भगवान् की पूजा करते हैं, विष्णु के ऐसे भक्तों के सत्कार से हमें जो तृप्ति होती है वैसी गया के पिंड दान से नहीं होती है। अतः वे सर्वाः जातियां भी पवित्र हैं जो मधुसूदन के भक्त हैं पर जनार्दन की भक्ति न करनेवाले वे कुलीन भी म्लेच्छ के समान हैं।

श्वपचादयोऽपि ते धन्या ये गता द्वारकां पुरीम् ।
प्राप्य भागवतान्ये वै पितृनुद्दिश्य पुत्रकाः ॥
भक्त्या सम्पूजयिष्यंति वस्त्रैर्दानैश्च भूरिभिः ।

गयापिंडेन नास्माकं तृप्तिर्भवति तादृशी
यादृशी विष्णुभक्तानां सत्कारेणोपजायते ॥
संकीर्णयोनयः पूता ये भक्ता मधुसूदने ।
म्लेच्छतुल्याः कुलीनास्ते ये न भक्ता जनार्दने ॥

(स्का० प्रभास खं० (द्वा० मा०) अ० ४३)

इस प्रकार स्कन्दपुराण की समाप्ति पर यह वर्णन आया है कि शिव जी पार्वती जी से कहते हैं कि हे सुरसुन्दरि! इधर-उधर बहुत-से शिवलिंगों के दर्शन से क्या प्रयोजन है, "वरुणेश" को देखने से ही सब तीर्थों का फल मिल जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, मूक, बधिर, बाल और स्त्री चाहे जो कोई भी हों वरुणेश का दर्शन करने से वे सब स्वर्गधाम चले जाते हैं।

को ह्यर्थो बहुभिर्लिंगैर्दृष्टैर्वा सुरसुन्दरि ।
वरुणेशेन दृष्टेन सर्वतीर्थफलं लभेत् ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रश्चान्ये वरानने ।
मूकांधबधिरा बालाः स्त्रियश्चैव नपुंसकाः ।
दृष्ट्वा गच्छन्ति ते देवि स्वर्गं धर्मपरायणाः ॥

इसी प्रकार पद्मपुराण में भी स्पष्ट रीति से अन्त्यजों का देवदर्शन और पूजन की अनेक कथाएँ देखी जाती है। पुराणों में जहाँ कहीं भी भूमिस्थ देवताओं का वर्णन आया है वहाँ पर प्रायः इस तरह का वर्णन आया है कि "सौराष्ट्र में सोमनाथ, उज्जैन में महाकाल, अमलेश्वर में ॐकार, हिमालय में केदार, काशी में विश्वेश और सेतुबन्धादि में रामेशादि नाम से शिवलिंग की प्रतिष्ठा रहती है"। इन लिंगों के जो माहात्म्य पुराणों में दिये गये हैं उन सबों में अधिकांश में इस प्रकार की ही कथाएँ हैं कि अमुक लिंग की पूजा अमुक निषाद, चाण्डाल, या शबर ने की तो उसको परम गति प्राप्त हुई। अमुक लिंग के दर्शन करने से अमुक शबर को भगवान् का दर्शन हुआ। इन माहात्म्यों को लेकर ही वर्तमान काल में काशी, सेतुबन्ध प्रभृति स्थानों में मन्दिरों के अन्दर शिवपूजा चली आ रही है। अयोध्या, मथुरा प्रभृति तीर्थ-स्थानों में विष्णु का निवास तथा उनका माहात्म्य भी पुराणों में इसी प्रकार वर्णित है। उनमें भी अन्त्यजों के दर्शन और पूजन का महत्त्व दिखाया गया है। ऐसा कहीं भी नहीं आया है कि अन्त्यजों के देवदर्शन करने से मूर्त्ति अपवित्र होती है। इस विषय पर पद्मपुराण में अनेक कथाएँ आई हैं। उनमें कुछ इस प्रकार हैं—एक समय रत्नग्रीव नाम का राजा कांचीपुर में राज्य करता था। वह अत्यन्त धर्मात्मा और दयालु था। एक दिन उसने सोचा कि मैं आनन्द के साथ बहुत दिनों तक राज्य कर चुका हूँ अब मुझे हरिपूजन

प्रयान्ति स्वर्गमेवैते दृष्ट्वा सोमेश्वरं प्रभुम् ।
न यज्ञा न तपो दानं न स्वाध्यायो व्रतं न च ।
कुर्वन्तोऽपि नरा देवि सर्वे यांति शिवालयम् ॥
तं प्रभावं विदित्वैवं सोमेश्वरं समुद्भवम् ।
अग्निष्टोमादिकाः सर्वाः क्रिया नष्टाः सुरेश्वरि ।
ततो बालाश्च वृद्धाश्च ऋषयो वेदपारगाः ।
शूद्राः स्त्रियोऽपि तं दृष्ट्वा प्रयान्ति परमां गतिम् ॥

एक कथा के अन्दर मार्कण्डेय मुनि राजा इन्द्रद्युम्न से कहते हैं कि चन्द्रशर्मा नाम के ब्राह्मण के पितामह कर्मवशात् प्रेतयोनि में चले गये। उनकी मुक्ति के लिये चन्द्रशर्मा तीर्थयात्रा करने लगा। अन्त में वह 'सोमनाथ' तीर्थ में पहुँचा। सोमनाथ की तीर्थयात्रा करने पर उसके पितामह लोग प्रेत योनि से छूट गये। इसपर पितामहों ने उससे कहा कि संसार में पुत्रपौत्र धन्य हैं जो सोमनाथ को देखकर द्वारिका की यात्रा करके कृष्ण का दर्शन करते हैं।

इस प्रकार चाण्डाल भी जो सोमनाथ में शङ्कर और द्वारिका में कृष्ण की यात्रा करता है वह पितरों के साथ परम मुक्ति पाता है।

धन्यास्ते मानुषे लोके पुत्रपौत्रप्रपौत्रकाः ।
दृष्ट्वा श्रीसोमनाथं तु कृष्णां पश्यन्ति द्वारिकाम् ।
श्वपचोऽपि करोत्येवं यात्रां च हरिशांकरीम् ।
स याति परमां मुक्तिं पितृभिः परिवारितः ॥

स्कन्द पु० प्रभास खं० (द्वा० मा०) अ० २४।

आगे इसी खण्ड में इसी प्रकरण के अड़तीसवें अध्याय में प्रह्लाद अपने पौत्र (बलि) से कहता है कि तीर्थयात्रा के प्रसंग से द्वारिका जाने वाले श्वपचादि अन्त्यज भी धन्य होते हैं। इस प्रकार पितरों के उद्देश्य से जो लोग भगवत्सम्बन्धी तीर्थों को प्राप्त करते हैं, दान और भक्ति के साथ भगवान् की पूजा करते हैं, विष्णु के ऐसे भक्तों के सत्कार से हमें जो तृप्ति होती है वैसी गया के पिंड दान से नहीं होती है। अतः वे संकीर्ण जातियां भी पवित्र हैं जो मधुसूदन के भक्त हैं पर जनार्दन की भक्ति न करनेवाले वे कुलीन भी म्लेच्छ के समान हैं।

श्वपचादयोऽपि ते धन्या ये गता द्वारकां पुरीम् ।
प्राप्य भागवतान्ये वै पितॄनुद्दिश्य पुत्रकाः ॥
भक्त्या सम्पूजयिष्यंति वस्त्रैर्दानैश्च भूरिभिः ।

"शिखराग्रे गतः पूर्वं तत्र दृष्टः सुरेश्वरः"

इसके बाद हम लोगों ने भी उस दुर्लभ देव का दर्शन किया और स्वादिष्ट अन्नादि का भक्षण किया। तुम भी जाकर दर्शन कर लो।

अस्माभिरप्यसौ दृष्टो देवः परमदुर्लभः।
अन्नादिकं तत्र भुक्तं सर्वं स्वादसमन्वितम् ॥
गत्वा त्वमपि देवस्य दर्शनं कुरु सत्तम।

हे राजन्! यह सब सुनकर मैंने भी देवदर्शन किया और उत्तम फल पाया। अतः शीघ्र जाकर दर्शन कर आओ। राजा ने ब्राह्मण से यह सन्देश सुनकर कहा कि मेरे नगर में रहनेवाले और मेरी आज्ञा मानने वाले सभी लोग मेरे साथ चलें। मन्त्रियोंने यह घोषणा की कि सब लोग चलकर पापनाशक पुरुषोत्तम भगवान् का दर्शन करें।

"दृश्यतां पापसंहारी पुरुषोत्तमनामधृत्"।

यह घोषणा सुनते ही ब्राह्मण से लेकर रजक, चर्मकार, किरात, मिस्त्री, दर्जी तमोली प्रभृति अनुलोम और प्रतिलोम शूद्र पर्यन्त सभी लोग देवदर्शन और तीर्थ-यात्रा के लिये पुर से बाहर चले गये।

निर्ययुर्ब्राह्मणास्तत्र शिष्यैः सह सुवेषिणः।
शूद्राः संसारनिस्तारहर्षितस्वीयविग्रहाः ॥
रजकाश्चर्मकाः क्षौद्राः किराता भित्तिकारकाः।
सूचीवृत्त्या च जीवन्तस्ताम्बूलक्रयकारकाः ॥

पद्मपुराण पाताल खं० अ० १९।

इस प्रकार राजा रत्नग्रीव अनेक तीर्थ और दानादि क्रिया करता हुआ ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज पर्यन्त सब लोगों को लेकर नीलपर्वत पर पहुँचा। वहां पर उसने अनेक सेवकों के साथ भगवान् का दर्शन, स्तुति और पूजा की।

इसी पुराण के उत्तरखण्ड में शिवरात्रि के माहात्म्य में आया है कि एक चण्डनाम का पुल्कस (अन्त्यज) अत्यन्त क्रूर और पापी था। शिवरात्रि के दिन रात्रिजागरण और किसी प्रकार उसने शिवपूजा कर ली। उसके प्रभाव से उसे परमगति प्राप्त हुई।

लिंगार्चनं कृतं यच्च त्वया रात्रौ शिवस्य च।
तेन कर्मविपाकेन प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ॥

और तीर्थयात्रा करनी चाहिए। रात्रि में इस प्रकार ध्यान करके वह सो गया। स्वप्न में उसे एक तपस्वी ब्राह्मण दिखाई दिया। प्रातः काल उठकर राजा मंत्रियों के सहित सभा में बैठा। इतने में उसने एक तपस्वी ब्राह्मण को देखा और कहा कि आपके दर्शनों से मेरा पाप छूट गया है। मुझे ऐसा तीर्थ बताइए कि मैं गर्भवास के बन्धन से छूट जाऊँ। ब्राह्मण ने कहा कि सब देवों में रामचन्द्र सेव्य हैं। हे राजन्! मैं कांची, काशी, अयोध्यादि अनेक तीर्थों मे गया हूँ। परन्तु जो अद्भुत बात मैंने पुरुषोत्तम के समीप नील पर्वत पर देखी है वैसी कहीं भी नहीं देखी। जिस पर श्रद्धा करने से पुरुष लोग सनातन ब्रह्म पा जाते हैं।

"यच्छ्रद्दधानाः पुरुषा यान्ति ब्रह्म सनातनम्"

हे राजन्! जब मैं घूमता हुआ नील पर्वत पर पहुँचा तो मैंने भीलों (अन्त्यज विशेषों) को देखा जो चतुर्भुज (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से युक्त) दिखाई देते थे। मैं आश्चर्य मे पड़ गया। मैं सोचने लगा कि शंख, चक्र, गदादि धारण किए हुए और वनमाला से विभूषित ये लोग विष्णुभक्त से लगते हैं।

"वनमालापरीताङ्गा विष्णुभक्ता इवान्तिके।"

मैंने सन्देह दूर करने के लिये उनसे पूछा कि आप लोगों का यह उत्तम स्वरूप कैसे हो गया? उन्होंने बहुत हँसी करके कहा कि यह बेचारा ब्राह्मण पिण्ड के महत्त्व को नहीं जानता है। मैंने उनसे पिंड का महत्त्व पूछा तो उत्तर में किरातों ने कहा कि हे ब्राह्मण! हमारा एक बालक एक दिन जामुन का फल खाता, खेलता और कूदता हुआ बालकों के सहित मनोहर गिरि-शिखर पर चला गया। वहाँ उसने सोने की भीति तथा नाना रत्नों से जटित एक अद्भुत मन्दिर देखा :—

तदा तत्र ददर्शाथ देवायतनमद्भुतम्।
गरुत्मतादिमणिभिः रचितं स्वर्णभित्तिकम्॥

यह देखकर बालक को बड़ी उत्सुकता हुई कि यह क्या है और इसके अन्दर क्या चीज है? यह सोचकर बालक बड़े भाग्य से घर (मन्दिर) के अन्दर चला गया।

"इति संचिन्त्य गेहान्तर्जगाम बहुभाग्यतः"।

बालक ने अन्दर जाकर सुरासुरों से वन्दनीय हरि का दर्शन किया और नैवेद्य भक्षण किया। मूर्ति का दर्शन करने और नैवेद्य भक्षण करने के कारण बालक चतुर्भुज हो गया (तद्भक्षणं च कृत्वाऽथो श्रीमूर्तिमवलोक्य च)। जब बालक घर लौट आया तो हम लोगों ने पूछा कि तुम्हें यह स्वरूप कैसे प्राप्त हुआ? उत्तर में बालक ने कहा कि मैं पर्वत के शिखर पर चला गया था। वहाँ पर मैंने भगवान् का दर्शन और नैवेद्य ग्रहण किया था, उसी से यह सब हुआ है।

है। इस समय भी यह उत्सव बड़े समारोह के साथ अनेक स्थानों में मनाया जाता है। इस उत्सव में अन्त्यज पर्यन्त सभी सनातनधर्मियों को एकत्रित होकर दर्शनादि का अधिकार कहा गया है।

इस उत्सव का वर्णन महादेव जी ने पार्वती जी से इस प्रकार किया है। हे देवि! अब मैं तुमसे उत्सवों की विधि कहता हूँ। उसमें सबसे पहले चैत्र मास के "दोलोत्सव" को कहता हूँ, उसे सुनो। हे देवि! चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन दोलारूढ विष्णु का पूजन विशेष रूप से करना चाहिये। जो पुरुष दोलारूढ कृष्ण को देखते हैं वे हजारों अपराधों से मुक्त हो जाते हैं। अधिक क्या कहें, कलिकाल में जो मनुष्य दोला में आरूढ भगवान् जनार्दन को देखते हैं वे यदि गोघाती प्रभृति पापीजन हों तो भी मुक्त हो जाते हैं फिर औरों के विषय में कहना ही क्या है।

कलौ वै ये प्रपश्यन्ति दोलारूढं जनार्दनम्।
गोघ्नादिकाः प्रमुच्यन्ते का कथा इतरेष्वपि॥

दोलोत्सव में विष्णु को देखने के लिये सभी रुद्रादि देवता दोले में चले आते हैं। दोले में स्थित विष्णु को देखने से तीनों लोकों का उत्सव हो जाता है।

"विष्णुं दोलास्थितं दृष्ट्वा त्रैलोक्यस्योत्सवो भवेत्॥"

चैत्र, वैशाख में जो मनुष्य दोले में स्थित विष्णु को देखते हैं वे महादेव से स्तुत्य होकर विष्णु के साथ आनन्द-क्रीड़ा करते हैं।

दोलायां संस्थितं विष्णुं पश्यन्ति मधुमाधवे।
क्रीडन्ति विष्णुना सार्धं देवदेवेन नन्दिताः।

दोले में दक्षिण ओर मुँह किये हुए विष्णु के दर्शन करने से मनुष्य ब्रह्म-हत्या से मुक्त हो जाता है। अधिक क्या कहें, दोले में स्थित विष्णु सर्व पापहर होता है। जो मनुष्य उनकी पूजा करता है उसको भगवान् सब कुछ देता है।

"ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" इस मंत्र से दोला-विष्णु की पूजा करनी चाहिये।

किमन्यद्बहुनोक्तेन भूयो भूयो वरानने।
दोलायां संस्थितो विष्णुः सर्वपापापहारकः।
"पूजितो यैर्नरैः सम्यक्सदा सर्वं ददाति च"
"ॐ नमो भगवते वासुदेवायेति मन्त्रेण पूजनं तत्र कारयेत्"

पुनः अर्घ देकर बचे हुए अर्घ के जल को सब वैष्णवों को देवे। फिर वहाँ पर उपस्थित सभी लोगों को विष्णु के दोले (झूले) को झुलाना चाहिये।

शिव जी कहते हैं :—

पुष्कसोऽपि तदा प्राप्तस्तीर्थं स्नानं शिवार्चनात् ।
किं पुनः श्रद्धया भक्त्या शिवाय परमात्मने ॥
पुष्पादिकं फलं गन्धताम्बूलाक्षतमेव च ।
ये प्रयच्छन्ति लोकेऽस्मिंस्ते रुद्रा नात्र संशयः ॥

अर्थात् चाण्डाल जाति का एक चण्ड नाम का पुष्कस भी शिवार्चन से तीर्थस्नान को प्राप्त हुआ तो फिर जो श्रद्धा-भक्ति से शिव जी को पुष्पादि चढ़ाते हैं वे इस संसार में रुद्र स्वरूप ही होते हैं। इस प्रकार निषाद् की कथा से युक्त शिवरात्रि का माहात्म्य लिंगपुराण, शिवपुराण, स्कन्दादि पुराण में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। ये सब कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनका विस्तार करना व्यर्थ है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि निषाद, चाण्डाल, शबर या पुष्कस से किसी प्रकार शिवरात्रि का व्रत और शिवार्चन हो जाने के कारण ही आज शिवरात्रि का व्रत बड़े महत्त्व के साथ देश भर में माना जाता है। पद्मपुराण में ब्रह्मखण्ड के बीसवें अध्याय में लिखा है कि महापापिनी कलिप्रिया नाम की एक शूद्रा थी। वह अपने पति को जीवित रखना नहीं चाहती थी। उसकी दुष्टता से किसी प्रकार उसका पति मर गया और उसके उपपति को भी गैंड़े ने खा लिया। इस पर वह अत्यन्त विलाप करने लगी। अन्त में वह दूसरे नगर में चली गई। नगर में जाते ही उसने देखा कि बहुत से पुरुष और स्त्रियाँ धूप-दीपादि से राधादामोदर की पूजा कर रही हैं। कलिप्रिया ने पूछा कि आप लोग क्या कर रही हो ? उत्तर में उन में से स्त्रियों ने कहा कि यह कार्तिक का मास है। हम सब लोग सवपापहर राधादामोदर की पूजा कर रही हैं।

सर्वमासोत्तमे चोर्जे राधादामोदरौ शुभौ ।
पूजयामो वयं मातः सर्वपापहरौ शुभौ ॥

यह सुनकर उसने भी मांस का परित्याग करके राधादामोदर की पूजा किया। फलतः अन्त में विष्णुपद को प्राप्त कर गई।

कोटिजन्मार्जितं पापं नष्टं प्राप्तं निकेतनम् ।
सपर्यामामिषं त्यक्त्वा कृत्वा सा हरेर्दिने ॥
"निधनत्वं पौर्णमास्यां गता सा निर्मला तदा"
राजहंसयुते विप्र विमाने स्वर्णनिर्मिते ।
आरूढा सा गता तैस्तु वेष्टिता विष्णुमन्दिरम् ॥

उसको विष्णुदूत सुन्दर विमान मे बैठाकर विष्णुलोक को ले गए। पद्मपुराण के उत्तरखण्ड पचासीवें अध्याय मे "दोलोत्सव" का विस्तृत वर्णन आया है। यह उत्सव रथयात्रादि उत्सवों के समान ही एक उत्सव माना गया

यस्मिन्कुलेऽवतीर्याथोत्सवो दमनकः कृतः ।
स च धन्यस्तु धन्यो वै येन विष्णुः प्रपूजितः ॥

आगे चलकर इसी उत्तरखण्ड के एक सौ सत्ताइसवें अध्याय में शालग्राम शिलार्चन और दर्शन के विषय में शिव जी कहते हैं कि शालग्राम की शिला पुण्य, पवित्र और धर्मकारिणी है। जिसके दर्शन मात्र से ब्रह्मघाती शुद्ध हो जाता है। श्रुति के अनुसार वह घर सब तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ के समान है जिसमें शालग्राम-शिला रहती है। ब्राह्मण को पांच, क्षत्रिय को चार, वैश्य को तीन और शूद्र को एक शिला पूजनी चाहिये। शालग्राम शिला के पूजन मात्र से ही शूद्र मुक्ति को प्राप्त होता है। हे देवि ! अधिक क्या कहूं, मुक्ति को चाहने वाले पुरुषों को शालिग्राम शिला का पूजन करना चाहिये।

शालग्रामशिला पुण्या पवित्रा धर्मकारिणी ।
यस्या दर्शनमात्रेण ब्रह्महा शुध्यते नरः ॥
ब्राह्मणैः पञ्चपूज्यास्ताश्चतस्रः क्षत्रियैस्तथा ।
वैश्यैश्च तिस्रः संपूज्या एका शूद्रेण यत्नतः ॥
"तस्याः पूजनमात्रेण शूद्रो मुक्तिमवाप्नुयात् ।"
पूजनं मनुजैः सम्यक्कर्तव्यं मुक्तिमिच्छुभिः ।
भक्तिभावेन देवेशि येऽर्चयन्ति जनार्दनम् ॥
"तेषां दर्शनमात्रेण ब्रह्महा शुध्यते जनः ।"

इसी अध्याय में आगे चलकर एक सौ दो श्लोक में भगवान् शंकर कहते हैं—

भक्तिहीनैश्चतुर्वेदैः पठितैः किं प्रयोजनम् ।
श्वपचो भक्ति युक्तस्तु त्रिदशैरपि पूज्यते ॥

आगे एक सौ चौवालिसवें अध्याय में साभ्रमती गंगा के किनारे धवलेश्वर तीर्थ में "धवलेश" के माहात्म्य में स्कन्दपुराणवाली नन्दी और किरात की कथा ज्यों की ज्यों आई है। उसके अन्त में भगवान् शंकर कहते हैं—

एको नन्दी महाकालो द्वावेतो शिववल्लभौ ।
ये पापिनो ह्यधर्मिष्ठा अन्धा मूकाश्च पङ्गवः ॥
कुलहीना दुरात्मानः श्वपचाद्या हि मानवाः ।
यादृशास्तादृशाश्चान्या आराध्य धवलेश्वरम् ॥
"गतास्तेऽपि गमिष्यति नात्र कार्या विचारणा ।"

पद्मपु० उत्तर खं० १४४ अ०

हे देवि ! उस दिन दोलोत्सव देखने के लिये पृथ्वी भर के तीर्थ और क्षेत्र आते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि अन्य जातियाँ उसे देखने आती हैं। उन सबों को शंख चक्रधारी ही समझना चाहिये; अर्थात् दर्शनार्थ आये हुए ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज पर्यन्त मनुष्य जाति को वैष्णव समझना चाहिये।

आन्दोलनं ततः सर्वैः कर्तव्यं च विशेषतः
पृथिव्यां यानि तीर्थानि क्षेत्राणि च सुरेश्वरि।
सर्वाण्येव तु वै तत्र द्रष्टुमायान्ति तद्दिने
एवं ज्ञात्वा सदा देवि कर्तव्य उत्सवो महान्।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राद्याश्चान्यजातयः।
शंखचक्रधराः सर्वे ज्ञातव्या नगनन्दिनि ॥

३३-३४-३५।

इसके आगे के अध्याय में भगवान् शङ्कर ने "दोलोत्सव" की तरह दमनोत्सव की भी विधि और माहात्म्य दिखाया है। उसमें भी भगवान् शङ्कर कहते हैं कि चैत्र मास की शुक्ल द्वादशी को विधिपूर्वक दमनोत्सव मनाना चाहिये।

अस्मिन्वै चैत्रमासे तु कर्तव्यो दमनोत्सवः।
द्वादश्यां तु तथा सम्यग्विधिः कार्यो विशेषतः ॥

हे देवि ! [जो मनुष्य दमनोत्सव के दिन मंजरी से विष्णु की पूजा करता है, वह मेरी ही पूजा करता है। मद्यप, मांसभक्षी, स्वर्णहारी और ब्राह्मणघाती दमनोत्सव को देखता है तो पापों से छूट जाता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यजादि किसी का भी कुल क्यों न हो वह कुल धन्य से धन्य और महान् है जो दमनोत्सव में मंजरी से विष्णु की पूजा करता है।

ततो दमनमञ्जर्या यो वै विष्णुं प्रपूजयेत्।
पूजिते वै जगन्नाथे ह्यहं वै पूजितः सदा ॥
ब्रह्महा हेमहारी च मद्यपो मांसभक्षकः।
मुच्यते पातकाद्देवि दृष्ट्वा स दमनोत्सवम् ॥
"अग्निहोत्रं कृतं तेन मञ्जर्या पूजितो हरिः।"
तत्कुलं तु महज्ज्ञेयं ब्राह्मं वा चाथ क्षत्रियम्।
शौद्रं वैश्यं च यच्चान्यद्धन्यं धन्यतरं स्मृतम् ॥

न्यस्य मांसघनुष्कोट्यां श्रान्तो व्याधः शिवं प्रभुम् ।
आदिकेशं समागत्य न्यस्य मांसं ततो बहिः ॥
गंगां गत्वा मुखे वारि गृहीत्वाऽऽगत्य वै शिवम् ।
यस्य कस्यापि पत्राणि करेणाऽऽदाय भक्तितः ॥
अपरेण तु मांसानि नैवेद्यार्थं च तन्मनाः ।
स्नापयित्वा शिवं देवमर्चयित्वा तु पत्रकैः ।
कल्पयित्वा तु तन्मांसं शिवो मे प्रीयतामिति ॥

शिव-भक्ति के बिना उसको कुछ भी अच्छा नहीं लगता था :—

नैव किञ्चिद् स जानाति शिवभक्तिं विना शुभाम् ।

इस प्रकार प्रतिदिन आकर शिव-पूजा करके घर लौट जाता था :—

"करोत्येतादृगागत्याऽऽगत्य प्रत्यहमेव सः ।"

ब्रह्माजी कहते हैं कि जैसी उसकी अपूर्व भक्ति और पूजा थी, शङ्कर भगवान् भी उसके लिये वैसे ही प्रसन्न थे। भगवान् की स्थिति ही विचित्र होती है। जबतक वह भील नहीं आता था तबतक भगवान् भी सुखी नहीं रहते थे। भला शम्भु की भक्तों के ऊपर असीम अनुकम्पाको कौन जान सकता है ?

"तथापीशस्तुतोषास्य विचित्रा हीश्वरस्थितिः ।"
यावन्नायात्यसौ भिल्लः शिवस्तावन्न सौख्यभाक् ।
भक्तानुकम्पितां शंभोर्मानातीतां तु वेत्ति कः ॥

इस प्रकार व्याध को पार्वती सहित "आदिकेश" महादेव की पूजा करते बहुत दिन बीत गये। इधर वेद ऋषि क्रुद्ध होकर यह सोचा करते थे कि मंत्र और भक्ति से युक्त मेरी शिव-पूजा को प्रतिदिन कौन पापी नष्ट कर देता है ? ऐसा पापी अब मुझसे मारा जायगा। क्योंकि जो गुरु, देव, द्विज और स्वामी का द्रोही होता है वह मुनि का भी वध्य होता है फिर यह शिव-द्रोह करने वाला तो सब का वध्य हो सकता है।

"एवं बहुतिथे काले याते वेदश्चुकोप ह ।"
पूजां मंत्रवतीं चित्रां शिवभक्तिसमन्विताम् ।
को नु विध्वंसते पापो मत्तः स वधमाप्नुयात् ॥
गुरुदेवद्विजस्वामि द्रोही बध्यो मुनेरपि ।
सर्वस्यापि वधार्होऽसौ शिवस्य द्रोहकृन्नरः ॥

इस प्रकार वेद ऋषि विचारने लगे कि न मालूम यह किस दुष्ट पा' की चेष्टा है। मैं तो सुन्दर फल, पुष्प, कन्द, मूल से शिव-पूजा कर जाता हू,

अर्थात् इस धवलेश्वर के पूजन और दर्शन से किरात और नन्दी शिव के द्वारपाल हो गये। अतः कोई भी पापी, अधर्मरत, अन्ध, दुरात्मा, मूक, पंगु और कुलहीन श्वपचादि मनुष्य, चाहे जैसे भी हों, धवलेश्वर की आराधना करके उत्तम लोक को जायँगे और चले भी गये हैं, इस पर सोच-विचार नहीं करना चाहिये।

नन्दी और किरात के कथा की तरह की एक कथा ब्रह्मपुराण के गौतमी माहात्म्य के निन्यानवेवें अध्याय में आई है। यह बड़ी सुन्दर कथा है। एक ब्राह्मण से ब्रह्माजी ने उस कथा को इस प्रकार कहा है :—

हे द्विज! महादेव के चरणों की भक्ति देनेवाला, रोग और पापनाशक "भल्ल" नाम का एक तीर्थ है, उसकी पुण्य कथा सुनो। गंगा के दक्षिण और श्रीगिरि के उत्तर तट पर "आदिकेश" नाम का लिंगरूपी महादेव है। वह ऋषियों से पूजित और सब कामों को देनेवाला है।

गंगाया दक्षिणे तीरे श्रीगिरेरुत्तरे तटे।
आदिकेशय इति ख्यात ऋषिभिः परिपूजितः।
महादेवो लिंगरूपी सदाऽऽस्ते सर्वकामदः॥

हे द्विज! परम धार्मिक सिन्धुद्वीप नामक एक ऋषि था। उनके भाई का नाम "वेद" था। वह भी परम ऋषि था।

सिन्धुद्वीप इति ख्यातो मुनिः परमधार्मिकः।
तस्य भ्राता वेद इति स चापि परमो ऋषिः॥

वह वेद ऋषि उस त्रिलोचन त्रिपुरारि 'आदिकेश' को मध्याह्न में सदा पूजता था और भिक्षाटन करने के लिये गाँव मे चला जाता था।

नित्यं पूजयते भक्त्या प्राप्ते मध्यं दिने रवौ।
भिक्षाटनाय वेदोऽपि याति ग्रामं विचक्षणः॥

ठीक उसी समय एक परम धार्मिक किरात उस पर्वत पर शिकार के लिये आता था और चारों ओर घूमकर अनेक मृगों को मारकर थका हुआ मांसको धनुष पर लटकाकर 'आदिकेश' शिव भगवान् के पास जाया करता था। उस समय मांसको बाहर ही रख देता था। समीप में ही गङ्गापर जाकर मुँह से पानी तथा एक हाथ से जिस किसी पेड़का पत्ता और दूसरे हाथ से नैवेद्यके लिये मांस लाकर तन्मय होकर आदिकेश के पास जाकर 'वेद' ऋषि से की गई पूजा को पाँवसे हटाकर "शिव प्रसन्न होवें" कहकर स्नान, पत्र और मांसके नैवेद्यसे पूजा करता था।

याते तस्मिन्द्विजवरे व्याधः परमधार्मिकः।
तस्मिन्गिरिवरे पुण्ये मृगयां याति नित्यशः॥

अयं व्याधः पापरतः क्रियाज्ञानविवर्जितः ।
प्राणिहिंसारतः क्रूरो निर्दयः सर्वजन्तुषु ।
हीनजातिरकिंचिज्ज्ञो गुरुक्रमविवर्जितः ।
सदाऽनुचितकारी चानिर्जिताखिलगोगणः ।
तस्याऽऽत्मानं दर्शितवान्न मां किंचन वक्ष्यसि ।
पूजां मन्त्रविधानेन करोमीश यतव्रतः ।
त्वदेकशरणो नित्यं भार्यापुत्रविवर्जितः ।
व्याधो मांसेन दुष्टेन पूजां च प्रकरोत्यसौ ।
तस्य प्रसन्नो भगवान्न ममेति महाद्भुतम् ।

इस प्रकार क्रुद्ध होकर वेद ऋषि ने निश्चय किया कि इस अपकारी व्याध के शिर में पत्थर मार देता हूं।

"तस्मादहं मूर्ध्नि शिलां पातयेयमसंशयम्"

ब्रह्माजी कहते हैं :—

वेद मुनि के यह सब कह चुकने पर "आदिकेश" महादेव हँसकर बोले— कलतक ठहर जाओ, तब मेरी शिला को उसके शिर पर मारना।

आदिकेश उवाच

"श्वः प्रतीक्षस्व पश्चान्मे शिलां पातय मूर्धनि ।"

इस पर वेद मुनि ने भी 'अच्छा' कहकर हाथ में उठाई हुई शिला फेंक दी और क्रुद्ध होकर यह कहा कि अच्छा कल यह काम करूँगा।

"उपसंहृत्य तं कोप श्वं करोमीत्युवाच ह ।"

इसके बाद वेद मुनि अगले दिन आकर स्नानादि करके प्रतिदिन की तरह शिवपूजन करने लगे, तो उन्होंने क्या देखा कि शिव जी के मस्तक में बड़ा भारी घाव हुआ है और उससे रुधिर की धारा बह रही है।

ततः प्रातः समागत्य कृत्वा स्नानादि कर्मच ।
वेदोऽपि नित्यवत्पूजां कुर्वन्पश्यति मस्तके ॥
लिंगस्य सव्रणां भीमां धारां च रुधिरप्लुताम् ।

यह देखकर वेद मुनि आश्चर्य और शङ्का में पड़ गये। वह सोचने लगे कि कोई महा उत्पात तो नहीं होनेवाला है। फिर उसने मिट्टी, कुशा, गोबर और गङ्गाजल से उस लिङ्ग को धोकर पूजा की।

वह सब हटा कर मांस और पेड़ के पत्तों से दूसरी पूजा कर जाता है। जो हो अब, वह वध्य है।

पुष्पैर्वन्यभवैर्दिव्यैः कन्दैर्मूलफलैः शुभैः।
कृतां पूजां च विध्वस्य ह्यन्यां पूजां करोति यः॥
मांसेन तरुपत्रैश्च स च वध्यो भवेन्मम।

यह सब सोच कर वेद ऋषि पूजक का पता लगाने के लिये छिप गये। इतने में प्रतिदिन की भाँति वह व्याध "आदिकेश" के पास आया। नित्य की तरह पूजा करते हुए उस व्याध से आदिकेश महादेव बार-बार कहने लगे कि हे महाबुद्धि वाले व्याध! क्या तुम थके हो? तुम देरी में कैसे आये? हे तात! तुम्हारे विना मैं दुःखित था। हे पुत्र! मैं कुछ भी सुख नहीं पा रहा हूं। इस कारण तुम थोड़ा विश्राम कर लो।

एवं संचिन्त्य मेधावी गोपयित्वा तनुं तदा।
एतस्मिन्नन्तरे प्रायाद्व्याधो देवं यथा पुरा।"
नित्यवत्पूजयन्तं तमादिकेशस्तदाऽब्रवीत्।

आदिकेश उवाच

भो भो व्याध महाबुद्धे श्रान्तोऽसीति पुनः पुनः।
चिराय कथमायातस्त्वां विना तात दुःखितः।
न विन्दामि सुखं किंचित्समाश्वसिहि पुत्रक।

ब्रह्मा जी कहते हैं कि, इस प्रकार बोलते हुए शिवजी को देखकर वेद ऋषि आश्चर्य में पड़ गया और क्रोध के मारे कुछ भी नहीं बोला।

"चुकोप विस्मयाविष्टो न च किंचिदुवाच ह"।

किन्तु व्याध प्रतिदिन की पूजा करके अपने घर चला गया।

"व्याधश्च नित्यवत्पूजां कृत्वा स्वभवनं ययौ।"

वेद मुनि क्रुद्ध हो शिवजी के पास आकर बोले कि हे ईश! यह व्याध जो कि पापी, क्रिया-ज्ञान-रहित, जीवहिंसा करनेवाला, क्रूर, निर्दय, नीच जाति, कुछ भी न जाननेवाला, गुरु-परम्परा-रहित, हमेशा खराब काम करनेवाला, और अजितेन्द्रिय है, उसको तो दर्शन दिये हो और मुझ से बात तक नहीं करते हो। मैं व्रती होकर विधानानुसार तुम्हारी पूजा करता हूं, स्त्री-पुत्रादि से रहित होकर सदा तुम्हारी पूजा करता हूं। किन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यह व्याध दूषित मांस से तुम्हारी पूजा करता है, उसके लिये तो आप प्रसन्न हुए हैं और मेरे लिये नहीं।

वाराहपुराण में धर्मव्याध की कथा है। वह अत्यन्त धर्मात्मा था, पंचयज्ञ और देवपूजनादि विधियों को जानता था। एक समय व्याध और उसकी लड़की के ससुराल वालों से पवित्रता के विषय में झगड़ा चला। धर्मव्याध ने अपने लड़की के ससुर "मातङ्ग" से कहा कि तुम मुझे झूठे ही हिंसक होने का दोष लगा रहे हो। मैं तो एक ही हिंसा करता हूँ, तुम तो हजारों की हिंसा करते हो। तुम्हारे घर में तो आचार, देवपूजा, अतिथि का पूजनादि क्रिया में एक भी कर्म नहीं है। इस कारण मैं तुम्हारे घर भोजन नहीं करूँगा। मुझे घर जाकर श्राद्ध करना है।—

आचारं देवपूजां च अतिथीनां च तर्पणम्।
एतेषामेकमप्यत्र कुर्वन्नपि न दृश्यते ॥
तदहं गन्तुमिच्छामि पितृणां श्राद्धकाम्यया।

इतना कह के व्याध अपने घर चला गया। घर जाकर उसने देवता और पितरों का पूजन किया। अन्त में घर का भार पुत्र के ऊपर छोड़कर लोक प्रसिद्ध पुरुषोत्तम तीर्थ की यात्रा करने चलागया।

ततो देवान्पितृन्भक्त्या पूजयित्वा विचक्षणः।
पुत्रं चार्जुनकं स्थाप्य स्वसन्तानं महातपाः ॥
धर्मव्याधो जगामाशु तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।

वहां जाकर श्लोकपाठ के साथ तप करने लगा।

पुरुषोत्तमाख्यं च परं तत्र गत्वा समाहितः।
तपश्चचार नियमान् पठन्स्तोत्रमिदं परे ॥

इस प्रकार तीर्थ में जाकर व्याध ने अनेक स्तोत्रों से स्तुति की। उनमें सर्व प्रथम श्लोक यह है :—

नमामि विष्णुं त्रिदशारिनाशनं विशालवक्षःस्थलसंश्रितश्रियम्।
सुशासनं नीतिमतां पराङ्गतिं त्रिविक्रमं मन्दरधारिणं सदा ॥

वाराह पु० अ० ८।

इस प्रकार पुरुषोत्तम तीर्थ में तप और स्तोत्र पाठ करता हुआ वह धर्मव्याध भगवान् का दर्शन पाकर सनातन पद को पहुँच गया।

शिवपुराण सनत्कुमार संहिता के पन्द्रहवें अध्याय मे शिवपूजन के और दर्शन के विषय में आया है कि :—

दर्शनाच्छ्रवणाद्वापि नामसंकीर्तनादपि।
प्रमाणश्चैव लिंगस्य श्रुत्वा पापैः प्रमुच्यते ॥

मृद्भिश्च गोमयेनापि कुशैस्तं गांगवारिभिः ।
"प्रक्षालयित्वा तां पूजां कृतवानित्यवत्तदा"

इसी बीच निष्पाप वह व्याध आ गया। उसने जब शिव जी के मस्तक पर घाव देखा तो तुरंत ही 'यह कैसी विचित्र बात है' कहकर तीखे वाणों से अपने शरीर को सैकड़ों बार छेद लिया।

"आत्मानं भेदयामास शतधा च सहस्रधा ।"

वह विचार करने लगा कि कौन ऐसा पवित्र हृदयवाला होगा जो कि स्वामी की विकृत दशा देखकर सहन कर लेगा। अपने को बार-बार धिक्कारने लगा कि मेरे जीते जी भगवान् की यह दशा हो गई।

स्वामिनो वैकृतं दृष्ट्वा कः क्षमेतोत्तमाशयः ।
मुहुर्निनिन्द चात्मानं मयि जीवत्यभूदिदम् ॥

व्याध के इन सब कर्मों को देखकर महादेव जी आश्चर्य में पड़ गये और वेदज्ञों में श्रेष्ठ वेद मुनि से बोले—

पश्य व्याधं महाबुद्धे भक्तं भावेन संयुतम् ।
त्वं तु मृद्भिः कुशैर्वार्भिर्मूर्धानं स्पृष्टवानसि ॥
अनेन सहसा ब्रह्मन् ममाऽऽत्मापि निवेदितः ।
भक्तिः प्रेमाथवा शक्तिर्विचारो यत्र विद्यते ।
तस्मादस्मै वरान्दास्ये पश्चात्तुभ्यं द्विजोत्तम ।

अर्थात् हे वेद! भाव से भरे हुए भक्त व्याध को देखो। तुमने तो केवल कुश, मिट्टी और जल से मेरा मस्तक छुआ है पर इसने तो एकदम मेरे लिये अपना शरीर भी दे दिया। इसमें भक्ति, प्रेम, शक्ति और विचार विद्यमान है। इस कारण सर्व प्रथम इसको वर दूँगा, फिर तुम्हें दूँगा। ब्रह्मा जी कहते हैं कि महेश्वर ने व्याध से वरदान माँगने के लिये अनुरोध किया। व्याध ने कहा कि हे देवेश! तुम्हारा जो निर्माल्य है वह हमें मिले और मेरे नाम से तीर्थ हो जाय और इस तीर्थ का ऐसा महत्त्व हो कि इसके स्मरण से ही सब यज्ञों का फल हो जाय। शिव जी ने व्याध की प्रार्थना स्वीकार कर ली। इस कारण वह "भिल्ल" तीर्थ समस्त पाप समूह का विनाशक हो गया।

तथेत्युवाच देवेशस्ततस्तीर्थमुत्तमम् ।
भल्लतीर्थं समस्ताघसंघविच्छेदकारणम् ॥

इस कथा से यह बात स्पष्ट है कि एक अन्त्यज के पूजने पर भी वेदज्ञ ब्राह्मण ने शिवलिङ्ग को अपवित्र नहीं माना। एवम् एक भक्त व्याध अज्ञ होने पर भी भाव मात्र से शिव-पूजन करने पर सर्वोत्तम फल पा गया।

"इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ।"

अर्थात् स्त्री, शूद्र और द्विजबन्धु (अन्त्यज) के कान तक श्रुति नहीं पहुँच सकती है; किन्तु किसी प्रकार उन्हें अपने धर्म, अर्थ और कामादि पदार्थों की प्राप्ति हो, इस कारण व्यास मुनि ने उनके कल्याणार्थ भारत जैसे वेदसारमय ग्रन्थ की रचना की। इस बात को व्यास जी ने अपने ही मुख से उसी ग्रन्थ में इस वचन से और भी स्पष्ट कर दिया है :—

भारत व्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः ।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्री शूद्रादिभिरप्युत ॥

अर्थात् मैंने महाभारत के व्याज से वेदों का भी अर्थ दिखा दिया है जिसमें कही हुई धर्मादि विधि से स्त्री शूद्रादि भी अधिकारी हो जाते हैं। इन सब बातों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि महाभारत तथा पुराणों की रचना द्विजों के हित के अतिरिक्त विशेषतया स्त्री और शूद्रादि जाति के कल्याण के लिये ही की गई है।

यही बात है कि विष्णुपुराणादि ग्रन्थों में पुरुष सूक्त जैसे वैदिक मन्त्रों को कुछ हेरफेर करके रखा गया है। एवं त्रैवर्णिक सम्बन्धी गायत्र्यादि मन्त्रों की दीक्षा के बदले इन भाइयों के लिये पुराणों में षडक्षर, पञ्चाक्षर, अष्टाक्षर और द्वादशाक्षर जैसे बहुत से मन्त्रों का विधान दिया गया है। इस विषय में मैंने "मन्त्र-महिमा" और "सनातनधर्म प्रदीप" में कुछ विस्तार के साथ वर्णन किया है। इसी प्रकार पुराणादि ग्रन्थों में आये हुए स्तोत्र तथा माहात्म्य ग्रन्थों के पढ़ने के विषय पर शूद्रादिकों के लिये स्पष्टरूप से आया है कि यदि शूद्र इस स्तोत्र को पढ़े तो उसे सद्गति प्राप्त होती है। नर्मदा स्तोत्र के बारे में मत्स्यपुराण में लिखा है :—

वैश्यस्तु लभते लाभं शूद्रः प्राप्नोति सद्गतिम् ।
मूर्खस्तु लभते विद्यांत्रिसंध्यं यः पठेन्नरः ।

म० पु० अ० १९४ ।

वैश्यस्तु लभते लाभं शूद्रश्चैव शुभां गतिम् ॥

म० पु० १९० ।

खेद है कि इस पर भी कुछ निबन्धकारों ने शूद्रों के पुराण पढने के विरुद्ध सम्मति दी है। लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक भी पौराणिक विधान के द्वारा स्त्री, शूद्र, अन्त्यजादि जाति के उद्धार के विषय में गीता के नवें अध्याय और गीतारहस्य में स्पष्ट सम्मति दे गए हैं।

कलियुग में शूद्रों के लिये भक्ति मुख्य कही गई है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि शूद्रों को जप और तप का अधिकार नहीं है अन्यथा "शम्बूक"

स्त्रियः शूद्राश्च म्लेच्छाश्च ये चान्ये पापयोनयः ।
अश्वमेघफलं सम्यग् लभन्ते नात्र संशयः ॥

शिव जी के दर्शन, शिवशास्त्र के श्रवण और नाम-संकीर्तन से स्त्री, शूद्र और अन्त्यजादि कोई होवे, सब अश्वमेध के फल को पाते हैं और पापमुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार सब पुराणों में अनेक कथाएं आई हैं, जो यह सिद्ध करती हैं कि शुद्ध और भावभक्ति से युक्त सनातनधर्मानुयायी अन्त्यज भी सदा से देव-दर्शनादि का अधिकारी होता आया है।

प्राचीन ऋषि, मुनि, महात्मा, सन्त, साधु सभी धर्मात्मा लोग इन दीन असहाय सधर्मी भाइयों के लिये उदार होते आए हैं। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जब वन में भक्तिन शबरी के आश्रम में पहुँचे तो उन्होंने उससे घृणा नहीं की; क्योंकि भिलनी बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि तथा भक्तिभाव से समन्वित थी। भगवान् ने अन्त्यज जाति की बुढ़िया की कुटिया में जाने से जरा भी घृणा नहीं की। पद्मपुराण में आया है कि भगवान् रामचन्द्र शबरी के पास गये तो शबरी ने उनका स्वागत और नमस्कार कर उन्हें अपनी कुटिया में बैठाया और पांव धोकर वन्य फल-पुष्पों से पूजा की तथा अनेक प्रकार के सुन्दर मधुर फलमूल दिए। भगवान् ने शबरी के फलों को खाकर उसे मुक्ति दी।

अभ्यगच्छन्महाभागां शबरीं धर्मचारिणीम् ।
सा तु भागवतश्रेष्ठा दृष्ट्वा तौ रामलक्ष्मणौ ॥
प्रत्युद्गम्य नमस्कृत्य निवेश्य कुशविष्टरे ।
पादप्रक्षालनं कृत्वा वन्यैः पुष्पैः सुगन्धिभिः ॥
अर्चयामास भक्त्या च हर्षनिर्भरमानसा ।
फलानि च सुगन्धीनि मूलानि च मधुराणि च ॥
निवेदयामास तदा राघवाभ्यां दृढव्रता ।
फलान्याखाद्य काकुत्स्थस्तस्यै मुक्तिं ददौ पराम् ॥

पद्मपु० उत्तर ख० २६९ अ० ।

इतना ही नहीं भगवान् व्यास ने तो इन दीन भाइयों के उद्धार के लिये ही भारत और पुराणों का संकलन किया।

भागवत में आया है :—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ॥

भा० १।४।

व्यासस्मृति में आया है कि गर्भाधान से लेकर व्रतादेश संस्कार-पर्यन्त दस संस्कारों को शूद्र करे किन्तु वेद-मंत्र-रहित विधि से।

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामनिष्क्रमोऽन्नप्राशनं वपनक्रिया॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चैव संस्काराः षोडश स्मृताः।
"नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं स्त्रियाः क्रियाः
विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश"

व्यासस्मृति १ अ०।

निर्णयसिन्धु में उद्धृत शार्ङ्गधर का वचन है कि द्विजों के सोलह संस्कार हैं और शूद्र के बारह।

द्विजानां षोडशैव स्युः शूद्राणां द्वादशैव हि

मदनरत्न में शूद्रों के जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, विवाह और पंचमहायज्ञ ये ग्यारह संस्कार कहे गये हैं।

"स्त्रियाः जातकर्म नामकरण निष्क्रमणान्नप्राशनचूडाविवाहाः षट्।
शूद्राणां तु षडेते पञ्चमहायज्ञाश्चेत्येकादश"

विष्णुस्मृति में आया है कि पञ्चमहायज्ञों का विधान शूद्र के लिये कहा गया है और उसके लिये नमस्कार मंत्र कहा गया है—

"पंचयज्ञविधानन्तु शूद्रस्यापि विधीयते"

इन सब वाक्यों की संगति को लेकर यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ शास्त्रों में यह आया है कि शूद्र का कर्म केवल सेवाधर्म ही है उसका अभिप्राय यही है कि सेवाधर्म शूद्र का वृत्ति के लिये प्रधान धर्म है, जैसे कि वृत्ति के लिये ब्राह्मण का अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह मुख्य धर्म हैं न कि दूसरे के लिये। किन्तु इन विधानों का यह अभिप्राय नहीं है कि ब्राह्मण अध्यापनादि के सिवाय और कर्म करे ही नहीं। यही बात शूद्र के सेवाधर्म में भी चरितार्थ होती है।

अतएव मनु के—

"एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्"

(१।९१)

इस श्लोक की टीका में कुल्लूक भट्ट ने लिखा है कि 'एक ही' कहने से प्राधान्य का निर्देश होता है क्योंकि दानादि कर्म भी उसके लिये विहित हैं।

को रामचन्द्रजी नहीं मारते। किन्तु ऐसी धारणा पर यह समझ लेना अत्यावश्यक है कि युग-भेद से धर्म-भेद और युगानुसार अधिकारी का भी भेद माना गया है।

मनु-स्मृति में आया है कि सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग में विभिन्न धर्मों की प्रधानता रहती है। सत्ययुग तप-प्रधान होता है, त्रेता ज्ञान-प्रधान, द्वापर यज्ञ-प्रधान और कलियुग में दान ही मुख्य धर्म होता है।

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।

उस समय ब्राह्मण, क्षत्रियादि त्रैवर्णिक तप और ज्ञाननिष्ठ होते थे। उनकी सेवा से ही शूद्र भी संसर्गानुसार धर्म, अर्थादि पुरुषार्थ का भागी हो जाता था। अतः उस युग के विरुद्ध स्मार्त्त तप करना शूद्र के लिये उचित नहीं समझा गया। किन्तु कलियुग में तो यही कहा गया है कि शूद्र और ब्राह्मणादि वर्ण भी विष्णु, शिवादि देवपूजन और भगवन्नाम-कीर्तन से मुक्त हो सकते हैं। गरुड पुराण में आया है कि कलियुग में हरिकीर्तन से श्रेय होता है ("कलौ तद्धरिकीर्तनात्")। इस कारण हरि का ज्ञान, ध्यान और पूजन करना चाहिये।—

"तस्माज्ज्ञेयो हरिर्नित्यं ध्येयः पूज्यश्च शौनक।"

गरुड पु० २२७ अ०।

पद्मपुराण उत्तरखण्ड मे आया है कि कलियुग में विष्णु के ध्यान में लगे हुए शूद्र धन्य होते हैं। वे इस लोक में सुख भोग कर परलोक मे विष्णु पद को पाते हैं:—

"कलौ धन्यतमाः शूद्रा विष्णुध्यानपरायणाः।
इहलोके सुखं भुक्त्वा यान्ति विष्णोः सनातनम्॥"

८४ अ०

जिस समय में जो नियम विशेष रूप से रहता है, उसके विरुद्ध करने पर ही दण्ड मिलता है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि शूद्रों को पहले कोई अधिकार ही नहीं था।

शूद्र के लिये यह कहीं नहीं आया है कि वह सेवाधर्म के सिवाय अन्य कोई धर्म न करे। किन्तु जहाँ कहीं भी शूद्र को सेवाधर्म का विधान किया गया है वहाँ पर सेवाधर्म मुख्य धर्म समझा गया है अर्थात् वृत्ति के लिये शूद्र का सेवाधर्म ही मुख्य धर्म है।

यदि शूद्र को सेवाधर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म वर्जित होते तो स्मृति ग्रन्थों में शूद्र के दस या बारह संस्कार विहित न होते।

"शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ।"

(मनु० अ० १०)

यही बात है कि याज्ञवल्क्य ने अन्त्यजपर्यन्त सब शूद्रों को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दम, दया और शांति धर्म का उपदेश किया है :—

"अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दमो दया शांतिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ।"

शूद्रकमलाकर में लिखा है कि "अहिंसादि" धर्म सबके लिये समान है :—

"अहिंसादिश्च धर्मः सर्वतुल्यः ।"

इसीलिये निबन्ध-ग्रन्थों में शूद्र के तुल्य ही अन्त्यजों को भी महीने भर का अशौच कहा है।

"सूतादीनां च प्रतिलोमानां मासमाशौचः ।"

शूद्रकमलाकर ।

शूद्र और द्विजाति के सधर्मा होने के कारण ही पुराणादि शास्त्रों में अन्त्यजों के लिये तीर्थ, व्रत, देव-पूजनादि का अधिकार कहा गया है।

नृसिंह पुराण में लिखा है :—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातयः ।
संपूज्य तं सुरश्रेष्ठं नरसिंह वपुर्धरं ।
मुच्यन्ते चा शुभैर्भावै र्जन्मकोटि समुद्भवैः ॥

यही श्लोक ब्रह्म पुराण के पचपनवें तथा उनसठवें अध्याय में भी आया है। पुनः इसी पुराण के कृष्णस्नान प्रकरण वाले बासठवें अध्याय में आया है कि ज्येष्ठ की पूर्णिमा के दिन कृष्ण के स्नान के लिये उत्तम मंच बनाना चाहिये, उसपर सुभद्रा, राम और कृष्ण की मूर्त्ति को स्थापित करना चाहिये और उस मंच पर स्थापित कृष्णादि की मूर्ति जब धूप-दीपादि तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अनुलोम-प्रतिलोमादि शूद्रों से तथा हजारों स्त्री-पुरुषों से घिरी रहती है तब गृहस्थ, स्नातक, यति और ब्रह्मचारी लोग बलराम के सहित भगवान् को स्नान कराते हैं। ऐसे अवसर पर जो मनुष्य पुरुषोत्तम भगवान् को देखते हैं, वे अविनाशी पद प्राप्त करते हैं।

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्चान्यैश्चजातिभिः ।
अनेक शतसहस्रैर्वृतं स्त्रीपुरुषै द्विजाः ॥
गृहस्थाः स्नातकाश्चैव यतयो ब्रह्मचारिणः ।
स्नापयन्ति तदा कृष्णं मंचस्थं सहलायुधम् ॥

"एकमेवेति प्राधान्यप्रदर्शनार्थं दानादेरपि तस्य विहितत्त्वात्"।

इसी प्रकार अन्त्यजों के लिये भी धर्म और कर्म का विधान कहा गया है। क्योंकि अन्त्यज जाति भी शूद्रवर्ण के ही अन्तर्गत है। शुचि और अशुचि का तारतम्य लेकर ही उनको कहीं-कहीं पर एक जाति या अवर्ण कहा गया है। किन्तु शास्त्रों में अनेक जगह अन्त्यजों को भी शूद्रवर्ण में भी गिनाया है। कुछ लोगों का यह कहना है कि विजातीय संयोग से पैदा होने वाली यह जाति वर्ण के अन्दर नहीं आ सकती है। यदि इस न्याय से ही इस जाति को वर्ण न माना जाय तो कोई भी शूद्र जाति ऐसी नहीं है कि जो शास्त्रतः संकर सिद्ध न होती हो। अतः शास्त्रों में शूद्रवर्ण को ही दो विभागों में कर दिया है। उसमें अन्त्यज वह वर्ग है जिसकी गर्भ और शरीर सम्बन्धी अशुचि अधिक रहती है। इसी कारण इन्हें असच्छूद्र कहा गया है। किन्तु वृत्ति-निमित्तक सामाजिक कार्य को स्पष्ट करने के लिये ही कहीं-कहीं पर शास्त्रों में इनका वर्णांतरादि स्वतंत्र रूप से प्रतिपादन किया गया है किन्तु ये सब शूद्र वर्ण में ही हैं। इसीलिये शास्त्रकार सच्छूद्र और असच्छूद्र की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि जो शूद्र पञ्चयज्ञ करता हो, द्विजाति सेवा करता हो, वह सच्छूद्र है। इसके अतिरिक्त मनमानी करने वाला असच्छूद्र है।

द्विजशुश्रूषणपरः पाकयज्ञपरान्वितः।
सच्छूद्रं तं विजानीयादसच्छूद्रस्ततोऽन्यथा॥

तात्पर्य यह कि अन्त्यज भी शूद्र श्रेणी की ही एक जाति है। अतः उसे भी शूद्रों के तुल्य अनेक समान धार्मिक अधिकार कहे गए हैं। इस विचार को लेकर ही अनेक जगह अन्त्यजों के संस्कार भी कहे गए हैं। शार्ङ्गधर में आया है कि गर्भाधानादि पांच संस्कार अन्त्यजों को भी विहित हैं:—

"पञ्चैव मिश्रजातीनां संस्काराः कुलधर्मतः।"

इसी प्रकार अन्त्यज पर्यन्त सभी शूद्रों को ब्राह्मणादि वर्णों के समान ही अहिंसादि का उपदेश मनुस्मृति में दिया गया है:—

अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

अर्थात् अहिंसा, सत्य, चोरी न करना और पवित्रता ये धर्म ब्राह्मण से लेकर अन्त्यजपर्यन्त सभी के लिये हैं।

प्रकरणसामर्थ्यात्संकीर्णानामप्ययं धर्मो वेदितव्यः।

कुल्लू०।

आगे चल कर मनु ने पुनः यह कहा है कि जितने भी व्यभिचार-जन्य प्रतिलोम संकर हैं वे सब शूद्रों के सधर्मा हैं।

बातों का पूर्ण अधिकारी हो सकता है। अन्यथा चांडालादि विषयक समस्त माहात्म्य कथादि विधान निरर्थक हो जायँगे। ऐसी जगह अर्थवाद की कल्पना करने पर शिष्टों का यह वचन है कि भगवान् के नाम में जो मनुष्य अर्थवाद की सम्भावना करता है, वह नरक में गिरता है।

"अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः।
स पापिष्ठो मनुष्याणां निरये पतति स्फुटम् ॥"

इस पर भी अर्थवाद की आशंका की जाय तो कोई हेतु नहीं है कि सभी पौराणिक विधानों में अर्थवाद न माना जाय। क्योंकि तीर्थ, स्नान, व्रतादि सभी कृत्यों का महत्त्व उसी प्रकार वर्णित है जैसे चाण्डालादि के देवपूजन और दर्शनादि अधिकार की कथा। ऐसे विधानों का सब जगह यही अभिप्राय रहता है कि पहले मनुष्य में स्वाभाविक या नैमित्तिक चाहे कोई भी दोष क्यों न हो या समझा जाय किन्तु वह मनुष्य के पवित्राचरण, बाह्य-आभ्यन्तर शुद्धि और भगवद्भक्ति होने पर दूर हो जाता है। तात्पर्य यह कि मनुष्य चाहे स्वाभाविक या अस्वाभाविक चाहे किसी तरह के दूषण से युक्त क्यों न हो, यदि वह सत्कर्म और भगवद्भक्ति की ओर चलने लगता है तो उसके दूषण धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं। वह फिर अपने जातिकार्य और उसीमें रहते हुए भी दिन-दिन ऊँचा उठता जाता है। लोक में सम्मानित और आदरणीय होकर अन्त में परम पद को प्राप्त होता है। इन आशयों को लेकर ही भगवान् गीता में कहते हैं।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ॥

यही बात है कि भगवान् रामचन्द्र एक अन्त्यज जाति की बुढ़िया स्त्री शबरी के जीर्ण-शीर्ण कुटी में गये और उसके अर्घ, फल, फूलादि को ग्रहण किया। यही बात है कि जाजली जैसा तपस्वी ब्राह्मण एक बनिया (तुलाधार) के पास धर्मोपदेश सुनने गया और एक तपस्वी ब्राह्मण धर्मोपदेश लेने के लिये धर्मव्याध के पास गया।

ऐसी-ऐसी कथाओं, विधानों और माहात्म्यों का यही तात्पर्य रहता है कि मनुष्य पहले चाहे कैसा ही स्वाभाविक या नैमित्तिक दोषों से युक्त क्यों न हो, यदि वह मन्त्रदीक्षा, भक्तिभावना और सदाचार से सम्पन्न हो जाता है तो वह दोषनिर्मुक्त होकर सम्मान्य, आदरणीय और स्ववर्ग का सामाजिक

"तस्मिन्काले तु ये मर्त्याः पश्यन्ति पुरुषोत्तमम्।
बलभद्रं सुभद्रां च ते यान्ति पदमव्ययम्॥"

इसी तरह व्रत के बारे में देवीपुराण में आया है कि स्नान किए हुए और हर्ष चित्त वाले भक्तियुक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, अन्त्यजादि शूद्र, म्लेच्छ, स्त्री और जो कोई भी हो, वे सब व्रत के अधिकारी हैं। किन्तु वैश्य और शूद्र दो रात्रि से अधिक उपवास न करें।

"स्नातैः प्रमुदितैर्हृष्टैर्ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्नृभिः।
वैश्यैः शूद्रैर्भक्तियुक्तैर्म्लेच्छैरन्यैश्च मानवैः॥
स्त्रीभिश्च कुरुशार्दूल तद्विधानमिदं शृणु।
वैश्यशूद्रयोस्तु द्विरात्राधिकोपवासो न भवति॥"

यहाँ पर उपवास का निषेध महातप के विषय में समझना चाहिये, न कि सब व्रतों में। ईशानसंहिता का वचन है कि शिवरात्रि का व्रत सब पापों को नाश करने वाला है, उसका अधिकार ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सबको है।

शिवरात्रिव्रतं नाम सर्वपापप्रणाशनम्।
आचाण्डालमनुष्याणां भुक्तिमुक्ति प्रदायकम्॥

देवल का कथन है कि सभी वर्ण के मनुष्य व्रत, उपवास और शारीरिक कष्ट सहन (तप) से पाप-मुक्त हो जाते हैं।

"व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनैस्तथा।
वर्णाः सर्वे विमुच्यन्ते पातकेभ्यो न संशयः॥"

व्यासस्मृति का वचन है कि चतुर्थ वर्ण होने पर भी शूद्र में वर्णत्व होने के कारण वह धर्म का अधिकारी है—

"शूद्रो वर्णश्चतुर्थोऽपि वर्णत्वाद्धर्ममर्हति।"

यहाँ पर यह आशंका हो सकती है कि स्मृतिग्रन्थों में अन्त्यजों में से जिन्हें अस्पृश्य कहा गया है, वे कैसे देवदर्शनादि धर्म के अधिकारी हो सकते हैं?

श्रुति और शास्त्र के तात्पर्य के अनुसार इस आशंका पर पौराणिक विधानों के अनुसार यह समझ लेना उचित है कि कोई शूद्र जाति गर्भ, बीज और वृत्ति सम्बन्धी अशुचिता के कारण किसी अंश में कमी अस्पृश्य भी हो, तो जब वह सदुपदेश का पालन करे और पौराणिक मन्त्रों से दीक्षित हो जाय; अथवा उसमें उत्कृष्ट भक्ति जग जाय, सदाचार, अमेध्य भक्षण का त्याग, स्वकर्म में रत और स्नानादि से पवित्र जीवन बिताने लगे, तो वह "निषादस्थपति" न्याय से उपर्युक्त

अवान्तर जाति है। जैसे ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न ब्राह्मण कहा जाता है और वह कान्यकुब्ज आदि अवान्तर जाति का भी कहा जाता है। उसी प्रकार शूद्रा से उत्पन्न सन्तान शूद्र और अन्त्यजादि अवान्तर शूद्र जाति में उत्पन्न होने से अन्त्यज शूद्र कहा जा सकता है। अन्त्यजादि की गणना शूद्रों में न हो तो शास्त्रों में सच्छूद्र का यौगिकार्थ बोधक लक्षण कभी न किया होता, किन्तु ऐसा पारिभाषिक लक्षण किया होता कि गोपनापितादि अमुक जाति से अमुक जाति तक सच्छूद्र हैं और शेष असच्छूद्र हैं। किन्तु सब जगह सच्छूद्रका यौगिकार्थ सूचक लक्षण ही किया गया है। यही बात चारों वर्णों के अवान्तर माननीय वर्ग विशेष के लिये भी शास्त्रों में कही गई है। जैसे कि श्रोत्रिय ब्राह्मण या पंक्तिपावन ब्राह्मण नाम किसी कान्यकुब्जादि वर्ग विशेष के लिये नहीं कहा गया है किन्तु वेदज्ञों में श्रेष्ठ और वेदविहित कर्मों में संलग्न ब्राह्मण विशेष को ही श्रोत्रियादि शब्दों से कहा है। यह दूसरी बात है कि वैसे ब्राह्मण के कुल को एक श्रोत्रिय जाति मान लिया गया है।

इसी प्रकार शास्त्रों में सच्छूद्र का जो विस्तृत वर्णन मिलता है, वह किसी शूद्रान्तर्गत वर्ग विशेष के लिये नहीं कहा गया है। स्कन्दपुराण में सुन्दर वैज्ञानिक और शास्त्रीय ढंग से सच्छूद्रों का निरूपण किया गया है। इस विषय में स्कन्द के पूछने पर शिव जी बोले कि :—

धर्मोढा यस्य पत्नी स्यात्स सच्छूद्र उदाहृतः।
समान कुलरूपा च दशदोषविवर्जिता ॥
उद्वोढा वेदविधिना स सच्छूद्रः प्रकीर्तितः।
अक्लीवाऽव्यंगिनी शस्ता महारोगाद्यदूषिता ॥
अनिन्दिता शुभकला चक्षूरोगविवर्जिता।
बाधिर्यहीनाऽचपला कन्या मधुरभाषिणी ॥
दूषणैर्दशभिर्हीना वेदोक्तविधिना नरैः।
विवाहिता च सा पत्नी गृहिणी यस्य सर्वदा ॥
सच्छूद्रः स तु विज्ञेयो देवादीनां विभागकृत् ॥

ना० खं० २४१ अ०

सच्छूद्र वही है जिसकी पत्नी धर्म की मर्यादा और वेद मार्ग से विवाहिता हो, समानकुल और रूपवाली हो तथा सच्छूद्र वही है जिसकी पत्नी वेदोक्त रीति से विवाहिता हो और नपुंसकत्व, हीनांगता दस दोषों से रहित हो।

इनमें विवाहादि बहुत-सी मर्यादा की बातें अन्त्यजों में पूर्णरूप से भी विद्यमान हैं। शास्त्रों में अन्त्यजों की विभिन्न परिभाषा देखी जाती है। व्यासस्मृति में तो ग्वाले, नाऊ आदि को भी अन्त्यज कहा है।

साधारण धर्माधिकारी हो जाता है। इतना ही नहीं बल्कि उसकी बीज सम्बन्धी और शरीर सम्बन्धी अपवित्रता चली जाती है, जैसे कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजातियों की गर्भ और रजवीर्य दोष की अशुद्धि नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयनादि संस्कार से दूर हो जाती है तथा स्वाध्याय, मद्य-मांस त्याग का व्रत, होम, ज्योतिष्टोमादि यज्ञ, और पंचमहायज्ञों से शरीरस्थ आत्मा ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है। इस बात को मनु ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। मनु के द्वितीय अध्याय में आया है कि द्विजातियों को वैदिक कर्मों से गर्भाधानादि संस्कार करना चाहिये, क्योंकि वह इस लोक और परलोक में पाप क्षयकारी होता है।

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २।२६

यहां पर कुल्लूक लिखते हैं कि परलोक में यज्ञ सम्बन्धी फल (स्वर्ग) के साथ सम्बन्ध होता है, इस कारण संस्कार परलोक का पावन है। इस लोक में वे संस्कार के द्वारा वेदादि के अधिकारी हो जाते है :—

प्रेत्य परलोके संस्कृतस्य योगादि फल सम्बन्धात्, इह लोके च वेदाध्ययनाद्यधिकारात्"।

पुनः मनु कहते हैं :—

गार्भैर्होमैर्जातकर्म चौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ।
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।

अर्थात् गर्भाधान जातकर्मादि संस्कारों से द्विज लोगों का गर्भ और बीज सम्बन्धी पाप दूर हो जाते हैं। इस शुद्धि के बाद द्विज बालक अशुद्धि के कारण अब तक जिन स्वाध्यायादि कार्यों में अनधिकारी था अस्पृश्य था, उन स्वाध्यायादि कार्यों का अधिकारी हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध ब्राह्मणादि द्विज को आत्मा ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य हो जाती है।

बस इसी प्रकार अन्त्यजादि शूद्र भी पुराणादि विहित मंत्रदीक्षा, कथा, पुराणादि श्रवण, सदाचार और भक्ति-भावादि से सम्पन्न होकर उत्तम शूद्र हो सकते हैं और अनेक कार्यों के अधिकारी हो सकते हैं। इन सब बातों को लेकर ही पुराणों में अन्त्यजादि शूद्रों के लिये अनेक विधान देखे जाते हैं। वृत्ति की प्रधानता लेकर ही कहीं-कहीं पर अन्त्यजों का वर्णन शूद्रवर्ण से अलग देखा जाता है। इसी प्रकार कार्य उत्पत्ति क्रम की प्रधानता को लेकर ही शूद्रों में उत्तमादि भेद का विधान देखा जाता है। वस्तुतः अन्त्यज भी शूद्र वर्ण को ही

उत्तर में सूत जी बोले कि मेरी शक्ति ही क्या है जो मैं महाज्ञान कह सकूं। जो खुद नहीं जानता वह दूसरे से कैसे कह सकता है?

'स्वयमेव न यो वेत्ति स परस्य वदेत्कथम् ॥'

किन्तु अपने पिता के आदेश से मैं हाटकेश्वर तीर्थ में गया। वहां पर रखी हुई पादुकाओं की मैंने पूजा की। उसी से मुझे ज्ञान हो गया और जो कुछ भी मैंने पुराणों का उत्तम तत्त्व सुना है, वह सब और वर्तमान तथा भविष्य को मैं पादुका के प्रसाद से जानता हूँ। किन्तु मैं वेद का पढ़ना नहीं जानता कारण कि मैं सूत जाति का हूँ, मुझमें सूतत्व विद्यमान है। फिर भी वेद के सब अर्थ को मैं जानता हूँ।

तस्यादेशादहं तत्र गतः संवत्सरं स्थितः ।
पादुके पूजयामास ततो ज्ञानं च संस्थितम् ॥
यत्किञ्चिद्वा श्रुतं लोके पुराणाद्यं व्यवस्थितम् ।
वर्तमानं भविष्यच्च तदहं वेद्मि भो द्विजाः ॥
तत्प्रसादादसंदिग्धं प्रमाणं चात्र संस्थितम् ।
मुक्त्वैकं वेदपठनं सूतत्वं च यतो मयि ॥
तस्यापि वेद्मि सर्वार्थं भर्तृयज्ञो यथा मुनिः ।

नागर खंड १९४।५६-५९

यहाँ पर सूत जी ने अपनी स्थिति या जाति को स्वतः वर्णन किया है। इन सब विचारों को लेकर यही सिद्ध होता है कि अनुलोम संकरत्व या प्रतिलोम संकरत्व किसी जाति के अस्पृश्यता का हेतु नहीं है, बल्कि व्यभिचार के कारण ही किसी-किसी को कहीं-कहीं पर अस्पृश्य कहा गया है। मनु चाहते थे कि व्यभिचार फैलने न पावे। आज भी व्यभिचारजन्य सन्तान को हेय दृष्टि से देखा जाता है। सांकर्य को रोकने और लोकमर्यादा को स्थिर करने के लिए ही मनु को इस प्रकार के दण्ड का विधान करना पड़ा। यह बात मनु के दसवें अध्याय के संकर प्रकरण के अन्तिम भाग से सूचित होती है। किन्तु अब उन अन्त्यजों में अनन्त काल से विवाहादि मर्यादा बँध गई है और वे लोग शूद्र जाति का सेवादि मुख्य कर्म करते आ रहे हैं। इस पर उन्हें सदुपदेश, पुराण वार्ता, और मंत्रदीक्षादि दी जाय तो उन्हें भी उत्तम शूद्र की तरह आदरणीय और देव-दर्शनादि के अधिकारी मानना चाहिये। इस पर भी कुछ लोगों का यह कहना है कि मनु के निम्नलिखित वचनों के अनुसार

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥

अध्याय ४-८०।

इन बातों के विचार से यह सिद्ध होता है कि अन्त्यज शब्द अस्पृश्य का बोधक नहीं है किन्तु शूद्रों के वर्ग विशेष को अन्त्यज कहा है। उसमें भी कुछ स्मृतियों को छोड़कर शेष में अन्त्यज की गणना में विरोध है। यह भी नहीं है कि सभी प्रतिलोम शूद्र अन्त्यज कहे जाते हों; क्योंकि यम, अग्नि और अंगिराके मत से रजकादि सात जातियाँ ही अन्त्यज हैं :—

रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च।
कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते अन्त्यजाः स्मृताः॥

इन जातियों में अब एकाध को छोड़कर अन्य अस्पृश्य नहीं मानी जाती हैं। उदाहरण के लिये कैवर्त्त (मल्लाह) को कोई भी अस्पृश्य नहीं मानता है। किन्तु रजक जैसी एकाध जाति को कहीं-कहीं पर अंशतः अस्पृश्य मानते हैं। वह भाव भी धीरे-धीरे हट रहा है। मनुस्मृति में अन्त्यज की परिभाषा कहीं नहीं की है। दशवें अध्याय में केवल अन्त्यावसायी शब्द दिया है। उसमें भी दो-चार जातियों की गणना नहीं है, किन्तु निषाद की स्त्री में चाण्डाल से उत्पन्न को अन्त्यावसायी (डोम) कहा है। मनु के अनुसार अन्त्यज कोई परिगणित जाति नहीं है। संकर जाति का निरूपण करनेवाले दशवें अध्याय में अन्त्यज शब्द नहीं आया है। किन्तु कए सौ दसवें श्लोक में शूद्र का बोधक "अन्त्यजन्मा" शब्द आया है ("शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः")। इसी प्रकार यह भी विधान देखने में नहीं आता है कि जितने भी "प्रतिलोम" शूद्र हैं, वे सब अस्पृश्य हैं। नहीं तो सूत, मागध, वैदेह, प्रभृति प्रतिलोम शूद्रों को उत्तम शूद्र नहीं समझा जाता। सूत जाति में उत्पन्न होकर ही सूत जी ने ऋषियों को पुराण सुनाया था। यद्यपि कूर्मपुराण और अग्निपुराण में पुराण के वक्ता सूत जी ब्रह्मा के यज्ञ के पृषदाज्य से पैदा हुए थे, तथापि पुराणों में अनेक जगह यह भी वर्णन आता है कि वही सूतजी शूद्र जाति के थे। इस विषय में स्कन्दपुराण नागरखण्ड के १९४ अध्याय में आया है कि जब सूत जी ने ऋषियों से कहा कि दिन, रात, युग और ब्रह्मादि पद सभी अनित्य हैं। ब्रह्मादि पद से भी एक समय लौटना पड़ता है, किन्तु ब्रह्मज्ञान प्राप्ति ही नित्य वस्तु है। उसकी प्राप्ति के बाद पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता है।

"ब्रह्मज्ञानात्परं प्राप्य पुनर्जन्म न विद्यते।"

तब इस पर ऋषियों ने ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के बारे में सूतजी से पूछा कि किस प्रकार मनुष्यों को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है? यदि जानते हो तो हमसे कहो?

ब्रह्मज्ञानस्य सम्प्राप्तिर्मर्त्यानां जायते कथम्।
एतन्नः सर्वमाचक्ष्व यदि त्वं वेत्सि [illegible]॥

इसी प्रकार जहाँ पर यह कहा गया है कि "सर्व बहिष्कृतः" वहाँ पर भी यही अभिप्राय है कि अन्त्यज आदि अपने आचरण और धर्म में न हों तो ऐसे उन्मत्त, उद्दण्ड, उच्छृङ्खल और मर्यादा रहित को धर्म उपदेश न दे। किन्तु जो अपनी मर्यादा और आचार पर स्थिर है उसे स्मृति और पुराणादि विहित धर्मों का उपदेश अवश्य दे। अतएव अन्त्यजादि शूद्रों को लक्ष्य करके ही मनु कहते हैं कि यदि प्रतिलोम शूद्र निर्लोभ होकर शुद्ध भाव से गौ, ब्राह्मण, स्त्री और बालक में से किसी एक की रक्षा के लिये प्रण दे दे तो स्वर्ग प्राप्ति रूप सिद्धि को प्राप्त करता है।

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः।
स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥६२

फिर इस श्लोक के आगे ही मनु ने सबके लिए अहिंसादि का विधान किया है। इनसे स्पष्ट है कि अन्त्यजादि किसी के लिये भी साधारण रूप से धर्मोपदेश का निषेध नहीं है। जहाँ मनुने "न शूद्रे पातकं किञ्चित्" यह विधान दिया है, उसके आगे ही लिखा है कि जो धर्मज्ञ शूद्र धर्म की प्राप्ति चाहते हैं, वे आचारवान् लोगों का आचरण करते हुए वैदिक मन्त्ररहित किन्तु नमस्कारमन्त्रपूर्वक पंचयज्ञादि क्रिया का अनुष्ठान करते हैं तो उन्हें विघ्न नहीं आता है। इस लोक और परलोक में प्रशंसा पाते हैं :—

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।
मंत्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १०।१२७

कुछ लोग त्रिस्थली सेतु में दिये हुए—"यः शूद्रेणार्चितं लिङ्गं विष्णुं वा प्रणमेन्नरः। न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा प्रायश्चित्तायुतैरपि" इत्यादि नारदीय वचनों को लेकर कहा करते हैं कि शूद्र को पूजनादि का अधिकार ही नहीं है। इस पर भी बहुत कुछ समाधान पहले दे दिया है फिर भी :—

शूद्रः कर्माणि यो नित्यं स्वीयानि कुरुते प्रिये।
तस्याहमर्चां गृह्णामि चंद्रखण्ड विभूपिते॥
"चतुर्वर्णैस्तथा विष्णुः प्रतिष्ठाप्यः सुखार्थिभिः" स्कन्द।
देवीपुराण।

इत्यादि शतशः शूद्र-पूजा-विधायक वचनों के अनुसार यह संगति सिद्ध होती है कि शूद्रादि के द्वारा बिना मंत्र के प्रतिष्ठापित देव का पूजन नहीं करना चाहिये। कारण कि वह प्रतिमा वैदिक मंत्रों से प्रतिष्ठित नहीं रहती है। यहाँ पर यह विवक्षित नहीं है कि शूद्र द्विज से प्रतिष्ठित सार्वजनिक मूर्त्ति की पूजा न करे। इन सब तात्त्विक विचारों से यह स्पष्ट है कि शूद्रको द्विज सेवा के अतिरिक्त, श्राद्ध, देवपूजन, दर्शन, गर्भाधानादि द्वादश संस्कार, व्रत,

विप्र सेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥

अध्याय १०-१२३ ।

न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति ।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥ १२६॥

अर्थात् शूद्र को धर्म-व्रतादि का उपदेश नहीं देना चाहिये। सेवाकर्म ही उसका मुख्य धर्म है, इससे कर्म निष्फल हो जाता है। शूद्र को कोई पातक नहीं लगता, उसके लिये कोई सस्कार नहीं है, इसको धर्म का भी अधिकार नहीं है। "स्त्री शूद्र पतनानि षट्", "प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः", "सर्वधर्मवहिष्कृतः" इत्यादि स्मृत्यन्तर के वचनों और इसी प्रकार के पुराणों के वचनों के अनुसार शूद्रों को या अन्त्यजों को किसी प्रकार के धर्म का अधिकार नहीं है। किन्तु ऐसी आशका पर प्राचीन निबन्धकारों और व्याख्याकारों ने यही समाधान किया है कि शूद्रादि के लिये साधारणतः धर्ममात्र का निषेध नहीं है, किन्तु उसी धर्म या उपदेश का निषेध है जिसका सम्बन्ध वैदिक तथा स्मार्त विधानों से है जो कि केवल वेदमत्र पूर्वक उपनयन-सस्कारयुक्त द्विजों को प्राप्त है। यदि उसको धर्म मात्र का उपदेश वर्जित होता तो स्मृति और पुराणादि ग्रन्थों मे पचयज्ञ का विधान, विष्णुपूजन, शिवपूजन और द्वादश सस्कारादि का विधान शूद्र के लिये कभी न किया होता। ऊपर १२३ वें श्लोक में कुल्लूक ने लिखा है कि सेवाधर्म का ही उपदेश अन्य धर्म की निवृत्ति के लिये नहीं है। क्योंकि उसके लिये पाकयज्ञ भी कहे गये हैं। अतः "सेवैव" यह विधान सेवाधर्म की स्तुति के लिये है। फिर आगे "न शूद्रे पातक किञ्चित्" इस श्लोक पर कुल्लूक ने लिखा है। 'न पातकं किञ्चित्' का अभिप्राय यही है कि जिस लहसुन आदि के भक्षण में ब्राह्मणादि को पाप माना गया है, वह पातक शूद्र को नहीं लगता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ब्रह्महत्यादि पच महापातकों का दोष शूद्र को लगता ही नहीं। एव "न सस्कारमर्हति" इसका यही अभिप्राय है कि वैदिक मत्रपूर्वक होने वाले उपनयनादि सस्कार शूद्र के लिये नहीं होते। "नास्याधिकारोऽधर्मेऽस्ति" इत्यादि वाक्यों का यही अभिप्राय है कि अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म का उसको अधिकार नहीं है।

पूर्वस्तुत्यर्थं न त्वन्यनिवृत्तये ।
"पाकयज्ञादीनामपि तस्य विहितत्वात् ।"

लशुनादि भक्षणेन शूद्रे न किंचित्पातकं भवति। न तु ब्रह्मवधादावपि। "अहिंसा सत्यम्" इत्यादेश्चातुर्वर्ण्य साधारणत्वेन विहितत्वात्। न चाप्युपनयनादि संस्कारमर्हति। नास्याग्निहोत्रादि धर्मेऽधिकारोऽस्ति।

ऐसे भगवान् को नमस्कार है। यह सब अन्त्यजादि असंस्कृतजनों को भगव भक्त्या शुद्ध करने के लिये ही कहा गया है। यदि उनके लिये भी हम भगवा का दर्शन रोक दें तो परमात्मा जाने हमें कहाँ स्थान मिलेगा? इस प्रका उत्तम और संस्कृत शूद्र के लिये बड़ा ही सुन्दर प्रकरण स्कन्दपुराण में देख जाता है।

शिवजी कहते हैं:—

भार्यारतिः शुचिश्चैव भृत्यपोषणतत्परः।
श्राद्धादिकारको नित्यमिष्टापूर्तप्रसाधकः॥
नमस्कारान्त मन्त्रेण नामसंकीर्तनेन च।
देवास्तस्य च तुष्यन्ति पञ्चयज्ञादिकैः शुभैः॥
स्नानं च तर्पणं चैव वह्नि होमोऽप्यमन्त्रकः।
ब्रह्मयज्ञोऽतिथेः पूजा पंचयज्ञान्न संत्यजेत्।
कार्यं स्त्रीभिश्च शूद्रैश्च ह्यमंत्रं पंचयज्ञकम्॥

नागरखं० २४१।

शूद्र को अपनी भार्या में प्रेम, शुद्धि, नौकरों का पोषण, नित्यश्राद्ध-क्रिया, अग्निहोत्रादि रूप इष्ट क्रिया करना, पंचयज्ञ, स्नान, तर्पण, अग्नि में मंत्र रहित होम, ब्रह्मयज्ञ और स्त्री के साथ अतिथि-पूजा करनी चाहिये। आगे इसी अध्याय में अन्त्यज जाति का धर्म इस प्रकार विशेष रूप से आया है।

तासां ब्राह्मणशुश्रूषा विष्णुध्यानं शिवार्चनम्।
अमंत्रात्पुण्यकरणं दानं देयं च वै सदा॥
न दानस्य क्षयो लोके श्रद्धया यत्प्रदीयते॥
अहिंसादिः समादिष्टो धर्मस्तासां महाफलः॥

यहाँ पर पहले शिल्पी, नर्तक, रजकादि अट्ठारह जातियाँ प्रकृति नाम (अष्टादशमितानीचाःप्रकृतीनाम्) से कही गई हैं इस कारण 'तासां' शब्द उसी प्रकृति के लिए आया है। अतः शिल्पी, रजक, नर्तक, चाण्डाल, वर्धकि, मत्स्यघाती प्रभृति जातियों को ब्राह्मण की सेवा, विष्णु का ध्यान, मंत्ररहित शिवार्चन, तीर्थस्थानादि पुण्यकर्म और दानकर्म करना चाहिये। क्योंकि श्रद्धा से दुष्ट दान का क्षय कभी नहीं होता है। इस प्रकृति जाति के लिये अहिंसादि धर्म का भी उपदेश दिया गया है।

पुनः इसी अध्याय में आया है—(गृहस्थ शूद्र का लक्षण)

एतान्येव ह्यमन्त्राणि शूद्रः कारयते सदा।
नित्यं षड् दैवतं श्राद्धं हन्तकारोऽमितर्पणम्॥

उपवास, तीर्थ-यात्रा, पौराणिक मंत्र-जप, मालाधारण, स्तुति, दया, दान और अहिंसादि अनेक धर्म का पूर्ण अधिकार है।

महाभारत में कहा है—

श्राद्धकर्मनयश्चैव सत्यमक्रोध एव च।
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता॥
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप।

श्राद्ध, न्याय, सत्य, क्रोध, स्वदार-सन्तोष, शौच, अनसूया, आत्मज्ञान, सहनशक्ति—यह शूद्रपर्यन्त सभी मनुष्यों का धर्म है। हेमाद्रि में विष्णुका वचन है कि क्षमा, शौच, दम, दान, इन्द्रिय-संयम, सत्य, अहिंसा, गुरुसेवा, तीर्थयात्रा, दया, नम्रता, अलोभ, देव और ब्राह्मण का पूजन तथा डाह न करना—ये सामान्य धर्म हैं; अर्थात् ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज पर्यन्त के ये सब धर्म हैं।

क्षमा शौचं दमो दानंसत्यमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुशरणं दया॥
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते॥

पुराणों में तो अन्त्यजपर्यन्त शूद्रों के लिये अत्यन्त स्पष्ट और मनोहर रूप में विधि और विधान दिए गए हैं। क्यों न हो, पुराणों के निर्माण का विशेष उद्देश्य ही इन दीन भाइयों को उठाने के लिए हुआ है। भविष्य में लिखा है—

धर्मशास्त्राणि राजेन्द्र शृणुतानि नृपोत्तम।
विशेषतस्तु शूद्राणां पावनानि मनीषिभिः॥
अष्टादशपुराणानि चरितं राघवस्य च।
रामस्य कुरु शार्दूल धर्मकामार्थसिद्धये॥
तथोक्तं भारतं वीर पाराशर्येण धीमता।
वेदार्थं सकलं योज्यं धर्मशास्त्राणि च प्रभो॥

कि विशेषतया शूद्रों के धर्म, अर्थादि की प्राप्ति के लिये व्यास जी ने वेद और धर्मशास्त्र का सार भर कर पुराण और भारत को बनाया।

अतएव भागवत द्वितीय स्कन्द के चतुर्थ अध्याय के १८ वें श्लोक में कहा गया है कि जिस भगवान् के भक्तों के आश्रय पर रहने से ही किरात, हूणादि जाति और भी जो कोई पतित से पतित क्यों न हो शुद्ध हो जाते हैं

तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे ।
नगर ग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति ॥

बृहस्पतिः ।

इसी प्रकार शातातप का भी वचन मिलता है :—

"ग्रामे तु यत्र संसृष्टिर्यात्रायां कलहादिषु ।
ग्रामसंदूषणे चैव स्पृष्टिदोषो न विद्यते ॥"

केवल विधान ही नहीं किन्तु ऋषि लोगों ने इस तरह के नियमों का पूर्ण पालन भी किया था ।

स्कन्दपुराण नागरखण्ड के सरसठवें अध्याय में यह वर्णन आया है कि परशुराम ने सहस्रार्जुन पर इन अन्त्यजों की सुसज्जित सेना से ही चढ़ाई की थी :—

आशौचांतमासाद्य रामः क्रोधसमन्वितः ।
तीक्ष्णं परशुमादाय माहिष्मत्युन्मुखं ययौ ।
सर्वैस्तैः शबरैः सार्धं पुलिन्दैर्मेदकै स्तथा ।
बद्ध गोधांगुलित्राणैर्वरबाण धनुर्धरैः ।
ततस्तु संमुखो दृष्टो युद्धार्थं स विनिर्ययौ ।
सार्धं नाना विधैर्योधैः सर्व देवासुरोपमैः ॥
अथाभवन्महायुद्धं पुलिन्दानां द्विजोत्तमाः ॥
हैहयाधिपते र्योधैः सार्धं चैव सुरोपमैः ।
ततस्ते हैहयाः सर्वे शरैराशीविषोपमैः ।
बध्यन्ते शबरैः संख्ये गर्जमानैर्मुहुर्मुहुः ॥

फिर अशौच से मुक्त होकर तीक्ष्ण परशु और पुलिन्द, मेदक भिल्लादि की सुसज्जित सेना लेकर परशुराम जी सहस्रार्जुन से लड़ने गये। उस लड़ाई में वीर शबरों ने सहस्रार्जुन की सेना को परास्त कर सैनिकों को बांध लिया था। फिर इसके आगे के अध्याय में भी आया है कि पुनः जब क्षत्रियों ने उपद्रव मचाया तो फिर भी पुलिन्द, शबर, मेदकादि अन्त्यजों की सेना लेकर परशुराम युद्ध के लिये निकल पड़े ।

ततो रामः क्रुधाविष्टो भूयस्तैः शबरैः सह ।
पुलिन्दैर्मेदकैश्चैव क्षत्रियांताय निर्ययौ ॥

ना० खं० अ० ६९ ।

देव द्विजाति भक्तिश्च नमस्कारेण सिद्ध्यति ।
शूद्रोऽपि प्रातरुत्थाय कृत्वा पादाभिवंदनम् ।
विष्णुभक्तिमयांश्लोकान्पठन्विष्णुत्वमाप्नुयात् ।
वार्षिकव्रतकृन्नित्यं तिथिवाराधिदैवतः ।
अन्नदः सर्वजीवानां गृहस्थः शूद्र ईरितः ।
आमंत्राण्यपि कर्माणि कुर्वन्नेव हि मुच्यते ।
चातुर्मास्यव्रतकरः शूद्रोऽपि हरितां व्रजेत् ।

शूद्र नित्य पद्दैवत श्राद्ध और हन्तकारपूर्वक अग्निपूजन विना मंत्र के करे, देव-द्विज को नमस्कार और उनमें भक्ति करे। प्रातःकाल उठकर देवादि का पादाभिवंदन करके विष्णुभक्ति के श्लोकों को पढ़ने से विष्णुत्व को प्राप्त होता है।

साल में होने वाले व्रत करनेवाला, तिथि, वार और देवता के बारे में विचार रखकर चलनेवाला और जीवों को अन्न देनेवाला शूद्र गृहस्थशूद्र कहा जाता है।

अमंत्रपूर्वक कर्म करता हुआ भी शूद्र मुक्त हो जाता है और चातुर्मास्य व्रत करने वाला शूद्र भी हरिभाव को पहुँचता है।

इस प्रकार स्मृति, पुराण, भारतादि इतिहास ग्रन्थों में उदारता के साथ बहुत से सामाजिक विधान और कथाएँ हैं जिनका अधिकार द्विजाति की तरह अन्त्यजादि शूद्र भाइयों को भी है। इस पर भी आत्मबल की कमजोरी के कारण आजकल बहुत सी बातों में उन्हें अनधिकारी समझकर रथयात्रा जैसे कई एक "देवोत्सवों" में परस्पर विवाद और द्वेषमय झगड़ा चल जाता है। किन्तु ऋषियों का हृदय उदार था। उन्होंने रथयात्रादि जैसे देवोत्सवों में शामिल होने का अधिकार उन्हें भी दे रखा है। वे भी द्विजातियों की तरह सनातनधर्मी हैं। उनके सर्वसाधारण सामाजिक कार्यों में प्रवेश करने में संकोच नहीं करना चाहिए। ऐसे अवसर के लिए ही तो शास्त्रों का कथन है कि यदि कोई अपने सधर्मा भाई को हर समय अस्पृश्य समझता हो तो उसके लिये यह समझ लेना उचित है कि देवयात्रा, विवाह, यज्ञप्रकरण और समस्त उत्सवों में स्पर्शास्पर्श नहीं रहता है:—

"देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टं न विद्यते ।।"

अत्रि, २४६ ।

इसी प्रकार बृहस्पति का वचन है कि तीर्थ, विवाह, यात्रा, संग्राम, देशविप्लव, नगर और ग्रामदाह के समय छुआछूत से कुछ भी दोष नहीं होता है।

इसके बाद आया है कि रथयात्रा में द्विजादि लोग स्तोत्र-पाठ करते हुए जाते हैं और सूतमागध प्रभृति लोग कृष्ण की कीर्त्ति गाते हुए जाते हैं।

"सूतमागधमुख्याश्च कीर्तिं कार्ष्णीं मुदा जगुः"

पुनः आया है कि रथयात्रा के समय जो लोग भगवान् को प्रणाम करते हैं, वे मुक्त होते हैं; और जो लोग पीछे-पीछे चलते हैं वे देवता के समान शरीर-वाले होते हैं; और जो लोग जय शब्द करते नाचते और गाते हुए जाते हैं, वे लोग उत्तम वैष्णवों के संसर्ग के कारण मुक्त हो जाते हैं:—

ये प्रणामं प्रकुर्वन्ति तेऽपि मोक्षमवाप्नुयुः।
अनुगच्छन्ति ये कृष्णं ते देवतुल्यविग्रहाः॥
ते वै जयन्ति पापानि जयशब्दैः स्तुवन्ति ये।
नर्त्तनं कुर्वते चापि गायन्त्यथ नरोत्तमाः।
वैष्णवोत्तमसंसर्गान्मुक्तिं प्राप्नोत्यसंशयम्॥

ये सब स्पष्ट वाक्य हैं। इनमें संकोच करने का कोई कारण नहीं है। अतः इन वचनों के अनुसार कम-से-कम साधारण रीति से अन्त्यजादि सभी जाति के सनातनधर्मियों को रथयात्रादि जैसे साधारण देवोत्सवों में शामिल होने का अधिकार शास्त्र से प्राप्त है।

अन्त्यजों का विद्याधिकार

विद्या के बिना किसी देश या जाति की उन्नति असम्भव है। अन्त्यजों में जो कुछ भी त्रुटि समझी जाती है उसका सबसे प्रबल कारण उनमें विद्या-प्रचार की कमी है। शास्त्रों में विद्या के अनेक भेद हैं। परन्तु यहाँ पर विद्या का अभिप्राय लिपिबोध द्वारा स्कूल में शिक्षा ग्रहण करना है। इसका भी अधिकार अन्त्यज भाइयों को पूर्णतया प्राप्त है। दुःख है कि अभीतक इस बात का विशेष प्रबन्ध नहीं हो सका। समाज में धर्म की विपरीत भावना ने ऐसा कुप्रभाव जमा रखा है कि कुछ लोगों ने इन भाइयों के स्कूल में पढ़ने का विरोध किया है। और फलस्वरूप अन्त्यज भाइयों को कष्ट सहन करना पड़ा। इसके लिये मुझे बड़ा सन्ताप है। धार्मिक भावना को लेकर जिनकी यह धारणा है कि अन्त्य-जादि जाति को पढ़ाना उचित नहीं है उनको शास्त्रीय सिद्धान्तों का स्मरण करा देना अन्त्यजों की शिक्षा में उपकारी होगा। इस पर पद्मपुराण और देवीपुराण के विद्यादान के प्रकरण में सर्वोत्तम विस्तृत वर्णन मिलता है। उनमें से परम सारभूत और सर्वोपकारी कुछ वचन ये हैं:—

विद्यादानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।
येन दत्तेन चाप्नोति शिवं परम कारणम्।

इतना ही नहीं बल्कि जब वशिष्ठ जी और विश्वामित्र जी में घोर युद्ध हुआ तो वशिष्ठ जी की ओर से शबरादि अन्त्यजों ने बड़ी वीरता के साथ लड़ाई में विजय पाई :—

तस्य हुंकार शब्दैश्च निष्क्रान्ताः सायुधा नराः ।
शबराश्च पुलिंदाश्च म्लेच्छाः संख्याविवर्जिताः ॥
तैश्च भृत्या हताः सर्वे विश्वामित्रस्य भूपतेः ।

ना० सं० अ० १६७।

अर्थात् गाय के चीत्कार को सुनकर वशिष्ठ की तरफ से असंख्य शबर, पुलिंदादि लड़ाई के लिये निकल पड़े और उन लोगों ने विश्वामित्र जी की सेना का नाश कर दिया। यहाँ यह ध्यान रहे कि जिन पुलिन्द, शबर, मेद प्रभृति जातियों को लेकर परशुरामादि वीरों ने लड़ाई लड़ी थी वे सब चाण्डाल जाति के ही भेद माने जाते हैं।

चण्डालप्लव मातङ्ग दिवाकीर्ति जनङ्गमाः ।
निषाद श्वपचावन्तेवासि चाण्डाल पुक्कसाः ॥

अर्थात् प्लव, मातंगादि चाण्डाल कहे जाते हैं। इसी के बाद फिर आया है कि किरात, शबर, पुलिन्द—ये तीन मलिन जातियाँ भी चाण्डाल के ही भेद हैं:—

"भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः ।"

अम० शूद्रवर्ग १९-२०।

अब यहाँ पर यह विचारना चाहिये कि यदि उस अवसर पर इन्हें अस्पृश्य माना जाता तो कैसे सम्भव था कि वे लोग परशुरामादि का साथ देते या स्पर्श-दोष को मानकर भी सेना का संचालन कर लेते, एवं पुलिन्दादि से क्षत्रिय लोग लड़ने आते—इत्यादि। इसी प्रकार रथयात्रादि जैसे देवोत्सवों में भी अन्त्यजादि सनातनधर्मी शूद्र भाइयों के शामिल होने में कोई दोष नहीं समझा गया है। रथयात्रा के विषय को लेकर ही पद्मपुराण में आया है :—

रथस्थितं व्रजन्तं तं महादेवी महोत्सवे ।
ये पश्यन्ति मुदा भक्त्या वासस्तेषां हरेः पदे ॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं प्रतिज्ञातं द्विजोत्तमाः ।
नातः श्रेयः पदो विष्णोत्सवः शास्त्रेषु सम्मतः ॥
महादेवीं व्रजन्तं तं रथस्थं पुरुषोत्तमम् ।
बलभद्रं सुभद्रां च दृष्ट्वा मुक्तिर्न चान्यथा ॥

अर्थात् रथ में बैठे हुए पुरुषोत्तम भगवान् और बलभद्र, सुभद्रादि देवियों को जो पुरुष देखता है, वह विष्णु लोकवासी होता है और मुक्त हो जाता है।

उसके सिवा और कोई प्रबल शरण नहीं है। व्यास जी की दृष्टि में जैसे द्विजाति थे उससे भी बढ़ कर असमर्थ दीन अन्त्यजादि शूद्र भाई थे। उनको शायद इनसे भी इन भाइयों की रक्षा की अधिक चिन्ता थी। इसी कारण उन्होंने तीर्थ-माहात्म्य और देवदर्शनादि कार्य में किसी-न-किसी प्रकार अन्त्यज भाई को भी शामिल कर रखा है। बस, उनकी इस सूक्ष्म दृष्टि को पहचानना ही सनातनधर्मियों के लिये परम कल्याणकारी होगा। अन्त में, व्यासजी की इस अमृत वाणी को स्मरण कर इस विषय को यहीं समाप्त करता हूँ।

येन येन प्रकारेण परेषामुपजीवनम्।
भविष्यति च तत्कार्यं धीमता पुरुषेण हि ॥
स्त्रियापि चैवं तत्कार्यं परोपकरणान्वितम्।
यदुक्तं करुणासारैः सारं किं तदिहोच्यताम्।
धर्मार्थी मनुजो यश्च न स वार्यो महात्मभिः ॥

स्कन्द पु०।

श्री विश्वनाथः प्रसीदतु ॥

विद्या च श्रूयते लोके सर्वधर्म्मप्रदायिका।
तस्माद्विद्या सदा देया पंडितैर्धार्मिकैर्द्विजैः।

पद्मोत्तर खं० ११७ अ०।

अर्थात् विद्यादान से बढकर परम दान न तो हुआ है और न होगा। विद्यादान से परम कल्याणस्वरूप शिव जी की प्राप्ति होती है। विद्या सब धर्म को देनेवाली कही जाती है। इस कारण धार्मिक द्विज पण्डितों को उचित है कि वे सदा विद्यादान दें।

इसी प्रकार देवीपुराण में आया है कि विद्या कुलकी, जातिकी, रूपकी और पुरुष सम्बन्धी पात्रता की परवाह नहीं करती है। किन्तु जो कोई भी पढ़े, विद्या उसका उपकार ही करती है।

न हि विद्या कुलं जातिरूपं पौरुपपात्रताम्।
वशते सर्वलोकानां पठिता उपकारिका॥

यहीं पर यह श्लोक बड़े गौरव का है :—

अन्त्यजा अपि यां प्राप्य क्रीडन्ते ग्रहराक्षसैः।
सा विद्या केन मीयेत यस्याः कोऽन्यः समोऽपि न॥

अर्थात् जिस विद्याके प्रभाव से या विद्या को पढ़कर अन्त्यज भी चन्द्र सूर्यादि ग्रह और पराक्रमशील राक्षसों के साथ खेला करते हैं, और जिसके बराबर इस संसार में और कोई भी नहीं है, उस विद्या की उपमा किससे हो सकती है।

इस प्रकार शिक्षा देने के विषय में शिवधर्म में आया है।

संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैः शिष्यं चैवानुरूपतः।
देशभाषाद्युपायैश्च बोधतेद् स गुरुः स्मृतः॥

अर्थात् गुरु वही है जो कि संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा के द्वारा चाहे किसी प्रकार से भी शिष्य को बोध करा दे। बस, इस विषय में इतना ही दिखाना सर्व सन्तोषजनक होगा।

इस पर उदारता के साथ शुद्ध हृदय से मनन करने की आवश्यकता है कि 'सर्वभूतहितेरत' ऋषियों का आशय सदा उदार और सर्व उपकारी रहा। उन्होंने सब जातियों की भलाई और सब समय के लिए उपयोगी विधान अपने अक्षय धर्म ग्रन्थों में रख दिए हैं। उस पर भगवान् व्यास से जितना हो सकता था उतना अगाध धार्मिक साहित्य हमारे लिये रख छोड़ा है। आज हिन्दू-जाति जीवित है तो व्यास जी की दी हुई धार्मिक अमृत संजीवनी बूटी से। आगे भी यदि हमें धर्म-पूर्वक जीवित रहना है तो व्यास जी के ही वचनामृत पीकर जीवित रह सकते हैं।

करना शास्त्रानुकूल है, इसलिये कि ब्राह्मणमात्र परस्पर एक ही वर्ण हैं और शास्त्र में सवर्ण विवाह की ही प्रशंसा है। हां, भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विवाह-संबंध परस्पर उन्हीं में होना चाहिए जो परम्परा से ब्राह्मण माने गए हैं और स्वजाति में व्यवहृत हों और कुलाचार के अनुकूल हों।

गौड़-ब्राह्मण-महासभा ने यह निश्चय कर दिया है कि गौड़ों का विवाह-संबंध अन्य पंच गौड़ों के साथ अर्थात् सारस्वत, कान्यकुब्ज, मैथिल और उत्कल के साथ हो; किन्तु सवर्ण-विवाह की प्रथा को प्रचलित करने के लिये यह आवश्यक है कि इस विषय में शास्त्र का क्या उपदेश है, इसका ज्ञान सब श्रेणी के ब्राह्मणों में फैलाया जाय और जो इस प्रथा के चलाने में कठिनाइयाँ हों, उनको दूर करने का उपाय सोचा जाय। विवाह का क्षेत्र संकुचित होने के कारण बहुत से ब्राह्मणों को विवाह के विषय में बड़े संकटों का सामना करना पड़ता है और कितनी जगह धर्म के विरुद्ध, न केवल सगोत्र और सपिंड में विवाह होने लगा है, किन्तु असवर्ण-विवाह की संख्या भी दिन-दिन बढ़ रही है। इसी प्रकार के संकटों को दूर करने के लिये विद्वानों ने सवर्ण-विवाह की व्यवस्था दी है।

"पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णास्पदिश्यते" मनुः।

विवाह-संस्कार सवर्णों में ही हो।

युगान्तर में अनुलोम विवाह भी (ब्राह्मण की क्षत्रियादि के साथ और क्षत्रिय का वैश्यादि के साथ) शास्त्र-सम्मत माना जाता था। किन्तु ऋषियों ने असवर्ण विवाह के दोषों को विचारकर कलियुग में उसे वर्जित कर दिया है तथा कुल, शील और आचारादिके अनुसन्धानपूर्वक सवर्ण विवाहका ही क्रम स्थिर रक्खा।

मध्यकाल में देश के ऊपर नैतिक, धार्मिक और सामाजिक अनेक प्रकार की आपत्तियों के आजाने तथा चिरकाल तक देश-देशान्तर में आने-जाने की असुविधा के कारण लोग अपने ही प्रान्तों में अपनी ही श्रेणी में समानाचार-विचार वालों के साथ ही प्रायः विवाह-सम्बन्ध करने लगे। धीरे-धीरे यही प्रथा समाज में प्रचलित हो गई। कुछ लोग इसीको धर्म मानने लगे और विभिन्न श्रेणियों में विवाह निषिद्ध समझा जाने लगा।

यद्यपि प्रचलित समश्रेणी का विवाह शास्त्र-विरुद्ध नहीं है तथापि इस नियम के कारण कुछ श्रेणियों की सीमा इतनी संकुचित हो गई है कि विवश होकर उन्हें सगोत्र और सपिण्ड में भी विवाह करना पड़ रहा है। इस नियम के कारण कहीं-कहीं मातुल-कन्या परिणय एवं असवर्ण-विवाह की प्रवृत्ति चल पड़ी है जो कि सर्वथा धर्म-विरुद्ध है।

सवर्ण विवाह की व्यवस्था

संसार में भारतवर्ष ही एक ऐसा पुण्य देश है जहाँ चारों पदार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उत्तम साधन चार वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास चारों आश्रमों का क्रम स्थापित है। इन चारों वर्णों में ब्राह्मणों की संख्या सबसे अधिक है। किन्तु ब्राह्मणमात्र का वर्ण एक ही होने पर भी देश के विभागों से ये भिन्न-भिन्न नाम से पुकारे जाते हैं।

इनमें दस नाम प्रधान हैं :—

सारस्वताः कान्यकुब्जा गौड मैथिलकोत्कलाः।
पंचगौडा इति ख्याता विन्ध्यस्योत्तरवासिनः॥

स्क० पु०।

अर्थात् जो ब्राह्मण पंजाब में सरस्वती नदी के तट पर बसनेवाले थे वे सारस्वत नामसे पुकारे जाने लगे, इसी प्रकार से कान्यकुब्ज प्रदेश में बसनेवाले ब्राह्मण कान्यकुब्ज कहे जाने लगे, गौड़देश के ब्राह्मण गौड़, मिथिला के ब्राह्मण मैथिल और उत्कल (उड़ीसा) प्रान्त में बसनेवाले ब्राह्मण उत्कल नाम से पुकारे जाने लगे। इसी प्रकार :—

कर्णाटाश्चैव तैलङ्गा गुर्जरा राष्ट्रवासिनः।
आन्ध्राश्च द्राविड़ाः पंच विन्ध्यदक्षिणवासिनः॥

स्क० पु०।

कर्णाटक देश में बसनेवाले तेलंग कहे जाने लगे और गुर्जर प्रान्त में बसनेवाले गुर्जर, महाराष्ट्र में बसनेवाले महाराष्ट्र और द्रविड़ देश में बसनेवाले ब्राह्मण द्राविड़ नाम से प्रसिद्ध हुए।

इन दस नामों के अतिरिक्त और कितने नाम ब्राह्मणों की श्रेणियों के हैं। इनकी संख्या भी बहुत है और प्रतिष्ठा भी अधिक है।

पहले भिन्न-भिन्न श्रेणी के ब्राह्मणों में परस्पर विवाह-संबंध होता था और अब भी कहीं-कहीं होता है, जहां कि प्रान्तों की सन्धियां हैं। किन्तु सामान्य रीति से यह प्रणाली चल गई है कि जो जिस देश के ब्राह्मण हैं, वे उसी देश के ब्राह्मणों के साथ विवाह-संबंध करते हैं। अब यह रूढ़ि सी हो गई है किन्तु जैसा कि शास्त्रियों की व्यवस्था से स्पष्ट है, यह रूढ़ि शास्त्र-मूलक नहीं है। एक श्रेणी या प्रान्त के ब्राह्मण को दूसरी श्रेणी या प्रान्त के ब्राह्मण के साथ विवाह-संबंध

सवर्ण विवाह के सम्बन्ध में विचार

'उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णा लक्षणान्विताम् ।'

"सारे देश के ब्राह्मण-ब्राह्मण का, क्षत्रिय-क्षत्रिय का एवं वैश्य-वैश्य का विवाह शास्त्रमर्यादा के अनुकूल हो सकता है या प्रतिकूल", इस विचार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि स्मृतिमात्र में सवर्ण विवाह ही प्रशस्त माना गया है, जैसे कि स्मृति-चन्द्रिका के संस्कारकांड के कन्या-लक्षण प्रकरण में आया है कि सवर्ण ही कन्या लेनी चाहिए—"सा च सवर्णा ग्राह्या" एवं व्यास ने भी कहा है कि समावर्तन-सम्बन्धी स्नानोत्तर ही लक्षणयुक्त सवर्णा कन्या से विवाह करे।

"स्नात्वा समुद्वहेत्कन्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।"

मनु ने भी कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिये विवाह कार्य में सवर्णा प्रशस्ता होती है :—

'सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।'

मिताक्षरा में आचाराध्याय के विवाह प्रस्ताव में भी आया है कि ब्राह्मण कन्या के लिये सवर्ण श्रोत्रिय वर होना चाहिए। इस वचन में मुख्यतः सवर्ण को ही दिखाया गया है :—

सवर्णः श्रोत्रियो वरः।—या० व० १।५५ वहीं पर यह भी कहा गया है कि सब में प्रधानतः सवर्णा ही उचित होती है :—

"सवर्णा पुनः सर्वेषां मुख्या स्थितैव ।"

इति च वर्णितम् । "सवर्णाग्रे द्विजातीनाम् ।।"

इस मनु-वचन के व्याख्यान में मेधातिथि ने सवर्ण का अर्थ समानजातीय कहा है ("सवर्णा समानजातीयेति")। यहाँ पर साजात्य ब्राह्मणत्वादि रूप से ही लिया गया है न कि अन्य रूप से। क्योंकि शास्त्रों में अन्य जाति का वर्णन (अर्थात् ब्राह्मणाद्यन्तर्गतकान्यकुब्जत्वादि) दैशिक भेद के अतिरिक्त रूप में कहीं भी नहीं मिलता। यहाँ पर कुल्लूक ने भी ब्राह्मणादिक के प्रथम विवाह करने में सवर्णा को ही श्रेष्ठ माना है :—

"ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां प्रथमे विवाहे कर्तव्ये सवर्णा श्रेष्ठा भवतीति ।"

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य के आचाराध्याय के सत्तावनवें श्लोक में अपरार्क ने सवर्णा को ही मुख्य रूप से मानकर अपना आशय प्रकट किया है :—

"सवर्णा पुनश्चतुर्थी मुख्या स्थितैवेति ।"

विद्वानों की सम्मति के लिये पूज्य मालवीयजी द्वारा प्रकाशित "धर्मपरिषत् स्थापन प्रयत्न" का द्वितीय निबन्ध

इन अनर्थों को दूर करने के लिये बहुत दिनों से सनातनधर्मी कतिपय उदात्त आत्माओं के भीतर यह विचारधारा चल रही है कि ब्राह्मणादि द्विजातियों का अपने ही वर्ण के भीतर श्रेण्यन्तर के साथ विवाह-सम्बन्ध शास्त्र-सम्मत है या नहीं ? इस विषय पर काशी तथा अन्यत्र के शास्त्रज्ञ विद्वानों से परामर्श करने पर यह निष्कर्ष निकला कि अवान्तर श्रेणियों का परस्पर विवाह-सम्बन्ध सर्वथा शास्त्र-सम्मत है ।

. गौड-महासभा तथा वङ्गीय-ब्राह्मण सम्मेलनने भी पंचगौड़ों के परस्पर विवाह का प्रस्ताव स्वीकार किया है ।

कुछ लोगों ने स्कन्दपुराण के परिशिष्टकल्प-सह्याद्रिखण्ड और अप्रचलित तथा अप्रसिद्ध किसी एक निबन्ध के कतिपय वाक्यों के आधार पर शास्त्र-सम्मत और प्रामाणिक ऐसे प्रकृत विषय पर भी विरोध प्रकट करने का प्रयत्न किया है, किन्तु बौधायन पर्यन्त प्रचलित और समुपलब्ध इकतीस स्मृति ग्रन्थों में तथा हेमाद्रि आदि प्राचीन निबन्ध ग्रन्थों में श्रेण्यन्तर विवाह के विरुद्ध एक भी वचन उपलब्ध नहीं प्रत्युत हेमाद्रि जैसे प्राचीन और सर्वमान्य धर्मग्रन्थ में श्राद्ध-सम्बन्धी ब्राह्मणों के विचार के प्रसङ्ग में इस विषय की व्यवस्था भी स्पष्ट प्रतिपादित है ।

सर्व साधारण के सन्देह को दूर करने के लिये शास्त्रानुमोदित सवर्ण-विवाह की व्यवस्था और हेमाद्रि की व्यवस्था मान्य होनी चाहिए ।

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः ॥ इति ।

मनुरपि :—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञः स्युः ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ इति ।

युग भेदेन व्यवस्था च स्मृत्यन्तरे स्पष्टीकृता—असवर्णासु कन्यासु विवाहश्च द्विजातिभिः । इत्यादि क्रममनुक्रम्य "कलौयुगे त्विमान् धर्मान् वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः । इत्युपसंहारात्"—पाराशरमाधव ।

इस प्रकार कलियुग में असवर्णा (ब्राह्मणादि का क्षत्रियादि के साथ) का पाणिग्रहण निषिद्ध देखा जाता है। परन्तु सवर्ण के साथ पाणिग्रहण निश्चय रूप से सर्वथा निर्बाध है। तात्पर्य यह कि सभी प्रान्त के ब्राह्मण परस्पर में समान वर्णवाले हैं। ब्राह्मणों के लिये पंजाब, बंगालादि देश-भेद से विभिन्न प्रान्तीय होने पर भी सजातीयों से (सवर्णों से) कन्यादान और प्रतिग्रह लेना या देना शास्त्र विरुद्ध नहीं होता है, यहाँ पर यह आशंका हो सकती है। वीरमित्रोदय में आए हुए :—

"भार्याः सजात्या सर्वेषां धर्मः प्राथमकल्पिकः ।"

इस यम के वचन से यह ज्ञात होता है कि समान जातीय वालों में ही विवाह करना चाहिए। सजातीय कौन है ? इस पर भी वाचस्पत्यादि कोष और आनन्दभट्टकृत वल्लालचरित मे आए हुए स्कन्दपुराण के—

सारस्वताः कान्यकुब्जा गौडमैथिलकोत्कलाः ।
पंचगौडा इति ख्याता विन्ध्यस्योत्तरवासिनः ॥
कर्णटाश्चैव तैलङ्गाः गुर्जरा राष्ट्रवासिनः ।
आन्ध्राश्च द्राविड़ाः पंच विन्ध्यदक्षिणवासिनः ॥

इन वचनों के अनुसार ब्राह्मणों की सारस्वत, कान्यकुब्जआदि अवान्तर जातियाँ स्पष्ट मालूम होती हैं। जैसे कि शूद्रों में गोप, नापित आदि अवान्तर जातियाँ हैं। अतः सतीय पद से सारस्वतआदि विशिष्ट रूप समानजातीय क्यों न लिया जाय ? इत्यादि बातों को लेकर ही गोप नापितादि शूद्रों मे शूद्रत्व रूप से सजातीय होने पर भी परस्पर विवाह इसीलिये नहीं होता है कि उनके आपस में शूद्रत्व व्याप्त गोपत्व और नापितत्वादि रूप अवान्तर जाति का भेद पड़ जाता है एवं आधुनिक शिष्टजनों की मर्यादा भी ऐसी ही देखी जाती है। इस समुचित आशंका का समाधान यह है कि गोपादि जातियों में समान रूप से

यहाँ पर चतुर्थी सवर्णा का प्रतिपादन प्राचीन काल के अनुसार, जब कि ब्राह्मण चारों वर्णों में विवाह कर सकता था, किया गया है, अर्थात् क्षत्रियादि कन्या की अपेक्षा चौथी सवर्णा ब्राह्मणी मुख्य समझनी चाहिए। इसी प्रकार माधवाचार्य ने पराशरभाष्य के आचारकाण्ड में लिखा है कि सवर्णा और असवर्णा रूप दो प्रकार की कन्या से विवाह करना चाहिए। उनमें सवर्णा को ही श्रेष्ठ समझना चाहिए। जैसा कि मनु ने कहा है कि द्विजातियों की दारक्रिया के लिये सवर्णा श्रेष्ठ है। यहाँ पर अग्रे का अर्थ स्नातक के प्रथम विवाह के लिए आया है। दारकर्म का अभिप्राय अग्निहोत्रादि धर्म से है। अतः सवर्णा का अर्थ—

'वरेण समानो वर्णो ब्राह्मणादिर्यस्याः सा—'

इस व्युत्पत्ति के अनुसार यही अर्थ होता है कि जिस कन्या का ब्राह्मणादि रूप, वर्ण वर के समान है वह कन्या सवर्णा है। जैसे ब्राह्मण के लिये ब्राह्मण की कन्या सवर्णा, क्षत्रिय के लिये क्षत्रीया एवं वैश्य के लिये वैश्या सवर्णा प्रशस्त है। इस प्रकार सर्व प्रथम धर्मनिमित्तक विवाह सवर्णा से करके फिर वासनात्मक प्रवृत्ति को लेकर अपने से हीनवर्ण की स्त्री से क्रमशः विवाह कहा गया है। जैसे कि याज्ञवल्क्य पुराण में आया है कि ब्राह्मण तीन (ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या से) क्षत्रिय दो (क्षत्रिया और वैश्या से) वैश्य दो (वैश्या और शूद्रा से) और शूद्र अपने वर्ण में ही विवाह कर सकता है। इसी प्रकार मनु ने भी कहा है।

प्रकृत में उदाहरण देने का तात्पर्य सवर्ण का सवर्णा के साथ पुष्टि दिखाने तक ही समझना चाहिए, न कि असवर्णा की पुष्टि या बहुविवाह के लिये। यह व्यवस्था युगभेद से स्मृत्यन्तरों में स्पष्ट है। द्विजातियों का असवर्णा के साथ विवाह का विधान सम्बन्धी व्यवस्था उपक्रम और उपसंहार के अनुसार कलिवर्जित युगान्तरों के लिये कही गई है। क्योंकि शास्त्रोंमें द्विजातियों के लिये असवर्ण का उपक्रम करके अन्त में बुद्धिमानों के द्वारा 'कलियुग में ये धर्म वर्जित हैं' ऐसा प्रतिपादन देखा जाता है।

'उद्वहनीया कन्या द्विविधा। सवर्णा चासवर्णा च। तयोराद्या प्रशस्ता। तदाह मनुः'

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः॥ इति॥

अग्रे स्नातकस्य प्रथमविवाहे। दारकर्मणि अग्निहोत्रादौ धर्मे। सवर्णा वरेण समानो वर्णो ब्राह्मणादिर्यस्याः सा। यथा ब्राह्मस्य क्षत्रिया, ब्राह्मणी, क्षत्रियः वैश्यस्य वैश्या प्रशस्ता। धर्मार्थमादौ सवर्णामुद्वाह्य पश्चाद्रिरंसवश्चेत्तदा तेषाम् वरा हीनवर्णाः इमाः क्षत्रियाद्याः क्रमेण भार्याः स्मृताः तथा च याज्ञवल्क्यः—

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः ॥ इति ।

मनुरपि :—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञः स्युः ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ इति ।

युग भेदेन व्यवस्था च स्मृत्यन्तरे स्पष्टीकृता—असवर्णासु कन्यासु विवाहश्च द्विजातिभिः। इत्यादि क्रममनुक्रम्य "कलौयुगे त्विमान् धर्मान् वर्ज्यानाहुर्मनीषिणाः। इत्युपसंहारात्"—पाराशरमाधव।

इस प्रकार कलियुग में असवर्ण (ब्राह्मणादि का क्षत्रियादि के साथ) का पाणिग्रहण निषिद्ध देखा जाता है। परन्तु सवर्ण के साथ पाणिग्रहण निश्चय रूप से सर्वथा निर्बाध है। तात्पर्य यह कि सभी प्रान्त के ब्राह्मण परस्पर में समान वर्णवाले हैं। ब्राह्मणों के लिये पंजाब, बंगालादि देश-भेद से विभिन्न प्रान्तीय होने पर भी सजातीयों से (सवर्णों से) कन्यादान और प्रतिग्रह लेना या देना शास्त्र-विरुद्ध नहीं होता है, यहाँ पर यह आशंका हो सकती है। वीरमित्रोदय में आए हुए :—

"भार्याः सजात्या सर्वेषां धर्मः प्राथमकल्पिकः ।"

इस यम के वचन से यह ज्ञात होता है कि समान जातीय वालों में ही विवाह करना चाहिए। सजातीय कौन है ? इस पर भी वाचस्पत्यादि कोष और आनन्दभट्टकृत वल्लालचरित में आए हुए स्कन्दपुराण के—

सारस्वताः कान्यकुब्जा गौडमैथिलकोत्कलाः ।
पंचगौडा इति ख्याता विन्ध्यस्योत्तरवासिनः ॥
कर्णाटाश्चैव तैलङ्गाः गुर्जरा राष्ट्रवासिनः ।
आन्ध्राश्च द्राविड़ाः पंच विन्ध्यदक्षिणवासिनः ॥

इन वचनों के अनुसार ब्राह्मणों की सारस्वत, कान्यकुब्जआदि अवान्तर जातियाँ स्पष्ट मालूम होती हैं। जैसे कि शूद्रों में गोप, नापित आदि अवान्तर जातियाँ हैं। अतः सतीय पद से सारस्वतआदि विशिष्ट रूप समानजातीय क्यों न लिया जाय ? इत्यादि बातों को लेकर ही गोप नापितादि शूद्रों में शूद्रत्व रूप से सजातीय होने पर भी परस्पर विवाह इसीलिये नहीं होता है कि उनके आपस में शूद्रत्व व्याप्त गोपत्व और नापितत्वादि रूप अवान्तर जाति का भेद पड़ जाता है एवं आधुनिक शिष्टजनों की मर्यादा भी ऐसी ही देखी जाती है। इस समुचित आशंका का समाधान यह है कि गोपादि जातियों में समान रूप से

शूद्रत्व धर्म विद्यमान होने पर भी उनके लिये जन्म-कर्म सम्बन्धी अवान्तर-जाति भेद शास्त्र से जाना जाता है। जैसे कि पराशर में लिखा भी है :—

"शूद्रकन्यासमुत्पन्नो ब्राह्मणेन तु संस्कृतः।
संस्काराचु भवेद्दासः असंस्काराचु नापितः॥
क्षत्रियात् शूद्रकन्यायां समुत्पन्नस्तु यः सुतः।
स गोपाल इति ज्ञेयः॥"

पा० स्मृ० प्र० का० ११, १२,२३।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय के एक सौ छाछठवें श्लोक के व्याख्यान के अवसर पर मिताक्षरा में भी कहा है :—

"गोपालो गवां पालनेन यो जीवति। नापितो गृहव्यापारकारयिता॥"

किन्तु शास्त्रों में कहीं भी यह नहीं आया है कि इस प्रकार की उत्पत्ति वाले ब्राह्मण कान्यकुब्जादि होते हैं।

सारस्वतादि जाति-भेद निमित्तक अवान्तर संज्ञा केवल सरस्वती के तटादि देश में निवास करने के कारण ही ब्राह्मणों में आई है, न कि वास्तविक जाति-भेद को लेकर जाति और कर्म का भेद है। यदि यही बात होती तो सभी देश के ब्राह्मणों के वंश-प्रवर्तक वात्स्य, गौतम्, वसिष्ठादि ऋषि न होते। परन्तु विभिन्न देशीय ब्राह्मणों के वंश के प्रवर्तक वात्स्य गौतमादि ऋषि ही समान रूप से देखे जाते हैं। एवं सभी ब्राह्मणों के संस्कार और यजन-याजनादि कर्म भी शास्त्रतः समान ही देखे जाते है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणों में जो सारस्वतादि भेद देखा जाता है वह उसके पूर्वजों की जन्म-भूमि के कारण है, न कि वास्तविक सारस्वत-आदि रूप अवान्तर जाति को लेकर। यही बात क्षत्रियादि द्विजजाति के लिये भी समझनी चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी प्रान्तों के ब्राह्मणादि वर्णों का परस्पर अपने अन्तर्गण से भिन्न किन्तु ब्राह्मणादि सदाचार से सम्पन्न एवं शास्त्रोक्त समान गोत्र-प्रवरादि से रहित अन्य प्रान्तीय ब्राह्मणादि सवर्ण के साथ अर्थात् सारस्वत, कान्यकुब्जादि ब्राह्मणों का परस्पर विवाह सम्बन्ध निःसन्देह शास्त्रानुमोदित ही मालूम पड़ता है। इस प्रकार शास्त्रतः सदाचार, समान गोत्र, प्रवरादि का ही अनुसन्धान करके सवर्ण के साथ विवाह सम्बन्ध करने पर केवल ब्राह्मणत्वादि वर्ण साम्य को लेकर विवाह की प्राप्ति न होने से यहां पर सवर्ण के साथ विवाह सम्बन्ध विधान में 'पत्यौ जीवति कुण्डःस्यान्मृते भर्तरि गोलकः' इत्यादि मनु प्रतिपादित—कुण्ड-गोलकादि के साथ वैवाहिक सम्बन्ध प्राप्ति की आशंका ही नहीं उठ सकती। इस समय सवर्णों का परस्पर विवाह विच्छेद का मूल कारण यही है कि मध्यकाल में समय और राज्य परिवर्तन के कारण प्राप्त हुए दोषों से पीड़ित द्विज लोग, थोड़े

समय में दूसरे प्रान्त में पहुँचने वाले शीघ्रगामी (सवारी) यानादि साधनों का अभाव हो जाने के कारण अन्य प्रान्तीय सवर्णों के साथ दार-सम्बन्ध नहीं करते थे। तदनुसार गतानुगतिक न्याय का आश्रय लेकर ही वर्तमान काल में भी सारस्वत और कान्यकुब्जादि ब्राह्मण लोग अन्योन्य में परिणय-सम्बन्ध नहीं करते।

स्नात्वा समुद्वहेत्कन्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् । (व्यास)
उद्वहेत् द्विजो भार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् । (मनु)

इत्यादि विधिवाक्यस्थ 'सवर्णा' पद में स्वावान्तर जातीय कान्यकुब्जादि सवर्ण भाव से संकोच नहीं हो सकता है। क्योंकि संकोच के अनुकूल श्रुति-स्मृति के अभाव में पारस्परिक व्यवहार को निर्हेतुक हो जाने से विधिवाक्य में संकोच करना सर्वथा अयुक्त ही होता है। यदि वर्तमान कालिक व्यवहार, देश, काल, कुलाचार और शिष्टाचार को लेकर विधि-वाक्य में संकोच करना समुचित समझा जाय तो तब भी सवर्ण के साथ परिणय-बाधक विधिवाक्य में संकोच प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि श्रुति और स्मृति का विरोध न रहने पर ही समाजस्थ शिष्टाचारादि धर्म को प्रामाण्य होता है, अन्यथा नहीं। जैसे कि कुमारिल भट्टने तन्त्रवार्तिक के शिष्टाचाराधिकरण में कहा भी है कि शिष्टाचार तभी तक ठहर सकता है और धर्म में प्रमाणत्वेन मान्य होता है, जबतक कि श्रुति-स्मृति के साथ विरोध नहीं होता। यदि श्रुति और स्मृति के साथ विरोध पड़ता हो तो शिष्टाचार की प्रमाणता चली जाती है।

"शिष्टं यावत् श्रुतिस्मृत्योस्तेन यन्न विरुध्यते ।
तच्छिष्टाचरणं धर्मे प्रमाणत्वेन गम्यते ॥
यदि शिष्टस्य कोपः स्याद्विरुध्येत प्रमाणता ।" इति

इस प्रकार शास्त्रीय निर्णय हो जाने पर भी "समानशीलव्यसनेषु सख्यम्" इत्यादि न्याय के अनुसार अपने सदृश आचारवाले सवर्ण कुल में परिणयादि सम्बन्ध परिणाम में सुखद हो सकता है। अतः गोत्रप्रवरादि विचारपूर्वक स्वसदृशाचारवाले अन्य प्रान्तीय सवर्ण के साथ विवाह-सम्बन्ध करना चाहिए। इस पर भी हेतु के न होने से यह आवश्यक ही नहीं है कि सारस्वत कान्यकुब्जादि ब्राह्मण अन्य प्रान्तीय ब्राह्मणों के साथ विवाहादि सम्बन्ध अवश्य करें, किन्तु अभिप्राय इतना ही है कि जो लोग वैसा करना चाहते हों या जिन्हें देशान्तरीय सवर्ण-सम्बन्ध अच्छा मालूम दे, तदनुसार सम्बन्ध कर लेने पर यही ठीक मालूम पड़ता है कि उनके लिये शास्त्रीय या मुनि वचन का कोई भी विरोध प्राप्त नहीं होता है।

"धर्म परिषद्" का यह द्वितीय निबन्ध प्रश्नोत्तर का विषय बहुत काल से समाज और विद्वज्जनों में निर्णयार्थ प्रस्तुत हुआ है। लेशमात्र भी शास्त्रीय

निरोध न होने के कारण इस विषय में तत्तत् प्रान्त के बहुत से शास्त्रज्ञ पण्डितों ने संवत् १९८५ में ब्राह्मण सम्मेलन के :—

"ब्राह्मणादिजातिषु अवान्तर श्रेणीनां परस्परं
विवाहसम्बन्धः शास्त्रसम्मतो नवा"

इस समालोचनीय पंचम प्रश्न पर अधिकांश में यही शास्त्रीय सम्मति प्रकट की है कि ब्राह्मणादि जाति का अवान्तर श्रेणी मे परस्पर विवाह (सवर्ण विवाह) शास्त्र विरुद्ध नहीं है, किन्तु सर्वथा शास्त्रसम्मत ही है।

इसके विपरीत जिन पण्डितों ने विरुद्ध मत प्रकट किया है, उन्होंने भी प्रायः इस विषय मे अविरोध शास्त्र-सम्मति को स्वीकार करते हुए केवल इतनी ही बात को लेकर अरुचि प्रकट की है कि यह विधान वर्तमान आचार या शिष्टाचार के विरुद्ध पड़ता है। ऐसे महानुभावों के मत से भी यही सूचित होता है कि "ब्राह्मणादि सवर्णों का सवर्ण विवाह में शास्त्रीय दोष कुछ भी नहीं है, केवल मध्यकालागत् वर्तमान प्रथा या किसी प्रकार से सम्भावित वर्तमान कालिक शिष्टाचार के साथ विरोध की आशंका आती है।"

परन्तु प्रश्न में जिज्ञासित व्यवस्था के विषय में शिष्टाचारादि अपवादों को लेकर जितने भी दोष समझे जा सकते हों उन सबों का निराकरण उपर्युक्त निबन्ध में संक्षेप रूप से किया गया है। अतः इस विषय मे विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। तदनुसार यह आशंका नहीं रह जाती है कि "अवान्तर श्रेणी के साथ सवर्ण विवाह का पक्ष वर्तमान प्रथा या शिष्टाचार रूप धर्मादि विरुद्ध पड़ता है, एवं सवर्णनियमाक्रान्त होने के कारण "कुण्ड" और गोलकादि रूपहीन ब्राह्मणों में सम्बन्ध करा देगा तथा समाज मे सांकर्य ला सकता है—इत्यादि।"

जिन विद्वानों ने ब्राह्मण महासम्मेलन के उपर्युक्त पंचम प्रश्न के उत्तर में अपनी शास्त्रीय सम्मति व्यवस्था के रूप में लेख द्वारा स्पष्टरूप से निःशंक होकर प्रकट की है, उनमें से कुछ सम्मतियों को यहाँ पर उद्धृत करना समुचित होगा जिससे विद्वज्जनों के निर्णय में सहायता पहुँच सकेगी। ये निर्णय सं० १९८५ के ब्राह्मण सम्मेलन के प्रश्नोत्तर पुस्तक के प्रथम भाग में छपे हुए हैं।

उनमें मेदिनीपुर के सुराटि ब्राह्मण पण्डितों की व्यवस्था है कि :—

"अवान्तरश्रेणीनियमपरित्यागो न दोषाय"

अर्थात् अवान्तर श्रेणी का नियम परित्याग में शास्त्रीय दोष नहीं है। श्री दुर्गासुन्दर महाचार्य की व्यवस्था है कि अवान्तर श्रेणियों में विवाह हो सकता है :—

"अवान्तर श्रेणीषु विवाहो भवितुमर्हति"।

इसी प्रकार श्री सीतानाथ, श्री कुमुदचन्द्र काव्य-व्याकरणतीर्थ, श्री नाथचन्द्र काव्यतीर्थ, द्वारकानाथ वेदान्ततीर्थ, श्री विनोद विकास वेदतीर्थ, श्री रामपद-स्मृतितीर्थ और श्री भूतनाथ वेदान्तशास्त्री जी की व्यवस्था है कि अवान्तर श्रेणियों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध उचित नहीं है। ऐसा कोई शास्त्रीय वचन नहीं मिलता है :—

"अवान्तर श्रेणीनां परस्परं विवाह सम्बन्धो न योग्य इत्यत्र वचनं नोपलभ्यते" एवं पूर्वस्थली ब्राह्मण महासम्मेलन की उपसमिति के पण्डितों की सम्मति है कि अवान्तर श्रेणी का विवाह शास्त्र-विरुद्ध नहीं है जैसे ब्राह्मण के यहां ब्राह्मण का भोजन शास्त्र-विरुद्ध नहीं है :—

अवान्तर श्रेणीनां विवाहो न विरुद्धः, भोजनवत्।

श्री आनन्दकुमार तर्कवागीश महोदय की सम्मति है कि कान्यकुब्ज सारस्वतादि अवान्तर ब्राह्मण श्रेणियों के परस्पर विवाह में कोई दोष नहीं है।

"अवान्तर श्रेणीनां परस्परविवाहे न कापि क्षतिः।

श्री चट्टलग्राम धर्ममण्डली पण्डित-सभा की यह व्यवस्था है कि—"कान्य-कुब्ज, मैथिली, वैदिक और वारेन्द्र श्रेणीय ब्राह्मणों का परस्पर विवाह सम्बन्ध शास्त्रसे निषिद्ध नहीं है; किन्तु जो ब्राह्मण चाण्डाल के पुरोहित हैं, उनके साथ इतर ब्राह्मणों का विवाहादि सम्बन्ध शास्त्र निषिद्ध है"—

कान्यकुब्जीयानां मैथिलानां वैदिकानां वारेन्द्रश्रेणियानां च,
परस्परं विवाहो न शास्त्रतो निषिद्धः।

किन्तु 'चाण्डालादि पुरोहितानां ब्राह्मणाना तदितरेषां च परस्परं विवाहादि सम्बन्धः शास्त्र निषिद्ध एव।' श्री गुरुचरण स्मृतिरत्न महोदयकी व्यवस्था है कि अवान्तर श्रेणीमें विवाह-सम्बन्ध शास्त्र-विरुद्ध नहीं है।

अवान्तर श्रेणीषु विवाहो न शास्त्रविरुद्धः।

बड़ौदा राजकीय पण्डितों की यह व्यवस्था है कि आर्यावर्त देश मे रहने वाले बहुत से ब्राह्मण लोग एकत्रित होकर सुखी जीवन बिताने के लिये देशान्तर मे जाकर वहां इकट्ठे होकर सुख के साथ समय व्यतीत करते थे। उन दिनों मे एक देश से दूसरे देश को जाने के लिये सवारी की सुभीता न होने के कारण उन-उन देशों के लायक वेष, भाषा और आचारादि की व्यवस्था करके रहते थे। समय के फेर से वे ही आर्यवर्तवासी ब्राह्मण लोग तत्तद्देशक नाम से बंग, तैलंग, आन्ध्र, द्रविड़, कर्नाटक, महाराष्ट्र, कोंकण और माध्व कहे जाने लगे अर्थात् देशों के नाम से ही ब्राह्मण भी प्रसिद्ध हो गए। इन सब कारणों को लेकर ब्राह्मणों मे अवान्तर जाति की कल्पना करना असंगत ही है। इस प्रकार अवान्तर जातीय विवाह-सम्बन्ध करने मे यह मालूम नहीं होता है कि शास्त्र का कौन सा निषेध है?

आर्यावर्तवासिनो बहवो ब्राह्मणाः सम्मिलिताः सुखोपजीवनार्थं देशान्तराणि गत्वा तत्र समुदायी भूय सुखेन कालं नयन्तिस्म। तदानीं देशाद्देशान्तरगमने वाहनादि सौकर्याभावत् तत्तद्देशोचितवेषभाषाचारादीन् कल्पयित्वा न्यवसन्। कालपरिणामेन वंगाः तैलंगाः आन्ध्राः द्राविड़ाः कर्नाटकः महाराष्ट्राः कोङ्कणाः माध्वा इति पृथक्-पृथक् तत्तद् देश नाम्ना प्रसिद्धि गताः, तस्माद् ब्राह्मणेषु अवान्तरजाति कल्पनमसंगतमेव। तेषां विवाहादि सम्बन्धकरणे को वा शास्त्र प्रतिषेध इति न ज्ञायते। इत्यादि।

यहाँ केवल उदाहरण के लिये कुछ व्यवस्थाएँ उद्धृत की गई हैं। इस प्रकार की और भी बहुत-सी व्यवस्थाएँ अनेक पण्डितों की हैं। आशा है विद्वज्जनों के लिये इतना निदर्शन ही पर्याप्त होगा।

३० और ३१ दिसम्बर १९३७ को दो दिन विद्वानों की सभा हुई और सर्व-सम्मति से यह प्रस्ताव पास हुआ, फिर महाराज ने अपने पौत्र-पौत्रियों का विवाह दूसरे ब्राह्मणों से करना आरम्भ कर दिया।

"यह ब्राह्मणों की सभा सवर्ण विवाह की व्यवस्था को स्वीकार करती है और घोषित करती है कि परम्परा से ब्राह्मणत्वेन स्वीकृत अपनी श्रेणियों में व्यवहृत ज्ञात कुलशीलाचारवाले ब्राह्मणों की विभिन्न श्रेणियों में परस्पर विवाह सम्बन्ध करना सर्वथा शास्त्रसम्मत है।"

गोरक्षा का संकल्प

१५ सितम्बर को कलकत्ते के "अल्फ्रेड थियेटर" में ४ बजे से गोरक्षा सभा का कार्य आरम्भ हुआ। गणमान्य सज्जनों में गोभक्त हासानन्द वर्मा, बा० घनश्यामदास बिड़ला, बा० रामकुमार सिंह, बा० रायबहादुर विश्वेश्वर लाल, बा० देवी प्रसाद खेतान, बा० चुन्नीलाल वसु और श्रीमती गंगासरस्वती बाई उपस्थित थीं। सभा के सभापति माननीय पं० मदन मोहन मालवीयजी का भाषण बड़े महत्व का था। आपने कहा कि इस समय गौओं और उनके बछड़ों पर जो अत्याचार हो रहे हैं, इस अनर्थ को हटाना हमारा परम कर्तव्य है। यदि हम भगवान् के बल को धारण कर उनमें अपना मन लगाकर आज भी सतयुग लावेंगे तो हमारी सफलता अवश्य होगी। कलि के नाम से हम भ्रम में पड़ गए हैं। मुसलमानों के शासन में भी इतना गो-वध नहीं होता था जितना आज होता है। अंग्रेजी राज्य का स्थापित होना, हमारे हृदय की दुर्बलता बढ़ाना, आध्यात्मिक शक्ति का ह्रास होना आदि गो-रक्षा न कर सकने के प्रधान कारण हैं। बौद्ध और जैन धर्मावलंबियों ने जीवन्दया के लिये कौन से उपाय छोड़े थे ?

इन बछड़ों को देखिए। इनकी कैसी दशा हो रही है ? ग्वाले इन्हें भी कसाइयों के हाथ बेंच देते हैं। इन गौओं और बछड़ों को सिर्फ हमारे दूध के लिए दुख हो रहा है। ग्वाले दूध बेचने के लिए बहुसंख्यक गायें कलकत्ते लाते हैं। पर जहाँ दूध सूखा कि उन्हें कसाइयों के हाथ बेंच देते हैं। इसलिए आप संकल्प करलें कि हम ऐसे ग्वालों की गायों का दूध कभी न पीयेंगे। ग्वालों का दूध पीना महापाप है। जब तक हम ग्वालों का दूध नहीं छोड़ते हमें पातक लगता है। हनुमान जी ने प्रण किया था कि या तो सीता माता को खोज निकालूँगा या प्राण ही दे दूँगा। ऐसा ही आप भी संकल्प करें कि या तो गौओं की रक्षा करेंगे या मर जायंगे। इस काम के लिए पांच आदमी ऐसे नियुक्त किए जायं जो सबेरे से संध्या तक गो-रक्षा, गो-वंश-वृद्धि, दूध कैसे सस्ता हो, इन्हीं उपायों मे लगे रहें। गोरक्षा—मंडल बनाकर उसके हाथ में यथेष्ट धन दे दीजिए। अब सोने का समय नहीं, चेतिये और एक करोड़ रुपये में एक कम्पनी बना लीजिए जो गोरक्षा का काम अपने हाथ में ले।

———

गौ की रक्षा : राष्ट्रीय सम्पत्ति

छः वर्ष पूर्व सनातनधर्म सभा ने, जिसके सभापतित्व का गौरव मुझे प्राप्त हुआ था, गो-सप्ताह-उत्सव में देश से अनुरोध किया था कि प्रति वर्ष गोवर्धन-पूजा से गोपाष्टमी तक 'गो-सप्ताह' मनाया जाय। जिसमें विशेष परिश्रम द्वारा व्याख्यान, पुस्तिका, पर्चे, भजन, सभा, जुलूस, कथा तथा अन्य उपदेशात्मक प्रचार द्वारा लोगों को यह स्मरण कराया जाय कि गौ मनुष्य की कितनी हितैषिणी है। साथ ही लोगों को गौ के प्रति दया और स्नेह पोषण के व्यवहार तथा उसको दुःख न पहुँचाने के लिये तथा जनता के लिये दूध की वृद्धि और सस्ता बेचने के लिए कर्त्तव्य भी सुझाया जाय।

यह विचार बहुत लोगों ने पसन्द किया और इसके लिये सतारा जिला के श्री चौंडे जी महाराज ने सबसे अधिक उत्साह दिखाया। उनसे उत्साहित और संचालित बम्बई की गोवर्धन संस्था ने उस विचार को कार्य रूप में परिणत करने के लिये बहुमूल्य सेवा की। यह गो-सप्ताह गत वर्ष भारत के चार सौ भिन्न-भिन्न स्थानों में मनाया गया। मैं आशा करता हूँ कि इस वर्ष यह और भी अधिक स्थानों में मनाया जायगा। यह १९ अक्तूबर से २६ अक्तूबर तक होगा।

हिन्दू लोग तो गोरक्षा को धार्मिक कर्त्तव्य मानते हैं किन्तु हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी तथा सभी गौ की अनन्त कृपाओं के ऋणी हैं। वह स्वयं घास और भूसा खाकर रहती है जो मनुष्य के भोजन की वस्तुएँ नहीं हैं फिर भी मनुष्य जाति को सर्वश्रेष्ठ और अत्यंत बलवर्धक भोजन—दूध देती है। अतः मानव जाति के हित के लिये और उसकी कृपा के प्रतिदान में हम सब को एकत्र होकर गौ की रक्षा करनी चाहिये तथा दूध की राष्ट्रीय खपत को बढ़ाना चाहिए।

मि० मेकोलन तथा केलॉग जैसे विश्व-विश्रुत वैज्ञानिक और भोजन-विज्ञान विशारदों ने यह सिद्ध कर दिया है कि बहुत से ऐसे भोजन हैं जो मांस का स्थान ले लेते हैं और मनुष्य बिना मांस के काम चला सकता है किन्तु दूध का स्थान कोई पदार्थ नहीं ले सकता।

अभी हाल ही में रायल एग्रीकल्चरल कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है कि भारत में ताजे दूध की खपत अमेरिका के संयुक्त राज्य, स्वीडेन, डेनमार्क तथा स्वीजरलैण्ड आदि देशों की अपेक्षा कम है। फल यह है कि एक ओर तो बच्चों की मृत्यु-संख्या अधिकाधिक बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर औसत आयु घटती जा रही है। कमीशन ने सम्मति दी है कि बहुसंख्यक लोगों के शाकाहारी होने के कारण स्वास्थ्य के लिये दूध अत्यंत आवश्यक है। अतः म्युनिसिपल्टियों को चाहिए कि वे दूध को सस्ता कराने

सनातनधर्म वर्ष, १ अंक १५।

तथा उसकी उत्पत्ति की वृद्धि करें। गावों में भी ऐसे ही प्रबन्ध की आवश्यकता है, जहाँ राष्ट्र का बहुसंख्यक भाग रहता है। यह कार्य केवल जवानों के लिये ही नहीं वरन् प्रत्येक अवस्था के स्त्री और पुरुषों के लिये आवश्यक है। कई भोजन-शास्त्रज्ञों ने कहा है कि प्रत्येक प्राणी के स्वास्थ्य, शक्ति, आयु-वृद्धि के लिये नित्य भोजन में पर्याप्त दूध आवश्यक है।

मैं प्रत्येक जाति, धर्म और वर्ण वाले सभी देशवासियों से याचना करता हूँ कि वे विशेषतः इस सप्ताह में इस मनुष्य जाति की महत्वपूर्ण समस्या पर विचार करें कि किस प्रकार यह सर्वश्रेष्ठ भोजन प्राप्त हो जिसे ईश्वर ने बिना किसी प्रकार का भेद किये मनुष्य को शारीरिक, आत्मिक और आर्थिक उन्नति के लिये परम हितैषिणी गौ के द्वारा दिलाया है। मैं आशा करता हूं कि यह गो-सप्ताह मनाने का मानवीय आन्दोलन अगले बारह महीनों में सम्पूर्ण पृथ्वी-मण्डल में मनाने का प्रयत्न किया जायगा।

सातवाँ गोरक्षा सप्ताह

मैं सब भारतवासी सज्जनों से प्रार्थना करता हूँ कि पिछले वर्षों के समान यह गोरक्षा सप्ताह सारे हिन्दुस्थान में धूमधाम से मनाया जाय। गौ मानव जाति की माता के समान उपकार करने वाली, दीर्घायु, बल और निरोगता देने वाली है। मनुष्य जाति की वार्षिक उन्नति करने वाली देवी है। स्वयं तृण जल खाकर मनुष्य को माता के दूध के समान दूध पिलाती, अनेक प्रकार से मनुष्य की सेवा करती और उसको सुख पहुँचाती है। इसके उपकार से मनुष्य कभी उऋण नहीं हो सकता। हमको यह स्मरण रखना चाहिए कि गौ समान रीति से मनुष्य मात्र की सेवा करती है और इसलिये सब जाति, धर्म और सम्प्रदाय के मनुष्यों को गो-वंश की रक्षा करने, उसके साथ न्याय और दया का बर्ताव बढाने में प्रेम के साथ शामिल होना चाहिए। इस गोरक्षा सप्ताह में, गोरक्षा के सम्बन्ध में व्याख्यानों के द्वारा तथा अन्य रीतियों से सर्वत्र गौओं के उपकार का स्मरण करना और कराना, हर बस्ती में गौओं के चरने के लिये गोचर भूमियों की व्यवस्था करना और गोवंश को बलवान् तथा दीर्घायु बनाना चाहिए। जिससे शुद्ध और सस्ता गौ का दूध गरीब से गरीब भाइयों को भी मिल सके। ऐसा प्रबन्ध करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। मैं प्रार्थना करता हूँ कि आगे आने वाले गोरक्षा सप्ताह के इस पवित्र काम में सब जाति और धर्म के अनुयायी लोग गौ के प्रति प्रेम और दया का भाव बढ़ाने में सहायक होंगे।

आज करोड़ों भारत के लाल खाली कटोरा लिये हुए दूध दूध चिल्लाते हुए अपना जीवन दे डालते हैं और उनकी इतनी भारी मृत्यु का कारण बताया जाता है—"पर्दे की प्रथा, बाल विवाह और गंदगी"। पर हम पूछते हैं कि आज से सौ वर्ष पहले भी तो ये सामाजिक कुरीतियाँ मौजूद थीं, फिर क्यों सौ-सौ बरस तक लोग जिंदा रहे।

सारी दुनिया मानती है कि दूध मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ भोजन है। वे यह भी मानते हैं कि माता के दूध के बाद सर्वश्रेष्ठ रसायन है फिर भी गौओं की संख्या कम होती जा रही है और हर साल गौओं की खालें अधिक से अधिक संख्या में विलायत भेजी जा रही हैं। पर न जाने वे क्यों नहीं समझते कि हमारे बच्चों की रक्षा के लिये गोवध भी बन्द होना आवश्यक है। हम यह मानते हैं कि घड़ी में चमड़े का फीता बाँधने वाले, चमकीले चमड़े का जूता पहनने वाले और

'सनातनधर्म' साप्ताहिक मुखपत्र, वर्ष २, अंक १९, ता० १५ नवम्बर १९५४ ई०।

चमड़े के सामान का व्यवहार करने वाले लोग गोवध के लिये विशेष जिम्मेदार हैं। जो लोग भारत की बेकारी दूर करने के लिये विलायती हल जोतने की राय देते हैं उन्हें जानना चाहिये कि पहले गौ पालकर लोग घी-दूध का बड़ा भारी व्यापार करते थे, उनके बच्चे भी हँसते रहते थे और दुर्दिन के लिये वे कुछ बचा भी रखते थे, पर अब उन्हें खेत जोत-बोकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना पड़ता है।

पशु बलिदान व देवीपूजा

अहिंसा परमो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा ॥

—महाभारत आ०, ४१ अ०।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परन्तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥

—महाभा०, अनु०, ११९।

पशुहीनाः कृताः यज्ञाः पुरोडाशादिभिः किल।
कालातिवाहनं कार्यं यावत्सत्ययुगागमः ॥

दे० भा०, स्कं०, ३४।

अपरिज्ञानमेतत्ते महान्तं धर्ममिच्छतः।
न हि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरन्दर ॥

म० भा०, आ०।

यदेव सुकृतं हव्यं तेन तुष्यन्ति देवताः।
नमस्कारेण हविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथा ॥

—महाभारत।

प्राणिमात्र का जीवन कर्मपथ है। इतना ही क्यों, कर्म को लेकर ही संसार की उत्पत्ति हुई है। इस कर्म को मुख्य मानकर ही मीमांसकों ने इसे ईश्वर का स्वरूप मान रक्खा है। वेदों का अधिक भाग कर्मों का प्रतिपादन करता है। "सनातनधर्म" में कर्मों का मुख्य प्रयोजन अन्तः करण की शुद्धि मानी गई है। मूल में प्रायः कर्मों के नित्य, नैमित्तिक और काम्य भेद से तीन विभाग माने गए हैं। आगे चलकर ये ही कर्म अधिकारी भेद से अनेक रूप धारण कर लेते हैं। इन कर्मों के अनेक प्रकार के विधान भी शास्त्रों में पाए जाते हैं। प्रायः कल्पसूत्रादि ग्रन्थ और बारह अध्याय मीमांसाशास्त्र का जन्म कर्मों की व्याख्या के लिये ही हुआ है। वैदिक काल में विभिन्न कामनाओं को लेकर अनेक प्रकार के बड़े-बड़े यज्ञ हुआ करते थे। ये कर्म मुख्यतः—"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि श्रुति के अनुसार स्वर्गादि की भावना को लेकर ही किए जाते थे। ऐसे भी कुछ यज्ञ किए जाते थे जिनका दृष्ट फल होता था, जैसे पुत्रेष्टि यज्ञ और वृष्टि सम्बन्धी यज्ञ। सभी वैदिक यज्ञ बड़े समारोह के साथ किए जाते थे।

पूज्य मालवीयजी के विचारों का संग्रह, 'सनातनधर्म' साप्ताहिक मुखपत्र, वर्ष ३, अंक १३, ता० २० अक्तूबर, १९३५ ई०।

समाज में वैदिकयज्ञ-क्रिया की अक्षुण्ण धारा दीर्घकाल तक चलती रही। शास्त्रों में उपर्युक्त ज्योतिष्टोमादि वैदिक कर्मों के बड़े-बड़े विधान पाए जाते हैं, जिनमें पशु-बलि की भी विधि देखने में आती है। ऐसे वैदिक यज्ञ कम होंगे जिनकी विधि में पशु-वध का विधान न देखा जाता हो। यहाँ तक कि बहुत से यज्ञों का नाम तत्तत् योनिवध की प्रधानता को लेकर ही किया गया है। जैसे अश्वमेध, नरमेधादि। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी "सौत्रामण्यादि" वैदिक याग हैं जिनमें सुरापानादि का विधान भी देखा जाता है। इन यज्ञों की विधि में जो अनेक पशुहिंसा होती है, उसके विषय में शास्त्रों में यह भी वर्णन देखा जाता है कि विधाता ने पशुओं को यज्ञ के लिए ही बनाया है। इस कारण देवतोद्देश्यक "पशुवध" वध नहीं कहा जाता है।

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥

मनु०।

इतना ही नहीं किन्तु श्रुति में यह भी देखा जाता है कि प्रतिवर्ष या छः-छः मास में सोमादि पशुयाग करना चाहिए—"प्रतिसंवत्सरं सोमः पशुप्रत्ययनं तथा"। श्रुतियों में यह भी पाया जाता है कि यज्ञादि तीर्थों के अतिरिक्त स्थलों में प्राणिहिंसा न करे—अहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः, एवं यज्ञीयादि हिंसा के बारे में प्रभाकरानुयायी मीमांसकों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि, "जहाँ पर राग से (भोजनादि की इच्छा से) हिंसा प्राप्त होती है वहीं 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इत्यादि हिंसा के निषेधक वैदिक वाक्य हिंसा निषेध के लिए चरितार्थ होते हैं। किन्तु जहाँ पर 'अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि विधिबल से हिंसा प्राप्त है वहाँ पर उक्त निषेध शास्त्र-प्राप्त नहीं होता है। अतएव वैदिकी हिंसा 'अहिंसा' होती है यह सिद्धान्त स्थिर होता है। इस कारण उस हिंसा में पाप भी नहीं होता है।" इसी प्रकार कुमारिल भट्टानुयायी मीमांसकों ने भी यही सिद्धान्त माना है कि "वैदिक कर्मों में भी राग (फलेच्छा) के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः वैदिकी हिंसा भी रागतः प्राप्त होती है। यह होने पर भी वैदिक हिंसा और अहिंसा निष्पाप ही रहती है। कारण कि 'अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत' यह वाक्य—'मा हिंस्यात्' इस वाक्य में सकोच कर यह अर्थ सूचित कर देता है कि वेदविहित हिंसा से अतिरिक्त हिंसा नहीं करनी चाहिए।" मीमांसकों के इस प्रकार के सिद्धान्तों के अनुसार प्राचीन काल में ज्योतिष्टोम, सोमयाग, विश्वजिदादि यज्ञों का बड़ा प्रचार था। तत्कालीन तत्त्वज्ञ लोग यज्ञ द्वारा ही सर्व सिद्धि समझते थे। किन्तु समय ने पलटा खाया। तत्त्वज्ञों ने आत्माभ्युदय के लिए अन्वेषण किया। अनुभव से उन्हें यह प्रतीत हुआ कि कर्म-मार्ग ही आत्मोन्नति की चरम सीमा नहीं है, इससे भी बढ़कर ज्ञान का दर्जा है। कर्म का फल अनित्य और दुःखमिश्रित भी रहता है। इस कारण निःश्रेयस के लिए ज्ञान ही उपादेय है, कर्म तो चित्तशुद्धि का

साधन मात्र है। तब तक अनादि काल से प्रचलित होने के कारण कर्म की जड़ दृढ़ हो चुकी थी और एकदम सभी लोग ज्ञानी भी नहीं हो सकते थे, अतः जनकादि ऐसे कर्मवादियों ने कर्ममार्ग में स्तुत्य सुधार किया जो कि निष्कामादि नाम से कहा जाने लगा। यह होने पर भी समाज में कर्मों का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से न रह सका। कर्ममार्ग धीरे-धीरे नाना रूपों में विभक्त होने लगे। कर्मों के सार्वकालिक स्वरूप में भी पुराण और स्मृतिकारों ने विभाग कर दिया। इस कारण नरमेधादि अनेक कर्म कलियुग में वर्जित कर दिए गए। समाज में जो कर्म किए जाते थे धीरे-धीरे उनका स्वरूप विकृत होने लगा। हिंसा अधिक मात्रा में होने लगी। यह देखकर व्यास जी ने महाभारत और पुराणादि ग्रन्थों में वैदिक कर्मों के साथ-साथ तीर्थ, व्रत, पूजा और उपवासादि अनेक विधानों को कथा और उपकथाओं सहित बड़े महत्त्व के साथ प्रतिपादित किया और यज्ञों के फलों के बराबर ही इन सब विधानों का भी फल दिखाया। इस प्रकार कर्मों में सुधार लाने पर भी वैदिक कर्मों के नाम पर लोगों ने अनेक प्रकार की हिंसा का अवलम्बन जारी रखा।

यह स्वरूप जैन और बौद्धकाल तक ज्यों का त्यों बना रहा। फिर बुद्धदेव ने इसके विरुद्ध घोर आन्दोलन किया और संसार को ज्ञानमार्ग का विशेष कर उपदेश दिया। उनके प्रभाव से उस समय वैदिक कर्मों का लोप सा हो गया था। पीछे कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य जैसे महात्माओं ने बौद्धों को परास्त कर पुनः वैदिक धर्म की स्थापना की। किन्तु इसके बाद श्रौतयज्ञमय वह वैदिकधर्म प्राचीन स्वरूप में समाज के अन्दर न जा सका और समाज में अनेक सम्प्रदाय तथा अनेक मतमतान्तर हो गए। पौराणिक विधान अधिक मात्रा में प्रचलित हुए। उनके साथ ही तान्त्रिक विधानों का भी प्रचार हुआ। धीरे-धीरे वैदिक यज्ञों का ह्रास होने लगा। अन्त में अब वैदिक यज्ञ प्रायः नाम शेष ही रह गए हैं। परन्तु उन यज्ञों के पशुबलि ऐसे अंश आजकल के एकाध देवकर्म में देखे जाते हैं तथा पुराणादि ग्रन्थों में तद्विषयक अनेक वचन भी उपलब्ध होते हैं। जैसे दुर्गापूजा में पशुबलि देवे :—

"बलिं च प्रत्यहं दद्यादोदनं मांसमाषवत्"—देवीपुराण, इत्यादि।

कुछ दिनों से पशुबलि के विषय में समाज में आन्दोलन उठा हुआ है। इसके विरोध में पं० रामचन्द्र शर्मा ने कलकत्ते में दृढ़ता के साथ अनशन व्रत किया। तब से यह प्रश्न प्रत्येक धार्मिक पुरुष के लिये विशेष विचारणीय हो गया है। इस विषय पर मैं प्राचीन यज्ञों के विधानों पर अपना विचार प्रकट नहीं करूँगा। क्योंकि वे यज्ञ समाज में अब नाममात्र को रह गए हैं और उनके विधानों को लेकर समाज में कोई आन्दोलन भी उपस्थित नहीं है। इधर बलिदान के विषय में जब से चर्चा चली है तब से इस ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। तदनुसार मैंने इस विषय में बहुत से शास्त्र

पण्डितों से परामर्श किया। साक्षात् तथा शास्त्रीय अन्वेषण प्रारम्भ करके इस विषय में बहुत कुछ शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त किया। अन्त में इस विषय पर शास्त्रीय आधारों को लेकर मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ उसे धार्मिक जनता के सन्मुख प्रकट कर देना अपना सामयिक कर्तव्य समझता हूँ। किन्तु शारीरिक दुर्बलता के कारण इस समय लोगों के कान तक अपना शब्द पहुँचाने में मैं असमर्थ हूँ, इसलिये लेख द्वारा ही शास्त्र-सम्मत विचारों को प्रकट कर रहा हूँ। आशा है धार्मिक जनता इससे लाभ उठाकर सर्वदा और सबको सुख पहुँचाने-वाली सात्त्विक विधि से देवी प्रभृति देवताओं की पूजा का प्रचार और समर्थन करेगी। यहाँ पर मुख्यतः यह विचार उपस्थित हुआ है कि देवी या काली प्रभृति देवताओं के पूजन में वर्तमानकाल में पशुबलि देने की जो प्रथा है वह अवश्य कर्तव्य है कि नहीं ? और उस पशुबलि के बिना भी पूजा हो सकती है कि नहीं ? देवताओं को उद्देश्य करके जो "पशुवध" किया जाता है उसमें हिंसा या पाप होता है कि नहीं ? आधुनिक पशुबलि की रीति शास्त्रोक्त है कि नहीं ? यदि इन मुख्य विचारों से शास्त्रानुसार यह सिद्ध हो जाय कि "पशुबलि" में हिंसा और पाप अवश्य है और पशुबलि के बिना भी देवी प्रभृति देवताओं की उत्तमोत्तम पूजा हो सकती है, तथा यह भी सिद्ध हो जाय कि "पशुबलि" की वर्तमान प्रणाली शास्त्रीय विधान से सम्बन्ध नहीं रखती है, तो मैं यही निवेदन करूँगा कि देवता के नाम से असंख्य पशु संहार को रोकने के लिए सबको यत्न करना चाहिए।

निर्णयसिन्धु प्रभृति निबन्ध ग्रन्थों, देवी भागवत, भविष्यपुराण, कालिका-पुराण, स्कन्दादि पुराणों में देवी को पूजा की विधि बड़े महत्व के साथ वर्णित है और नवरात्र सम्बन्धी देवी-पूजा में पशुबलिदान का भी विधान प्रतिपादित किया गया है। स्कन्द और भविष्य में लिखा है कि शारदीय पूजा सात्त्विकी, राजसी और तामसी भेद को लेकर तीन प्रकार की होती है। जप, यज्ञ और मांस रहित नैवेद्यादि से जो पूजा होती है वह सात्त्विकी है। बलिदानयुक्त पूजा राजसी है और पूजापाठ रहित मदिरा-मांसयुक्त पूजा तामसी है।

"सात्त्विकी जपयज्ञाद्यैर्नैवेद्यैश्च निरामिषैः।
राजसी बलिदानैश्च नैवेद्यैः सामिषैस्तथा॥
विना मंत्रं तामसी स्यात्किरातानां तु संमता।"

इसी प्रकार भविष्यपुराण तथा कालिकापुराणादि ग्रन्थों में भी अनेक वचन और विधान "पशुबलि" के पक्ष में प्राप्त होते हैं। फिर भी पशुबलि के पक्ष में और इसके विरुद्ध वचनों को देखने से यह निचोड़ निकलता है कि समाज में किसी के लिये भी यह आवश्यक नहीं है कि "पशुबलि" से देवी का पूजन करे। पशुबलि के बिना भी दुर्गा की महापूजा सम्पन्न हो सकती है। कारण

कि पशुवलि-सम्बन्धी जितने भी प्रकरण हैं उनमें यह कहीं पर नहीं आया है कि "पशुवलि अवश्य की जाय और उसके न करने से दोष या पाप होगा"; अर्थात् "पशुवलि किसी के लिये भी नित्यविधि नहीं है।" कूष्माण्ड, नारियल आदि से भी बलिक्रिया की जा सकती है। ब्राह्मण के लिये तो कालिकापुराणादि ग्रन्थों में पशुवलि का सर्वथा प्रतिषेध पाया जाता है।

"सिंहव्याघ्रनरान्हत्वा ब्राह्मणो नरकं व्रजेत्।"

एवं मद्यादि का भी निषेध पाया जाता है।

"न दद्याद्ब्राह्मणो मद्यं तथा देव्यै कदाचन।"

युद्धादि स्थलों में क्षत्रिय के लिये "हिंसा" धर्म्य होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि वह देवी के सम्मुख भैंसा या बकरी का बलिदान करे। नवरात्र सम्बन्धी अष्टमी प्रभृति तिथि के विधान में क्षत्रिय के जो कर्तव्य निर्दिष्ट हैं उनका रहस्य यही है कि क्षत्रिय राजा युद्ध की तैयारी के पूर्व विजय कामनार्थ अपने क्षात्र-धर्म को पालने के लिये प्रत्येक अस्त्र की पूजा करे:—

विजयार्थं नृपोत्तमः।

किन्तु वर्तमानकाल में शताब्दियों से क्षत्रियों के लिये वह अवसर ही प्राप्त नहीं है। फिर केवल तन्निमित्तक पशुवलिदान कर्म ही उनके लिये कैसे प्राप्त हो सकता है? इसके अतिरिक्त वर्णों के लिये भी "पशुवलि" का विधान नित्य विधि या आवश्यक कर्तव्य रूप से कहीं भी नहीं देखा जाता है। यद्यपि अष्टमी और नवमी के दिन "पशुबलि" के पक्ष में वचन पाए जाते हैं तथापि यह कहीं नहीं पाया जाता है कि नवरात्र के मुख्य कर्तव्य में यह आवश्यक है कि "पशु-वलि" से कर्म की पूर्ति की जाय। समग्र प्रकरणों से यही निश्चय होता है कि नवरात्र में पशुवलिकर्म प्रधान कर्म नहीं है, किन्तु प्रधान कर्म "पूजा" है। हेमाद्रि, भागवतादि ग्रन्थों में सब विधानों में भगवती का पूजन ही मुख्य माना गया है। इस पर हेमाद्रि ने भविष्य का एक वचन इस प्रकार दिया है:—

पूजयित्वाश्विने मासि विशोको जायते नरः।

देवीपुराण में भी लिखा है कि स्वयं या अन्य के द्वारा देवी की पूजा करे:—

"स्वयं वाऽन्यतो वापि पूजयेत्पूजयीत वा"।

भागवत में भी आया है कि गोपियों ने हविष्य भक्षण करते हुए देवी का अर्चन किया था।

"चेरुर्हविष्यं भुञ्जानः कात्यायन्यर्चनम्।"

रत्नाकर दीक्षित ने भी यही सिद्धान्त किया है कि नवरात्र में उपवास, कुमारी-पूजादि का विधान होने पर भी पूजा को ही प्राधान्य दिया है—"अत्रोप-

वासादिदेवीपूजाकुमारिकापूजादिबहुकर्माभिधानेऽपि पूजाया एव प्राधान्यम्, तस्या एव फल सम्यन्धावगमात्, प्रतत्योक्तेश्च।" नागेश भट्ट ने बताया है कि गन्धादि से अर्चन को पूजा कहते हैं। इस प्रकार सिद्धान्ततः पूजा और बलि पृथक् वस्तु होने पर भी यद्यपि पूजा के अन्दर भी पशुबलि की गणना हो सकती है तथापि किसी के लिए भी यह आवश्यक नहीं है कि किसी भी प्रकार पशुबलि की प्राप्ति समझकर उसे अवश्य करे। क्योंकि देवी की षोडशोपचार या पञ्चोपचार पूजा में कहीं पर भी बलि का विधान नहीं देखा गया है। भविष्य में पञ्चोपचार का विधान बताते हुए यह आया है कि चन्दनादि से पूजा करने वाला मनुष्य देवता के वर्ष से एक सौ वर्ष तक इन्द्रलोक मे पूजित होता है और ज्योतिष्टोमादि के फल को प्राप्त करता है :—

"चन्दनागरुकर्पूरैर्यस्तु दुर्गां प्रपूजयेत्।
स स्वमेक शतं दिव्यं शक्रलोके महीयते"॥
"गन्धानुलेपनं कृत्वा ज्योतिष्टोमफलं लभेत्"।

इस पञ्चोपचार प्रकरण मे बलिकर्म का नाम भी नहीं आया है। कुछ लोग दुर्गासप्तशती के बारहवें अध्याय के "बलिदाने पूजायाम्" इत्यादि अष्टम और नवम श्लोक से बलि का आवश्यक विधान समझते हैं। परन्तु वहाँ पर वैसी बात नहीं है। देवी कहती है कि शुभ कृत्य मे भक्तिपूर्वक मेरा स्मरण करने से तथा ज्ञान या अज्ञान किसी प्रकार पूजा करने से मैं उसे स्वीकार कर लेती हु, अर्थात् भक्ति पूर्वक पत्रं पुष्पं जो कुछ भी दिया जाय उसे मैं मान लेती हूँ। इसी अध्यान के :—

"पशुपुष्पार्घ धूपैश्च गन्धैर्दीपैस्तथोत्तमैः"

उन्नीसवें श्लोक से यह निश्चय नहीं होता है कि शरत् काल मे पशु बलि देना आवश्यक है। यहाँ पर इतना ही विवक्षित है कि किसी एक या अनेक प्रकार से जो मेरी पूजा करता है उससे मैं प्रसन्न रहती हू। यह विवक्षित नहीं है कि जो गन्धादि से ही मेरी पूजा करता है उससे मैं अप्रसन्न रहती हू। अनेक प्रकार की पूजा मे भी यह आवश्यक नहीं है कि "पशुबलि" अवश्य दी जाय, तात्पर्य यह कि वहाँ पर भक्तिपूर्वक देवी की पूजा विवक्षित है न कि बलि। अतएव इसी अध्याय के अन्तिम श्लोक मे यह स्पष्ट कहा गया है कि स्तुति, धूप, दीप, नैवेद्यादि से पूजित भगवती देवी पुत्र, पौत्र, धर्म मे मति और शुभ गति देती है।

"स्तुता संपूजिता पुष्पैर्धूपगन्धादिभिस्तथा।
ददाति वित्तं पुत्रांश्च मतिं धर्मे गतिं शुभाम्॥"

दुर्गासप्तशती के पूजा प्रकरण के इस उपसंहार में पशुवलि की चर्चा भी नहीं की गई है एवं नागेश भट्ट ने भी इस श्लोक में आदि पद से पशुवलि का स्मरण तक नहीं कराया है और सप्तशती के तेरहवें अध्याय के आठवें श्लोक में पुष्पधूपादि से ही देवी की पूजा दिखाई गई है :—

"अर्हणां चक्रतुस्तस्याः पुष्पधूपाग्नितर्पणैः ।"

यद्यपि इसके आगेवाले श्लोक में यह दिखाया गया है कि राजा और वैश्य ने अपने रुधिर से सिक्त वलि दी।

"वलिं चैव निजगात्रासृगुक्षितम्" ।

तथापि इस प्रकरण से भी यह सूचित नहीं होता है कि पूजा में उन्होंने पशुवलि दी हो। वलि शब्द के अनेक अर्थों में से भेंट, नजराना या उपहार भी एक अर्थ होता है। सम्भव है उन लोगों ने अपने रुधिर से युक्त कूष्माण्ड की वलि दी हो। शास्त्रों में अनेक स्थलों पर अन्न, व्यञ्जन, पुष्प तथा जलादि पदार्थों को भी वलिद्रव्य कहा है :—

अन्नं व्यञ्जनपुष्पाम्बु वलिद्रव्यमुदाहृतम्" ।

—जयसिंहकल्पद्रुमे भुवनशीतपारिजातः।

रुद्रयामल के इन वचनों से भी यही ज्ञात होता है कि पशुवलि न देकर घी वगैरह से आटे का व्याघ्रादि वनाकर या कूष्माण्ड, श्रीफल को वस्त्र से लपेट कर वलिकर्म किया जा सकता है :—

"कृत्वा घृतमयं व्याघ्रं नरं सिंहं तथैव च ।"

स्कन्दपुराण में तो भात, कूष्माण्ड तथा माषादि की वलि का विधान स्पष्टरूप से किया गया है :—

"पूजोत्तरं माषभक्तवलिं कूष्माण्डादिवलिं वा निवेदयेत् ।"

क्षेत्रपालादि देवताओं को माष और ओदन की वलि देने की प्रथा आज कल भी देखी जाती है एवं सम्प्रदाय विशेष में कूष्माण्डादि की ही वलि देने की प्रणाली सारे देश में विद्यमान है। इस प्रकार पशुवलि के विना भी हर एक उपासक देवी की उपासना या पूजा अच्छी तरह कर सकता है। ऐसा करने से शास्त्रीय दोष भी नहीं प्राप्त होता है। फिर वर्तमान काल में ऐसी कोई भी वात नहीं है कि जिसके वल पर पशुवलि का समर्थन किया जा सके। आजकल तो इसका सर्वथा निषेध ही करना चाहिए। कारण आजकल कहीं भी शास्त्रीय विधानानुसार पशुवलि क्रिया देखने में नहीं आती है। यहाँ पर अभिप्रेत नहीं है कि विधानानुसार पशुवलि हो सके तो उसे करना ही चाहिए। अभिप्रेत इतना ही है कि पशुवलि के विना भी देवी की पूजा सदा हो सकती है और सहस्रों अथवा लाखों स्थानों में होती है।

प्रतिदिन के व्यवहार में होने वाली अज्ञात असंख्य हिंसा के पापनिवारण के लिये ही मन्वादि स्मृतिशास्त्रों में अतिथिपूजनादि पञ्चमहायज्ञों का विधान किया गया है। परन्तु आज कल अनिवार्य हिंसा के दोष को दूर करने के लिये पञ्चमहायज्ञों के करनेवालों की संख्या बहुत कम है। इतनी हिंसा से युक्त होने पर भी यदि हम पशुबलि करके हिंसा के पाप को बढ़ावें तो हमारे लिये एक शोचनीय बात होगी। यदि इस पर भी कुछ शास्त्रज्ञ लोग कुछ शास्त्रीय वचनों के आधार पर 'पशुबलि' का विरोध करना उचित न समझते हों तथा शास्त्रानुसार उसका अनुमोदन करना समुचित समझते हों एवं पशुबलि के बिना पूजा की अपूर्णता समझते हों तो उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि शास्त्र के अनुसार श्राद्ध में मांस के प्रयोग का विधान प्रबलता के साथ देखा जाता है परन्तु वर्तमान समय में व्यवहार में श्राद्ध में मांस अशुद्ध माना जाता है और श्राद्ध में मांस देने की प्रथा कहीं प्रचलित नहीं विदित होती। यदि कलिवर्ज्य रूप किसी आधार से मांस के बिना भी श्राद्ध-कर्म सम्पन्न हो सकता है तो उसी प्रकार के आधारान्तर से 'पशुबलि' के बिना भी नवरात्रादि में देवी की पूजा सर्वथा सम्पन्न हो सकती है, जब कि कूष्माण्डादि की बलि का विधान स्पष्ट रूप से मिल रहा है और व्यवहार में प्रचलित भी है। इस पर भी जो लोग शास्त्र के आधार पर पशुबलि के लिये विशेष आग्रह करना उचित समझते हों तो उन्हें सर्वथा यही उचित है कि भगवती को प्रसन्न करने के लिये उस दिन, अबोध, असहाय मूक पशु की बलि न देकर अपने रुधिर या सिंह की बलि दें। क्योंकि कालिकादि पुराणों में बलिद्रव्यों की गणना करते हुए शार्दूल, मनुष्य और अपने शरीर के रुधिर को भी बलिद्रव्य में माना है—

"शार्दूलश्च नराश्चैव स्वगात्ररुधिरं तथा।"

परन्तु शास्त्रीय विधानों की पूर्ण रक्षा में इस प्रकार की बलि के लिये आजकल कोई भी विवेकी भक्त अग्रसर होता हुआ दिखाई नहीं देता है। हर एक समझता है कि मनुष्य की बलि की तो कोई कथा ही नहीं, अपने लोहू की बलि देना भी सरल काम नहीं है। देवी भागवत के तृतीय स्कन्द के छब्बीसवें अध्याय में जहाँ पर नवरात्र का विधान विशेषरूप से वर्णित है वहाँ पर भी पशुबलि को अवश्य कर्तव्यरूप से नहीं कहा है। केवल बत्तीसवें श्लोक से चौंतीस श्लोक तक यह कहा गया है कि "जो लोग मांसाहारी हों वे महिषादि की बलि कर सकते हैं। यज्ञ में पशुहिंसा का दोष नहीं होता है और पशु को स्वर्ग होता है।" इस पर नीलकण्ठादि टीकाकारों ने यही विवेचना की है कि यह विधि क्षत्रिय विषयक ही है:—

"क्षत्रियविषयक एवायं विधिरिति।"

इस पर यह आशय पहले ही दिखा दिया है कि स्वधर्म होने पर भी क्षत्रिय को हिंसा सर्वथा प्राप्त नहीं रहती है, किन्तु युद्धादि विशेष स्थल में ही

प्राप्त रहती है। शास्त्रनिषिद्ध होने के कारण दूसरे का मांसाहार किसी को करना भी नहीं चाहिए। इसके अतिरिक्त देवीभागवत के अनेक स्थलों में यह वर्णन मिलता है कि "पशुबलि के द्वारा मांसादि की जगह पुरोडाश पीठीकी हवि (पिष्ट हवि) वाले यज्ञ करना चाहिए। क्योंकि अनेक यज्ञों में हिंसा के भय से 'पुरोडाश' का विधान किया गया है। अतः तुम लोग भी पुरोडाश सम्बन्धी यज्ञों को करो :—

"पशुहीनाः कृता यज्ञाः पुरोडाशादिभिः किल" ।—दे० भा० १।२

इसी प्रकार देवीभागवत के तृतीय स्कन्द के बारहवें अध्याय में यज्ञों की विवेचना करते हुए व्यासजी ने जन्मेजय से कहा है कि "हे राजन्! अग्निष्टोमादि जितने भी पश्वादि बाह्यसाधनयुक्त यज्ञ हैं वे सब सात्त्विक यज्ञ नहीं है, असात्त्विक हैं। इन सबों का फल अन्त में अच्छा नहीं होता है। सात्त्विक यज्ञ बड़ा दुर्लभ है।

राजसा द्रव्यबहुलाः यूपाश्चापि सुसंस्कृताः ।
क्षत्रियाणां विशां चैव साभिमानाश्च वै मखाः ॥
"सात्त्विकस्तु महाराज दुर्लभो वै मखः स्मृतः" ।

अतः हे राजन्! तुम सात्त्विक यज्ञ करो। सात्त्विक यज्ञ से ही देवी प्रसन्न होती है या जानी जा सकती है :—

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
यदा पश्यति भूतात्मा तदा पश्यति तां शिवाम् ॥"

इतना कहने के पूर्व ही व्यासजी ने सात्त्विक यज्ञ का निर्देश इस प्रकार किया है कि "सात्त्विक यज्ञ वही है जिसमें श्रद्धा अधिक हो। पशुवध के चिह्न-स्वरूप यूपादि न हों और पुरोडाश पदार्थ की प्रधानता हो" :—

"पुरोडाशपरा नित्यं वियूपा मंत्रपूर्वकाः ।
श्रद्धाधिका मखा राजन् सात्त्विकाः परमाः स्मृताः" ॥

मनुस्मृति के तीसरे अध्याय के बलि प्रकरण के नवासीवें श्लोक में भद्रकाली को जो बलि देना दिखाया है—"भद्रकाल्यै च पादतः" उसका भी अर्थ पशुबलि देना नहीं है किन्तु बलिवैश्यदेवक्रिया सम्बन्धी अन्नादि का देना है। प्रायः मन्वादि स्मृति ग्रन्थों में तो वैदिक यज्ञ सम्बन्धी देवताओं के अतिरिक्त किसी भी देवता विशेष की विशेष चर्चा देखने में नहीं आती है। कुछ शास्त्रज्ञ लोग मनुस्मृति के पांचवें अध्याय के मांस प्रकरण वाले एकतालिसवें (अत्रैव पशवो हिंस्याः) श्लोक के आधार पर यह आशंका कर सकते हैं कि देवतोद्देश्येन तो पशुवध करना उचित ही है। उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि मनु का तात्पर्य हिंसा-

विधान में नहीं है, किन्तु हिंसा या मांस भक्षण को शास्त्रमुखेन नियमित कर हटाना है। अतः मांसभक्षण के उपसंहार में मांसवर्जन का बड़ा फल दिखाया है—

फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांस परिवर्जनात् ॥

इसके पहले मनु ने यह भी कह दिया है कि मांस की उत्पत्ति का भली-भाँति विचार करके हर प्रकार के मांसभक्षण से विमुख अर्थात् निवृत्त होना चाहिए।

प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ।—म० ५।४६ ।

पुराणों में भी इस प्रकार के बलिकर्म की और तन्निमित्तक मांस-भक्षण की अत्यन्त उग्र शब्दों में निन्दा देखी जाती है। वाचस्पति में आए हुए पद्मपुराण के पद्मोत्तर खण्ड में विस्तार के साथ पार्वती जी शिव जी से कहती हैं कि "जो लोग मेरी (देवी की) पूजा के नाम से प्राणी की हिंसा में तत्पर रहते हैं उनका पूजन अमेध्य अर्थात् अपवित्र और अशुद्ध है। उसके दोष से मनुष्य की अधोगति होती है। हे शिव जी! तामस प्रकृति के जो लोग मेरे लिये पशुवध किया करते हैं निश्चय उन्हें कोटि कल्पतक नरकवास मिलता है एवं यूप में पशु को बाँधकर हत्या करके रुधिर का कीचड़ करनेवाला मनुष्य यदि स्वर्ग को चला जाय तो भला बताओ कि फिर नरक को कौन जायगा। जो मनुष्य मेरे व्याज से पशु हिंसा करके अपने भाई बान्धवों के साथ उस पशु को खाता है वह उतने वर्षों तक 'असि पत्र' नाम के नरक मे जाता है जितने पशु के शरीर में रोम होते हैं। हे शंकर जी! जो मनुष्य पशुवध करके रुधिर और मांस से तुम्हारी और मेरी पूजा करता है वह तब तक नरक मे रहता है जब तक ये चन्द्र और सूर्य स्थिर हैं। जो मनुष्य 'स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेत' इत्यादि वाक्यों के अनुसार यज्ञ करता है वह उसका स्वर्गरूप फल भोगकर फिर दुःखमय भवसागर मे आकर गिरता है"।

ये ममार्चनमित्युक्त्वा प्राणिहिंसनतत्पराः ।
तत्पूजनं ममामेध्यं यद्दोषात्तदधोगतिः ॥
मदर्थे शिव ! कुर्वन्ति तामसा जीवघातनम् ।
आकल्पकोटि निरये तेषां वासो न संशयः ॥
यूपे बद्ध्वा पशून् हत्वा यः कुर्याद्रक्तकर्दमम् ।
तेन चेत्प्राप्यते स्वर्गो नरकं केन गम्यते ॥
मद्व्याजेन पशून् हत्वा यो भक्षेत् सह बन्धुभिः ।
तद्गात्रलोमसंख्याब्दैरसिपत्रवने वसेत् ॥

पशून् हत्वा तथा त्वां मां योऽर्चयेद्मांसशोणितैः ।
तावत्तन्नरके वासो यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥
स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यः करोति निगमाज्ञया ।
तद्भोगान्ते पतेद् भूयः स जन्मानि भवार्णवे ॥

इतना ही नहीं बल्कि महाभारत में विचरव्यु के संवाद में आया है कि कर्ममात्र में हिंसा न करनी चाहिए। धर्मात्मा मनु ने कहा है।

सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
तस्मात्प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥

इतना ही नहीं उसके आगे के वचनों में यह वर्णन आया है कि यज्ञ का उद्देश्य करके भी मांस खाना प्रशस्त धर्म नहीं है।

वृथा मांसानि खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते ।

अहिंसा वैदिक कर्म, यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः, यज्ञे वधोऽवधः इत्यादि शास्त्रीय वचनों के अनुसार एवं भाट्टादि मीमांसकों तथा तन्त्रशास्त्र के सिद्धान्तों को लेकर कुछ शास्त्रीय लोगों का यह मत है कि "देवता या यज्ञ सम्बन्धी 'पशुहिंसा' हिंसा नहीं कही जाती। अतः तादृश पशु वध में हिंसात्व न होने के कारण पशुवध करने वाले यजमानादिकों को कुछ भी पाप या दोष नहीं लगता है।" किन्तु इस सिद्धान्त का खण्डन करके अनेक विवेकज्ञों ने यह सिद्ध किया है कि देवतादि निमित्तक पशुवध में भी हिंसा और पाप अवश्य होता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि वेद और स्मृति, गीता, महाभारत, भागवत तथा अन्य पुराणादि ग्रन्थों में विस्तरशः पाई जाती है। महाभारत, अनुशासन पर्व के एक सौ पन्द्रहवें अध्याय में भीष्म से युधिष्ठिर के यह पूछने पर कि हे पितामह! आपने अहिंसा का बड़ा महत्व गाया है, परन्तु आपने श्राद्धादि कर्मों में पितरों को मांस देने का विधान भी दिखाया है। भला हिंसा किए बिना पितरों को मांस कैसे दिया जा सकता है? मेरी समझ में ये विरुद्ध बातें नहीं आ रही हैं। उत्तर में भीष्म ने कहा—हे युधिष्ठिर! मांस-त्याग और अहिंसा का बड़ा महत्व है। रूप, कान्ति, बल, आयु, ओज, स्मृति और बुद्धि को चाहने वाले महात्मा पुरुषों ने हिंसा को वर्जित किया है।

रूपमव्यङ्गतामायुर्बुद्धिसत्त्वं बलं स्मृतिम् ।
प्राप्तुकामैर्नरैर्हिंसा वर्जिता वै महात्मभिः ॥

हे युधिष्ठिर! इस विषय पर ऋषियों में बड़ा संवाद चला था। तदनुसार उनका जो मत है, उसे सुनो। जो मनुष्य प्रतिमास अश्वमेध यज्ञ करता है यदि

वह मधु मांस छोड़ देवे तो वह मांस का त्याग उन अश्वमेध यज्ञों के बराबर ही होगा।

योऽ यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः।
वर्जयेन्मधुमांसं च सममेतद् युधिष्ठिर॥

—अ० ११५।६

हे युधिष्ठिर! बालखिल्य ऋषि, सप्तर्षि और मरीचिपादि गण मांस न खाने की बड़ी प्रशंसा करते हैं। मनु का कहना है कि जो मांस नहीं खाता है, जो वध नहीं करता है और न कराता है वह नर सब प्राणियों का मित्र है।

न भक्षयति यो मांसं न च हन्यान्न घातयेत्।
तन्मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्॥

इस प्रकार औरों की सम्मति दिखाकर भीष्म ने इस विषय पर अपनी सम्मति इस श्लोक से प्रकट की कि प्रतिमास सौ वर्ष तक के अश्वमेध से जितना फल होता है उतना ही फल उसे भी होता है जो कि मांस नहीं खाता है:—

मासि मास्यश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
न खादति च यो मांसं सममेतन्मतं मम॥

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः।
आत्मनः सुखमिच्छन् स प्रेत्येह न सुखी भवेत्॥

न तत्परस्य संदध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्त्तते॥

प्राणा यथात्मनोभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्भिः कृतात्मभिः॥

यस्तु वर्षशतं पूर्णं तपस्तप्येत्सुदारुणम्।
यश्चैव वर्जयेन्मांसं सममेतन्मतं मम॥

मद्यं मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिकाः।
जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः॥

मृत्युतो भयमस्तीति विदुषां भूतिमिच्छताम्।
किं पुनर्हन्यमानानां तरसा जीवितार्थिनाम्।
अरोगाणामपापानां पापैर्मांसोपजीविभिः॥
तस्माद्विद्धि महाराज मांसस्य परिवर्तनम्।
धर्मस्यायतनं श्रेष्ठं स्वर्गस्य च सुखस्य च॥

अर्थात् जो मनुष्य अपने सुख की चाह से अहिंसक प्राणियों को मारता है वह पुनर्जन्म में सुखी नहीं होता है। अपने विरुद्ध बातें दूसरे के लिये भी न करना यही संक्षेप में धर्म है। पुण्यात्मा बुद्धिमानों को उचित है कि अपने सदृश ही दूसरों को समझें। क्योंकि जैसे अपने प्राण प्रिय होते हैं उसी प्रकार दूसरे को भी अपने प्राण प्रिय लगते हैं। सौ वर्ष तक तप करना और मांसका त्याग ये दोनों बराबर ही होते हैं। वे लोग मुनि कहे जाते हैं जो कि जिन्दगी भर मद्यमांसादि का आहार नहीं करते हैं। जबकि विद्वानों को भी मृत्यु से भय होता है तो फिर वे बेचारे मारे जाते हुए जीवितार्थियों की बात ही क्या है? हे महाराज! इस कारण मांस का त्याग करना उचित समझो। वह त्याग धर्म का उत्तम स्थान है, स्वर्ग और सुख का भी श्रेष्ठ स्थान है।

भीष्म ने इस प्रकार विस्तार पूर्वक हिंसा और मांस भक्षण का निषेध किया, किन्तु इतने से भी मांसाहारियों की रुचि एकदम मांस से निवृत्त नहीं हो सकती है, किन्तु धीरे-धीरे हो सकती है। इस बात को देखकर यज्ञीय मांस के बारे में भीष्म ने यही कहा कि विधिहीन मांस तो कदापि न खाना चाहिए। यहाँ पर यह नहीं आता है कि वैध मांस अवश्य खावे। क्योंकि भीष्म यज्ञीय मांस के खाने को भी पाप समझते हैं—अल्पदोषमिदं ज्ञेयं विपरीते तु लिप्यते। लोगों को धीरे-धीरे मांस और अहिंसा से हटाने के लिये ही बीच-बीच में विधियुक्त मांस कहकर फिर भीष्म जी ने सर्वथा हिंसा और मांस का निषेध किया :—

"संवर्जयेन्मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः"।

हे युधिष्ठिर! सुनते हैं पहले समय में यज्ञ करनेवाले मनुष्यों का पुरोडाश ही पशु था। उसी से वे लोग यज्ञ करते थे और पुण्य लोक वाले होते थे।

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः॥

आगे चलकर महात्मा भीष्म कहते हैं कि प्रजा की भलाई चाहने वाले महात्मा अगस्त्य ने अपने तप के द्वारा उन सब जंगली मृगों को जिनके अधिष्ठाता सब देवता हैं प्रोक्षण किया, परन्तु मारा नहीं।

प्रजानां हितकामेन त्वगस्त्येन महात्मना।
अरण्याः सर्वदैवत्याः प्रोक्षितास्तपसा मृगाः॥

इसके अनन्तर भीष्म ने अम्बरीष, नाभाग, दिलीप, रघु, हरिश्चन्द्र, पैलादि अनेक महात्माओं का नाम सुनाया जिन्होंने कभी भी मांस भक्षण नहीं किया था।

एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम्।

इन सब वाक्य और उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि देवतोद्देश्यक या यज्ञीय पशु-वध में भी हिंसा अवश्य होती है और तज्जन्य पाप भी होता है। यदि ऐसी बात न होती तो अनेक यज्ञ करने वाले अम्बरीपादि महापुरुष धर्मतः मांस भक्षण करते। यज्ञीय पशुबलि या देवतोद्देश्यक पशु-बलि में पाप की आशंका से ही दर्शपौर्णमासादि बहुत से यज्ञों में पशुवध की जगह पुरोडाश का विधान देखा जाता है। ऐतरेयब्राह्मण में पशु की जगह पुरोडाश की भी बड़ी महिमा गाई गई है।

स वा एप पशुरेवऽलम्यते यत्पुरोडाशः।
तस्मादाहुः पुरोडाशं सत्रं लोक्यम् ॥ ऐ० ६।८ खं० ॥

इसी प्रकार शान्तिपर्व के दो सौ बासठवें अध्याय में यह प्रकरण देखा जाता है कि जब तुलाधार ने हिंसामय यज्ञों के ऊपर कुछ आक्षेप किया तो जाजलि को यह आशंका हुई कि पश्वादि के बिना यज्ञ हो ही नहीं सकता है और तुम इसके विपरीत नास्तिक्य से भरी बातें कर रहे हो। उत्तर में तुलाधार ने कहा कि मैं यज्ञ की निन्दा नहीं कर रहा हूं; किन्तु मेरा कहना यही है कि यज्ञ के रहस्य को जानने वाला दुर्लभ है—"यज्ञवित्तु सुदुर्लभः"। देवता लोग जो सुकृत हवि हो उसी से तृप्त हो जाते हैं तथा नमस्कार से, स्वाध्याय से, औषधि से और हविष् से ही तृप्त हो जाते हैं। इसी से उनकी पूजा भी हो जाती है :—

"यदेव सुकृतं हव्यं तेन तुष्यन्ति देवताः।
नमस्कारेण हविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथा ॥
पूजा स्याद् देवतानां हि यथा शास्त्रनिदर्शनम् ॥"

बीच में धर्म का बहुत-सा उपदेश देकर यज्ञादि में पशु-हिंसादि की जगह तुलाधार ने पुरोडाश को ही पवित्र वस्तु कहा :—

पुरोडाशो हि सर्वेषां पशूनां मेध्य उच्यते (४१)।

इस प्रकार से भी वैदिक हिंसा को अहिंसा और निष्पाप माननेवालों को उपदेश लेना चाहिए। शान्तिपर्व के दो सौ सरसठवें अध्याय में जब स्यूमरश्मि ने यह पूछा कि पश्वादि-युक्त सांग यज्ञ करने में कोई दोष नहीं है तब उत्तर में कपिल ने त्यागमार्ग की प्रशंसा करते हुए महाभारत के शान्तिपर्व में यह कहा कि दर्श, पौर्णमास, अग्निहोत्र और चतुर्मास्य यज्ञ आदि भी वैदिक हैं। इनमें भी सनातनधर्म की मर्यादा स्थित है :—

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः ॥

इस प्रकरण से भी यही सिद्ध होता है कि पशुयाग या पशुबलि में हिंसा और पाप माने जाते थे। इसी प्रकार भागवत के सातवें स्कन्द के पन्द्रहवें अध्याय में श्राद्ध-प्रकरण को लेकर नारद जी ने युधिष्ठिर से यह कहा कि श्राद्धादि

में पशुहनन नहीं करना चाहिए। पितर तथा देवता लोगों को पशु-बलि से उतनी प्रीति नहीं होती है जितनी कि मुन्यन्नादि से। हे राजन्! श्रेष्ठ धर्म की इच्छा करनेवाले पुरुष शरीर, वाणी और मन से होने वाली हिंसा का त्याग कर देते हैं। हे युधिष्ठिर! पश्वादि यज्ञ द्रव्यों से याग करनेवाले को देखकर ही प्राणियों को यह भय होने लगता है कि आत्मतत्त्व को न जानने वाला तथा अपने प्राणों की तृप्ति चाहने वाला यह निर्दयी पुरुष कहीं हमें मार न दे :—

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद्धर्मतत्त्ववित् ।
मुन्यन्नैः स्यात्पराप्रीतिर्यथा न पशुहिंसया ॥
नैतादृशःपरो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छता ।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः ॥
द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति ।
एष माकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृब् ध्रुवम् ॥

इसी प्रकार कर्मपुराण और मार्कण्डेयादि पुराणों मे भी इस विषय पर अनेक वचन मिलते हैं। मैंने यह केवल उदाहरणार्थ दो-चार स्थल दिखा दिए हैं। शास्त्रों में और भी अनेक ऐसे स्थल हैं जिनसे ये बातें सिद्ध होती हैं।

सांख्य और योगदर्शन के आचार्यों तथा योगदर्शन के भाष्यकर्ता श्री व्यास जी ने भी यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि देवादि निमित्त पशुवध में हिंसा और पाप अवश्य होते हैं। योगदर्शन के द्वितीय पाद के तेरहवें सूत्र के (सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः) "प्रधान कर्मण्यवापगमनम्" इत्यादि भाष्यसे, एवं इसी प्रकरण के भाष्य में पठित—"स्यात्स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः" इत्यादि पञ्चशिखाचार्य के वचन से भी यही सूचित होता है कि यज्ञोद्देश्येन विहित हिंसा से कुछ न कुछ पाप अवश्य होता है और व्यासादि प्राचीन आचार्यों को यह सिद्धान्त मान्य भी था। इतना ही नहीं किन्तु आगे चलकर दूसरे पाद के चौंतीसवें सूत्र में व्यास जी ने यज्ञीय पशुहिंसा के फल को "सुखप्राप्ति में अल्पायु होती है"—इत्यादि रूप में दिखाकर देवतोद्देश्यक पशुवध में पाप का होना स्पष्ट ही स्वीकार किया है—

"कथंचित्पुण्यावापगता हिंसा भवेत्तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति।"

एवं योगदर्शन के चौथे पाद के सातवें सूत्र में कर्म की व्याख्या करते समय व्यास जी ने कहा है कि पुण्य और पाप रूप कर्म वाले लोग वे हैं जो धान्यादि रूप बाह्य साधनों को लेकर कर्म किया करते हैं। क्यों कि यज्ञादि कर्म, किसी को पीड़ा और किसी के ऊपर अनुग्रह पुरः सर ही सम्पन्न होते हैं:—

"शुक्लकृष्ण बहिः साधन साध्यास्तत्र ।
परपीडानुग्रहद्वारेणैव कर्माशय प्रचयः ॥"

यहाँ पर वाचस्पत्यादि टीकाकारों ने और भी सूक्ष्म दृष्टि देकर यह व्याख्या की है कि यज्ञ के लिये चावल निकालने के समय चींटी आदि जीवों के वध की भी सम्भावना रहती है—

"अवघातादि समयेऽपि पिपीलिकादि वधसम्भवात् ।"

गीता में जहाँ भगवान् ने अपने उत्कर्ष का वर्णन किया है, वहाँ कहा है—

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि—गीता, १०।२५

यहाँ पर प्रायः मधुसूदनादि सभी टीकाकारों ने हिंसारहित होने के कारण ही जप यज्ञ का महत्त्व सिद्ध किया है—

हिंसादिदोषशून्यत्वेन—मधुसूदन

जपयज्ञस्य यज्ञान्तरेभ्यो हिंसादिराहित्येन प्राधान्यम् ।

आनन्दगिरि

इसी प्रकार मनु ने भी विधि-यज्ञ की अपेक्षा जप-यज्ञ को दस गुना अधिक माना है—

"विधि यज्ञाज्जप यज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।(२।८५)

इस विषय पर कहाँ तक विस्तार किया जाय। भागवत में तो स्पष्ट ही आया है कि केवल यज्ञ से ही यज्ञीय पशु वध सम्बन्धी पाप किसी प्रकार भी दूर नहीं किया जा सकता है, जैसे कीचड़ से कीचड़ साफ नहीं हो सकता है।

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।
भूतहत्यां तथैवेकां न यज्ञैर्माष्टुंमर्हति ॥

मीमांसकों की धारणा को लेकर कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि यज्ञादि पशु-वध में पाप नहीं होता, किन्तु मनुस्मृति के दसवें अध्याय के उनहत्तरवें श्लोक में अजादि पशुघात को संकरीकरण रूप पाप बताकर आगे ग्यारहवें श्लोक में उक्त संकरीकरण का चन्द्रायण रूप अल्प प्रायश्चित्त का विधान किया गया है—

सङ्करायात्र कृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ।"

इसी प्रकार श्रुतियों के भी अनेक वचन इस विषय में प्रमाणभूत देखे जाते हैं। तैत्तिरीय श्रुति में आया है कि यज्ञ में मारे जाते हुए पशु को देखकर "अध्वर्यु" मुख फेर लेता है—

"परागावर्त्ततेऽध्वर्युः पशोः संज्ञप्यमानात् ।"

यदि पशुबलि में पाप न होता तो अध्वर्यु पराङ्मुख क्यों होता। इतना ही नहीं, बल्कि—

"याजयित्वा प्रतिगृह्य वाऽनश्नन् त्रिः स्वाध्यायमधीयीत"

इत्यादि मन्त्रों के द्वारा स्पष्टरूप से ऋत्विजों के लिये प्रायश्चित्त का विधान देखा जाता है एवं बहुत से मन्त्रों के अन्दर प्रायश्चित्त के रूप में पशुबलि सम्बन्धी यह प्रार्थना देखी जाती है कि यज्ञ में मारे जाते हुए पशु ने जो आर्तनाद किया है और उसने व्यथित होकर अपने पाँवों से जो वक्षस्थल पीटा है, हे अग्ने! पशु को पीड़ा पहुंचाने वाले मेरे उस पाप से मुझे छुड़ाओ—

"मत्पशुर्मायुमकृतोरो वा पद्भिराहते,
अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः।"

प्रायश्चित्त के विषय में यह एक निदर्शन मात्र है। मुझे विश्वास है कि अन्वेषण करने पर इस प्रकार के और भी वाक्य उपलब्ध हो सकते हैं। शंकराचार्य ने वेदान्त सूत्र के अध्याय तीन के चौबीसवें सूत्र में यद्यपि वैदिकी हिंसा को अहिंसा कहा है तथापि उनका कथन "व्यवहारे भाट्ट नायः" वाले सिद्धान्त के अनुसार है। यही बात अन्य आचार्यों के व्याख्यान में समझनी चाहिए। पर उससे यह सिद्ध नहीं होता है कि व्यास जी का वही सिद्धान्त था।

यदि यही बात होती तो महाभारत में मोक्षपर्व के २७२ वें अध्याय के १८ वें श्लोक में यह वर्णन कभी भी न होता कि चर्वादि यज्ञ करने वाले ब्राह्मण ने जब स्वशापविमोचनार्थी किसी मृग को उसकी प्रार्थना करने पर यज्ञीय अग्नि में डाला तो उस समय उस ब्राह्मण का बहुत तप नष्ट हो गया, अतः यज्ञ की हिंसा भी धर्म के लिये नहीं होती है।

तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा।
तपो महत्समुच्छिन्नं तस्मात् हिंसा न यज्ञिया॥

इसी प्रकार मोक्षपर्व के २६५ वें अध्याय के ५ वें श्लोक में "संशयात्माभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता" इत्यादि रूप से हिंसा की निंदा करके आगे यह दिखाया है कि क्षीर, पुष्पादि से यज्ञ सम्पन्न हो सकता है।

"पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं मतम्"

गीता के अठारहवें अध्याय में इस प्रकार के कर्मों को राजसी और तामसी कहा है।

यहाँ पर मैंने पशुबलि की हिंसा या पापादि के बारे में जो कुछ वर्णन किया है यह सब अपनी अल्पमति के अनुसार शास्त्र के आधार पर ही किया है। इस प्रकार की विवेचना बहुत से प्राचीन पंडितों ने बड़ी युक्ति से की है। इन सब बातों पर नागेश भट्ट ने लघु मंजूषा के निष्कर्ष निरूपण में बड़े विस्तार से प्रकाश डाला है।

यहाँ पर नागेश भट्ट ने यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि कोई भी पशुबलि हिंसा अवश्य है और उसमें पाप अवश्य है। नागेशभट्ट कहते हैं कि यह

जो प्रवाद है कि "यज्ञे वधोऽवधः" ऐसे वाक्यों में अनुदरा कन्या शब्द की तरह अल्पार्थक नहीं समझना चाहिए एवं "न हिंस्यात्" इस श्रुति में तथा "अग्निष्टोमीयम्" इत्यादि श्रुति में विषयभेद होने से बाध्य-बाधक भाव भी नहीं हो सकता है। एवं यहाँ पर 'आलम्भन पद' का अर्थ हनन नहीं है किन्तु स्पर्श अर्थ है—"किंञ्चालम्भनमत्र स्पर्शः।" नागेश भट्ट ने यह भी कहा है कि यज्ञीय हिंसा में पाप होने के कारण ही पुराणादि ग्रन्थों में यह वर्णन मिलता है कि सौ अश्वमेध के फलस्वरूप इन्द्र-पद का उपभोग करते समय इन्द्र को रावण महिषासुरादि से निरन्तर दुःख हुआ करता था—

अतएव चेन्द्रादेः शताश्वमेधफलस्वर्ग भोगसमयेऽनेकशो रावणमहिषासुरादिभ्यो दुःखधारा श्रुतिपुराणादिषूपवर्णिता।

यज्ञान्तर्गतहिंसादिजन्यपापफलस्य यज्ञफलभोगान्तरुपपत्तिसिद्धत्वात्।

इस प्रकार नागेश भट्ट ने अत्यन्त दृढ़ता के साथ यह सिद्ध किया है कि यज्ञादि पशुबलि में पाप और हिंसा होती है।

इन सब शास्त्रीय विवेचनाओं के अनुसार यही सिद्ध होता है कि पशुबलि हिंसा और पापयुक्त है और पशुबलि के बिना भी उत्तम प्रकार से देवी-पूजन हो सकता है। अतः सभी सनातनधर्मियों का कर्तव्य है कि पशुबलि का त्याग करें। यह हिंसामय तामसी कर्म है।

और दुर्गासप्तशती के पूजा-प्रकरण के इस अन्तिम श्लोक का स्मरणकर सात्त्विकी विधि से पूजा करे।

स्तुता सम्पूजिता पुष्पैर्धूपगन्धादिभिस्तथा।
ददाति वित्तं पुत्रांश्च मतिं धर्मे गतिं शुभाम्॥

अर्थात् गन्ध पुष्प, फल निरामिष नैवेद्य से पूजित होकर देवी पुत्र, धन, धर्म में मति और शुभगति देती हैं। जो लोग सप्तशती के नीचे लिखे श्लोकों का पाठ करते हैं उनका यह धर्म है कि जगदम्बा के सब निर्दोष असहाय प्राणियों पर दया करें और उनको वध की वेदना से बचावें। जगदम्बा की पूजा का यही सबसे उत्तम मार्ग है। इसी में जगदम्बा प्रसन्न होगी:—

या देवी सर्वभूतेषु दयारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥
शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोस्तु ते॥
सर्वमंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोस्तु ते॥

इत्यादि मन्त्रों के द्वारा स्पष्टरूप से ऋत्विजों के लिये प्रायश्चित्त का विधान देखा जाता है एवं बहुत से मन्त्रों के अन्दर प्रायश्चित्त के रूप में पशुबलि सम्बन्धी यह प्रार्थना देखी जाती है कि यज्ञ में मारे जाते हुए पशु ने जो आर्तनाद किया है और उसने व्यथित होकर अपने पाँवों से जो वक्षस्थल पीटा है, हे अग्ने! पशु को पीड़ा पहुंचाने वाले मेरे उस पाप से मुझे छुड़ाओ—

"मत्पशुर्मायुमकृतोरो वा पद्भिराहते,
अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः।"

प्रायश्चित्त के विषय में यह एक निदर्शन मात्र है। मुझे विश्वास है कि अन्वेषण करने पर इस प्रकार के और भी वाक्य उपलब्ध हो सकते हैं। शंकराचार्य ने वेदान्त सूत्र के अध्याय तीन के चौबीसवें सूत्र में यद्यपि वैदिकी हिंसा को अहिंसा कहा है तथापि उनका कथन "व्यवहारे भाट्ट नायः" वाले सिद्धान्त के अनुसार है। यही बात अन्य आचार्यों के व्याख्यान में समझनी चाहिए। पर उससे यह सिद्ध नहीं होता है कि व्यास जी का वही सिद्धान्त था।

यदि यही बात होती तो महाभारत में मोक्षपर्व के २७२ वें अध्याय के १८ वें श्लोक में यह वर्णन कभी भी न होता कि चर्वादि यज्ञ करने वाले ब्राह्मण ने जब स्वशापविमोचनार्थी किसी मृग को उसकी प्रार्थना करने पर यज्ञीय अग्नि में डाला तो उस समय उस ब्राह्मण का बहुत तप नष्ट हो गया, अतः यज्ञ की हिंसा भी धर्म के लिये नहीं होती है।

तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा।
तपो महत्समुच्छिन्नं तस्मात् हिंसा न यज्ञिया॥

इसी प्रकार मोक्षपर्व के २६५ वें अध्याय के ५ वें श्लोक में "संशयात्माभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता" इत्यादि रूप से हिंसा की निंदा करके आगे यह दिखाया है कि क्षीर, पुष्पादि से यज्ञ सम्पन्न हो सकता है।

"पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं मतम्"

गीता के अठारहवें अध्याय में इस प्रकार के कर्मों को राजसी और तामसी कहा है।

यहाँ पर मैंने पशुबलि की हिंसा या पापादि के बारे में जो कुछ वर्णन किया है यह सब अपनी अल्पमति के अनुसार शास्त्र के आधार पर ही किया है। इस प्रकार की विवेचना बहुत से प्राचीन पंडितों ने बड़ी युक्ति से की है। इन सब बातों पर नागेश भट्ट ने लघु मंजूषा के लिङर्थ निरूपण में बड़े विस्तार से प्रकाश डाला है।

यहाँ पर नागेश भट्ट ने यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि कोई भी पशुबलि हो वह हिंसा अवश्य है और उसमें पाप अवश्य है। नागेशभट्ट कहते हैं कि यह

जो प्रवाद है कि "यज्ञे वधोऽवधः" ऐसे वाक्यों में अनुदरा कन्या शब्द की तरह अल्पार्थक नहीं समझना चाहिए एवं "न हिंस्यात्" इस श्रुति में तथा "अग्निष्टोमीयम्" इत्यादि श्रुति में विषयभेद होने से बाध्य-बाधक भाव भी नहीं हो सकता है। एवं यहाँ पर 'आलम्भन पद' का अर्थ हनन नहीं है किन्तु स्पर्श अर्थ है—"किञ्चालम्भनमत्र स्पर्शः।" नागेश भट्ट ने यह भी कहा है कि यज्ञीय हिंसा में पाप होने के कारण ही पुराणादि ग्रन्थों में यह वर्णन मिलता है कि सौ अश्वमेध के फलस्वरूप इन्द्र-पद का उपभोग करते समय इन्द्र को रावण महिषासुरादि से निरन्तर दुःख हुआ करता था—

अतएव चेन्द्रादेः शताश्वमेधफलस्वर्ग भोगसमयेऽनेकशो रावणमहिषासुरादिभ्यो दुःखधारा श्रुतिपुराणादिषूपवर्णिता।

यज्ञान्तर्गतहिंसादिजन्यपापफलस्य यज्ञफलभोगान्तरुपपत्तिसिद्धत्वात्।

इस प्रकार नागेश भट्ट ने अत्यन्त दृढ़ता के साथ यह सिद्ध किया है कि यज्ञादि पशुवलि में पाप और हिंसा होती है।

इन सब शास्त्रीय विवेचनाओं के अनुसार यही सिद्ध होता है कि पशुवलि हिंसा और पापयुक्त है और पशुबलि के बिना भी उत्तम प्रकार से देवी-पूजन हो सकता है। अतः सभी सनातनधार्मियों का कर्तव्य है कि पशुवलि का त्याग करें। यह हिंसामय तामसी कर्म है।

और दुर्गासप्तशती के पूजा-प्रकरण के इस अन्तिम श्लोक का स्मरणकर सात्त्विकी विधि से पूजा करे।

स्तुता सम्पूजिता पुष्पैर्धूपगन्धादिभिस्तथा।
ददाति वित्तं पुत्रांश्च मतिं धर्मे गतिं शुभाम्॥

अर्थात् गन्ध पुष्प, फल निरामिष नैवेध से पूजित होकर देवी पुत्र, धन, धर्म में मति और शुभगति देती हैं। जो लोग सप्तशती के नीचे लिखे श्लोकों का पाठ करते हैं उनका यह धर्म है कि जगदम्बा के सब निर्दोष असहाय प्राणियों पर दया करें और उनको वध की वेदना से बचावें। जगदम्बा की पूजा का यही सबसे उत्तम मार्ग है। इसी में जगदम्बा प्रसन्न होगी :—

या देवी सर्वभूतेषु दयारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥
शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोस्तु ते॥
सर्वमंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोस्तु ते॥

वचनामृत

पृथ्वी-मंडल पर जो वस्तु मुझको सबसे अधिक प्यारी है, वह धर्म है और वह धर्म सनातनधर्म है।

* * * *

यह शरीर परमात्मा का मन्दिर है। ईश्वर को सदैव अपने भीतर अनुभव करो और इस मन्दिर को कभी अपवित्र न होने दो।

* * * *

इस पवित्र मन्दिर का रक्षक ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य ही हमें वह आत्मबल देता है जिसके द्वारा हम संसार को जीत सकते हैं।

* * * *

आह्निक (डायरी) लिखने से मनुष्य को उन्नति में बहुत सहायता मिलती है। डायरी में अपना हृदय खोलकर रख दो।

* * * *

सभी कार्यों में शीलवान् बनो। शील ही से मनुष्य, मनुष्य बनता है। शीलं परं भूषणम्—शील ही पुरुष का सबसे उत्तम भूषण है।

* * * *

पढ़ते समय सारी दुनिया को एक ओर रख दो और पुस्तकों में, लेखक की विचारधारा में डूब जाओ। यही तुम्हारी समाधि है, यही तुम्हारी उपासना है और यही तुम्हारी पूजा है।

* * * *

हिन्दू विश्वविद्यालय की संस्थापना विद्यार्थी के भीतर शारीरिक बल के साथ धर्म की ज्योति और ज्ञान का बल भरने के लिए हुई है, इसे सदैव स्मरण रखो।

* * * *

हिन्दी भाषा को यदि मैं आप के सामने यह कह दूं कि यही सब बहिनों में मां की अच्छी पहली पुत्री है, अपने माता और पिता की होनहार मूर्ति है, तो अत्युक्ति न होगी।

* * * *

जब हिन्दी का सब बहनों से सम्बन्ध है, और ऐसी जब यह बड़ी बहन है, तब इसको मानकर यदि प्रान्त-प्रान्त की भाषाओं का सेवन किया जाय तो बहुत ही उपकार होगा।

* * * *

जहाँ तक हो हिन्दी में हिन्दी ही रक्खी जाय।

* * * *

बिजली की रोशनी से रात्रि का कुछ अन्धकार दूर हो सकता है, किन्तु सूर्य का काम बिजली नहीं कर सकती। इसी भाँति हम विदेशी भाषा के द्वारा सूर्य का प्रकाश नहीं कर सकते। साहित्य और देश की उन्नति अपने देश की भाषा द्वारा ही हो सकती है।

* * * *

आपका भारत धर्मप्रधान देश है। इसके चारों कोनों पर चार धाम हैं। अब आप ही सोचिये कि धार्मिक सम्बन्ध से सारे भारतवर्ष में कौन सी भाषा से काम चल सकता है। मेरी समझ मे इसके लिए हिन्दी का ज्ञान बहुत आवश्यक है।

* * * *

हमारे देश के भाइयों के मरने-जीने का न्याय हो; पर हो वह दूसरी भाषा में, यह कैसे आश्चर्य की बात है ? वास्तव में न्याय उस भाषा मे होना चाहिए जिसका एक-एक शब्द उसकी समझ में आता हो, जिसका कि न्याय हो रहा है।

* * * *

देवनागरी अक्षर संसार के सब अक्षरों से अधिक सरल और स्पष्ट हैं।

* * * *

"न च मातृ समो गुरुः" पिता से दस गुना दर्जा माता का है। इतना उन्हें पढ़ा दो कि बच्चों को वह अपनी मातृभाषा में गुणा-भाग सिखा सकें। सौ श्लोक अथवा दोहों के रत्नों की माला पहनाकर स्कूल में भेजें कि गुरु कह दें कि यह किस बड़भागिनी की कोख का बच्चा है ?

* * * *

मैं तो रेल में चलता हूँ और सन्ध्या का समय आने पर सन्ध्या कर लेता हूँ।

* * * *

आप उन्हीं वस्तुओं को खरीदिये जिनके खरीदने से अपने गरीब भाइयों को कुछ पैसा मिले।

* * * *

आज भारत-सन्तान "वार आफ रोजेज" पढ़ते हैं, अपने गौरव तथा इतिहास की चिन्ता नहीं करते।

* * * *

सृष्टि में जितनी जातियों का इतिहास मिला है उनमें यह हिन्दू जाति सबसे प्राचीन है। यदि प्राचीनता से ही प्रेम है तो यह प्राचीन अवश्य है। किन्तु कोई केवल प्राचीनता के लिए आदर नहीं पा सकता। 'यह प्रेम के योग्य है' इस बात पर इसका आदर हो सकता है।

* * * *

पीपल के वृक्ष की तरह हिन्दू सभ्यता की जड़ बहुत गहरी और बहुत दूर तक फैली है। ऋषियों के तपोबल तथा वायु और जल के आहार पर की गई उनकी तपस्या ने इसकी रक्षा की और इसलिए यह कल्प-लता आज भी हरी है।

* * * *

कुछ लोगों की धारणा है कि बुद्ध भगवान् ने एक नये धर्म का प्रचार किया था, किन्तु यह भ्रममात्र है। बुद्ध तो हमारे दस अवतारों में है। बड़ा मानकर ही शंकराचार्य ने बुद्ध को "यतीनां चक्रवर्ती" कहा। बौद्ध-धर्म हमारे प्राचीन वैदिक-धर्म का एक अंग है।

* * * *

मनुष्य का सबसे बड़ा धन धर्म है।

* * * *

मनुष्य अपने कपड़ों को रोज धोता है तथापि कई दिन पहन चुकने के बाद जब कपड़ा अधिक मैला हो जाता है तो उसको चौथे, आठवें या पन्द्रहवें दिन साबुन या रीठे से धोता है या धुलवाता है और उस कपड़े की मैल जो नित्य धोने पर भी बच जाती है, वह निकल जाती है। इसी प्रकार ऋषियों ने मनुष्य मात्र के हित के लिये प्रातःकाल और सायंकाल की सन्ध्या और उपासना-विधि के अतिरिक्त पन्द्रहवें दिन एकादशी व्रत का विधान किया है।

* * * *

जो पाप पुराने होकर सूख गये हैं या जो अभी ओदे अर्थात् तुरन्त के किये हैं उन सब पापों के धोने के लिए एकादशी का व्रत सबसे ऊंचा साधन है।

* * * *

मनुष्य को परमात्मा ने सबसे बड़ी निधि बुद्धि दी है। जो वस्तु बुद्धि को मैली करती है या हर लेती है उसको मादक अर्थात् नशीला द्रव्य कहते हैं। मनुष्य को उचित है कि किसी प्रकार का नशीला पदार्थ कभी ग्रहण न करे।

* * * *

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों के साधन का मूल कारण आरोग्य है।

* * * *

दूध पियो कसरत करो, नित्य जपो हरिनाम।
हिम्मत से कारज करो, पूरेंगे सब काम॥

*　　*　　*　　*

मान, प्रतिष्ठा और गौरव की रक्षा के लिये प्राण अर्पण करना अच्छा मालूम पड़ता है।

*　　*　　*　　*

रोग की अवस्था में सबका विचार रोग के दूर करने का होना चाहिए, परन्तु औषधि भोजन नहीं है।

*　　*　　*　　*

मैं जाति के भाव से ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक को भाई समझता हूं। जाति के पक्ष से तथा जाति की ममता से हमें सब प्यारे हैं।

*　　*　　*　　*

हम धर्म को चरित्र-निर्माण का सीधा मार्ग और सांसारिक सुख का सच्चा द्वार समझते हैं। हम देश-भक्ति को सर्वोत्तम शक्ति मानते हैं जो मनुष्य को उच्चकोटि की निःस्वार्थ सेवा करने की ओर प्रवृत्त करती है।

*　　*　　*　　*

शिक्षा सारे सुधारों की जड़ है।

*　　*　　*　　*

जनता की स्थिति में उन्नति ही सुराज्य की वास्तविक परीक्षा है।

—:॥:—